तरुण-भारत-ग्रन्थावली-संख्या १०

मराठों का उत्कर्ष।

(न्यायमूर्ति रानाडे के "राइज़ आफ मराठा पावर" नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ का अनुवाद।)

अनुवादक

भास्कर रामचन्द्र भालेराव।

प्रकाशक
तरुण-भारत-ग्रन्थावली-कार्यालय,
दारागंज, प्रयाग।

सं० १९८१ वि०

मूल्य १॥)

मुद्रक:

बद्रीप्रसाद पाण्डेय नारायण प्रेस, प्रयाग।

निवेदन ।

—:o:—

महात्मा रानाडे के इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ का अनुवाद तरुण-भारत-ग्रन्थावली में प्रकाशित करने की पूर्व से ही हमारी बड़ी इच्छा थी। तदनुसार कई वर्ष पूर्व हमने अपने हितैषी मित्र श्रीयुत भास्कर रामचन्द्र भालेरावजी से इस ग्रन्थ के अनुवाद कर देने की प्रार्थना की थी; परन्तु कारण-वश भालेरावजी से यह ग्रन्थ बहुत काल के बाद हमको प्राप्त हुआ; परन्तु सो भी पूर्ण नहीं था। इस बीच में हमारे मित्र पं० देवीप्रसाद जी द्विवेदी ने भी इसका अनुवाद किया। इसके सिवाय एक अनुवाद हमारे मित्र पं० रामदुलारे अवस्थी ने स्वयं प्रकाशित किया। इस अनुवाद के प्रकाशित हो जाने पर फिर दूसरे अनुवाद के प्रकाशित होने की आवश्यकता न रही थी; परन्तु इस विचार से कि हमारे उक्त दो मित्रों का परिश्रम व्यर्थ जायगा, हमने इस अनुवाद को भी प्रकाशित किया है।

इस अनुवाद में अधिकांश परिश्रम भालेरावजी का ही है; परन्तु जो भाग पं० देवीप्रसादजी द्विवेदी का है, उसके लिये हम द्विवेदी जी के भी अत्यन्त कृतज्ञ हैं। अवस्थीजी का जो अनुवाद प्रकाशित हुआ है, उसमें मूल पुस्तक का परिशिष्ट भाग नहीं दिया है। इस ग्रन्थ में मूल पुस्तक के परिशिष्ट के अतिरिक्त रानाडे महाशय के एक दूसरे महत्वपूर्ण निबन्ध का भी अनुवाद, परिशिष्ट के रूप में, दिया गया है। उक्त दोनों निबन्ध ऐतिहासिक दृष्टि से कितने महत्व के हैं, सो पाठक-गण स्वयं ही जान लेंगे।

मराठों के इतिहास पर हिन्दी में यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी होगी। इसमें रानाडे महाशय ने मराठों की सत्ता का सच्चा सच्चा स्वरूप प्रकट किया है। इस लिए, अँगरेज़ इतिहासिकों के भ्रमात्मक विचारों से जिन हिन्दी पाठकों के विचार भी, मराठों के विषय में, भ्रमात्मक बन गये होंगे, उनके भ्रम का अवश्य ही निरसन हो जायगा। यद्यपि इस ग्रन्थ में मराठों का पूरा पूरा इतिहास तो नहीं आया है—क्योंकि रानाडे महाशय आगे इस काम को पूरा करनेवाले थे; परन्तु बीच ही में उनका स्वर्गवास हो गया—फिर भी मराठों के उत्थान का पूर्ण वृत्तान्त इसमें आ गया है; और प्रसंगवशात् कहीं कहीं उनके पतन का भी आभास दिया गया है।

परिशिष्टों में से पहला परिशिष्ट न्यायमूर्ति तैलंग का लिखा हुआ है, जिसे स्वयं रानाडे जी ने अपने ग्रन्थ में रखा था; और दूसरा परिशिष्ट स्वयं रानाडे महाशय का ही लिखा हुआ है, यह परिशिष्ट कदाचित् रानाडेजी अपने इतिहास के अगले भाग में देते। परन्तु हमने इसको मराठी ग्रन्थ पर से लिया है। इन दोनों परिशिष्टों में पेशवाओं के समय की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक बातों पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला गया है। इनकी सामग्री बहुत ही मनोरंजक, उपदेशप्रद और ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी है। आशा है कि हमारे इतिहासप्रेमी पाठक इस ग्रन्थ से पूरा पूरा लाभ उठावेंगे।

प्रयाग,
महाशिवरात्रि,
सं० १९७८ वि०।

लक्ष्मीधर वाजपेयी।
(सम्पादक)

अनुक्रमणिका

मराठों का उत्कर्ष ।

प्रथम परिच्छेद ।

मराठों के इतिहास का महत्त्व ।

हमें जिस इतिहास का वर्णन करना है, उसके विषय में प्रायः ये आक्षेप सुनाई देते हैं कि, मराठों के इतिहास का कोई महत्व नहीं और उसका वर्णन करके व्यर्थ ही उसका महत्त्व बढ़ाना है; महाराष्ट्र-मंडल में कोई विशेषता नहीं थी और उसे श्रेष्ठ मानना व्यर्थ है; भारतवर्ष में अनेक वंशों और राज्यों का उदय और अस्त हुआ, तथा उन घरानों के वंशवृत्त भी मराठे घरानों के वंशवृत्तों की अपेक्षा अधिक बड़े हैं—और उनके इतिहास और उनमें लिखित महापुरुषों के चरित्र भी बड़े विचित्र और चित्ताकर्षक हैं। उनका वर्णन न करके, महाराष्ट्र-मंडल के इतिहास को ही अग्रस्थान प्रदान करना हास्यास्पद कार्य होगा। इन आक्षेपों का निराकरण करने के लिए ग्रंथ के आरंभ ही में, कुछ आवश्यक बातें लिखना हमारा परम कर्तव्य है। हम जिस इतिहास का वर्णन करेंगे, उसके नैतिक तत्वों के महत्व का यदि आरंभ ही में कुछ वर्णन किया जायगा, तो हमें आशा है कि उससे, इस विषय के समझने में भी, बहुत कुछ सहायता मिलेगी। प्रायः ऐसे भी कुछ लोग हैं, जो मराठों

प्राण त्यागे हैं, उनकी मैसूर के हैदर-टीपू, हैदराबाद के निज़ाम, अयोध्या के शुजाउद्दौला, बंगाल के अलीवर्दीखां, पंजाब के रणजीतसिंह और भरतपुर के सूरजमल जाट से तुलना करने वालों को इस इतिहास का रहस्य कदापि ज्ञात नहीं हो सकता और सभी मराठे वीरों को एक ही श्रेणी के माननेवाले और उनके पारस्परिक भेद को न जाननेवाले पाठक ऐतिहासिक दृष्टि का महत्व कदापि नहीं जान सकते, जिससे उनके सभी विचार निरे भ्रमपूर्ण ही होंगे। यदि कोई भारत में अंग्रेज़ों के राज्य की जड़ जमने के लिये केवल लार्ड क्लाइव के साहस-पूर्ण स्वभाव तथा वारेन हेस्टिंग्ज़ की राजनैतिक कार्यवाहियों को ही मुख्य कारण मान ले तो उसे ब्रिटिश राज्य का महत्व नहीं मालूम हो सकता। और, जिस प्रकार उस देश का कोई विद्यार्थी क्लाइव तथा वारेन हेस्टिंग्स के साहसपूर्ण कृत्यों तथा राजनैतिक कार्रवाइयों को ही महत्वपूर्ण मानकर, उन्हें दी हुई ब्रिटिश राज्य की सहायता की ओर ध्यान न दे, तो उसे उनके इतिहास का रहस्य मालूम नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकार मराठा-मंडल को स्थापित करने वाले पुरुषों के चरित्रों को अच्छी तरह मनन न करने वालों को भी मराठों के इतिहास का रहस्य मालूम नहीं हो सकता। यदि अंग्रेज़ों का विस्तृत और बलशाली राज्य, उनकी अपार संपत्ति, दृढ़ निश्चय, दीर्घ प्रयत्न, आदि न होते तो क्या उनका राज्य भारत में स्थापित हो सकता था? इसी प्रकार केवल साहसपूर्ण कार्य करने वाले, राजकार्य-कुशल और वीरों के द्वारा भी महाराष्ट्र-मंडल जैसे राज्य की स्थापना का कार्य बिलकुल असंभव सा था। केवल लुटेरे लोगों के द्वारा, अनेक पीढ़ियों तक टिकने

वाले साम्राज्य की स्थापना कदापि नहीं हो सकती; और न वे एक बड़े राष्ट्र के राजकीय मानचित्र में यथेच्छ परिवर्तन करने, तथा उसका स्थायी प्रभाव स्थापित करने के समान कठिन कार्य को ही कर सकते हैं। ऐसे ऐसे कार्यों के लिये तो किसी और ही बात की आवश्यकता हुआ करती है। औरंगज़ेब की मृत्यु के अनंतर स्वतंत्र बन बैठने वाले विभिन्न प्रांतों के बड़े बड़े सूबेदारों को तो किसी प्रकार की असुविधा से सामना नहीं करना पड़ा था, पर मराठों का राज्य स्थापित करने वालों और उनके अनंतर की दो पीढ़ियों के पुरुषों को तो मुग़ल बादशाहत के उत्कर्षमय काल की प्रबल शक्ति से सामना करके उसके प्रबल आघात सहने पड़े थे। औरंगज़ेब के अनंतर उत्कर्ष पाये हुए बड़े बड़े सूबेदारों को, अपने अपने राज्य स्थापित करने के लिये, मुग़ल-सेना से सामना नहीं करना पड़ा था। वरन् मुग़ल बादशाहत के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर ही वे सैनिक पेशा करने वाले साहसी सूबेदार, स्वतंत्र हो सके थे। उन्हें किसी भी राष्ट्रीय बल से सहायता नहीं मिली थी, जिससे उनके राज्य, स्थापित करने वाले पुरुषों के साथ ही, लुप्त हो गये। पर यदि महाराष्ट्र-मंडल के विषय में विचार किया जाय, तो हम कह सकते हैं कि उनकी परिस्थिति तो कुछ और ही थी। उनकी दस पीढ़ियों तक बराबर बड़े बड़े नेता उत्पन्न होते रहे; और उनमें से किसी के रणभूमि पर गिरने पर उसके स्थान पर दूसरा खड़ा हो जाता था। इस प्रकार वे शत्रुओं के पराक्रम और कर्मवीरता की परवाह न करके महाराष्ट्र-मंडल को स्थिर रख सके; और ज्यों ज्यों उन पर अधिक संकट आते गये, त्यों त्यों दिनों दिन उनका उत्कर्ष

होता गया। पश्चिमीय पुराणों में फेनिक्स नामक एक पादरी की कथा का वर्णन है। लोगों को उसके जल जाने का विश्वास हो जाने पर भी पुनः पहले से भी अधिक तेजस्वी स्वरूप धारण करने की कथा लिखी है। मराठा-मंडल की भी यही दशा थी। अथवा, उनकी दशा को देख कर अहिरावण-महिरावण की कथा की सत्यता प्रतीत होती है। एक बार यदि मराठे वीर पराभूत भी हो जाते थे, तो दूसरी बार वे ही पुनः सहसा हाथियों की नाईं बलवान् देख पड़ते थे। इस प्रकार उनकी ध्येय-साधन की लगन के कारण महाराष्ट्र-मंडल में विशेष जीवन-तत्वों के चिन्ह स्पष्टतया दिखाई दिये। उनकी उक्त स्थिति और उन भित्ति-रूपी तत्वों को जाने बिना उनके उत्कर्ष का कारण मालूम होना बिलकुल असंभव है। केवल साहस और लुटेरेपन के सिद्धान्त ही उस परिस्थिति की पुष्टि नहीं कर सकते अथवा आकस्मिक आग जल उठने की उपमा से भी महाराष्ट्र-मंडल के पराक्रम को जतलाना ठीक किसी टूटे खंभे के बल पर घर बनाने की तरह होगा। इसलिये हम पहले परिच्छेद में यही बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि महाराष्ट्र-मंडल का विशेष स्वरूप किस प्रकार का था, और उसमें, इतिहास का अध्ययन करने वालों के लिये, विशेष नैतिक महत्व की बातें कितनी हैं। हमें आशा है कि इससे उन्हें महाराष्ट्र-मंडल की विशेषता और उसका स्थायी महत्व भी मालूम हो जावेगा।

१–पहले तो इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारत में अंग्रेज़ों का राज्य स्थापित होने के पूर्व इस देश का राज्यशासन मुसलमानों के हाथ में नहीं था। यद्यपि बारम्बार

यह कहा जाता है कि अंग्रेज़ों ने मुसलमानों से ही भारत का राज्य लिया है, तथापि सच बात तो यह है, कि उन्हें भारत का साम्राज्य, मुसलमानों से बड़ी वीरता से लड़ कर स्वतंत्र हो जाने वाले, इसी देश के निवासी राज्यशासकों के हाथ से प्राप्त हुआ है। अंग्रेज़ों के इस देश में आने के पहिले ही कई मुसलमानों और मराठों के राज्य स्थापित हो चुके थे; और अंत में मुसलमानों का राज्य नष्ट हो जाने पर चारों ओर मराठों का ही प्रभाव स्थापित हो गया था। अनंतर मराठों का राज्य अंग्रेज़ों के अधिकार में चला गया। ग्रांटडफ साहब मराठों के इतिहास के उक्त स्वरूप को जान चुके थे; और उन्होंने मराठों के उस स्वत्व को स्पष्ट रूप से बतला दिया है। मराठों के विषय में उन्होंने लिखा है कि, "अंग्रेज़ों के हिन्दुस्थान को जीत लेने के पहले ही मराठों ने उसे ले लिया था। शिवाजी भोंसले नामक प्रसिद्ध वीर के, उन लोगों के नेता बनने के पहले ही से धीरे धीरे उनका प्रभाव बढ़ रहा था; और उनका सामर्थ्य भी बढ़ता जाता था।" केवल बंगाल और कारोमंडल के तट पर के जिन राज्यों को अंग्रेज़ों ने नष्ट कर दिया था, वे ही महाराष्ट्र-मंडल के अंतर्गत नहीं थे। वहां पर मुसलमान सरदारों का भी अधिकार नहीं था, वरन् अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करनेवाले हिन्दू शासक ही वहां राज्य करते थे। उन स्वदेशीय राज्यों में महाराष्ट्र-मंडल ही प्रथम श्रेणी का था। मराठों के राज्य का उत्थान तो पश्चिमीय महाराष्ट्र में हुआ था; पर शीघ्र ही उनका कार्यक्षेत्र मध्य दक्षिणापथ कर्नाटक, मैसोर तथा ठेठ तंजावर तक का दक्षिणीय भारत बन गया था। उत्तर में काठियावाड़, गुजरात, बरार और

कटक की सीमा तक का मध्यप्रदेश, तथा मध्यभारत का मालवा प्रान्त और बुंदेलखंड, राजपूताना, दिल्ली, आगरा, दुआब और रुहेलखंड, इत्यादि प्रान्त मराठों के ही अधिकार में थे। बंगाल और अयोध्या प्रान्तों पर भी मराठों ने चढ़ाइयां की थीं; और उन प्रान्तों में मराठों का भगवा झंडा फहराने को ही था, पर ब्रिटिश सेना की रुकावट के कारण उन प्रांतों पर उनका प्रभाव स्थापित नहीं हो सका। दिल्ली के तख्त पर इच्छित व्यक्ति को अभिषिक्त करने या उतारने का बल, लगातार पचास वर्षों तक, केवल मराठों ही में था। उपर्युक्त सारा प्रदेश महाराष्ट्र-मंडल के ही अधीन था, और उनका कोई न कोई सरदार, प्रतिनिधि के रूप में, वहां का राजकाज देखता था। उस समय कई प्राचीन और प्रसिद्ध राज्य भी थे, पर वे सभी, सुलह करके, महाराष्ट्र-मंडल के ही अधीन हो गये थे। मुसलमानों के राज्य हैदराबाद और मैसूर भी वास्तव में महाराष्ट्र-मंडल के आज्ञानुसार ही राजकार्य करते थे। अतः जिस मंडल का इतना भारी प्रभाव था, तथा जिसने विस्तीर्ण प्रदेश को जीत कर एक शताब्दी तक अपनी छत्रछाया में रखा था, उसी महाराष्ट्र-मंडल की एकता का रहस्य भारत के ब्रिटिश राज्य-शासकों के लिये बड़ा विचारणीय विषय है। महाराष्ट्र-मंडल के मुख्य नेता तो वास्तव में पेशवा ही थे। वे केवल अपने ही देश के सैनिक नेता नहीं थे, वरन् मुग़लों के राज्य-सिंहासन पर कैदियों की नाईं राज्य करनेवाले बादशाहों के भी सर्वस्व थे। इसलिये यदि यह कहा जावे तो अत्युक्ति नहीं होगी कि बंगाल और मद्रास के तट के अतिरिक्त समग्र भारत का शासन महाराष्ट्र-मंडल के अधिकार में रहने

वाले हिन्दू शासकों के ही हाथ में था। उस समय मुसल-मानों का प्रभाव नष्ट हो चुका था और हिन्दुओं का प्रभाव स्थापित होकर वे स्वतन्त्र शासक बन बैठे थे; अतः ब्रिटिश-शक्ति को उन्हीं के साथ लड़ कर अपना प्रभाव स्थापित करना पड़ा था।

२–महाराष्ट्र-मंडल की एकता का रहस्य जानने के लिए इस बात को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि, केवल एक ही मनुष्य अथवा उसके बुद्धिमान उत्तराधिकारियों के ही द्वारा यह कार्य नहीं हो सकता था, वरन् सब राष्ट्र-निवासियों के हृदयों में राष्ट्रीयता के बीज बोये जाते हैं, तथा स्वत्व की दृढ़ और गहरी भित्ति बनाई जाती है, तभी वैसे कार्य किये जा सकते हैं। बंगाल, कर्नाटक, अवध और हैदराबाद के सूबेदारों के स्वत्वों की भित्तियां भी उतनी दृढ़ नहीं थीं। महाराष्ट्र-साम्राज्य के उत्थान के लिये तो राष्ट्रीकरण या राष्ट्र-संगठन ही मुख्य कारण हुआ है। यह कार्य किसी साहसी पुरुष के विजयी कार्यों से नहीं हो सकता था। अर्थात् जब सारे देश-निवासियों के हृदयों में राष्ट्रीय भावों का प्रादुर्भाव हुआ तथा वे अपनी जाति, धर्म, श्रद्धा और साहित्य-प्रेम के दृढ़ बंधनों से सुबद्ध हो गये, तभी महाराष्ट्र-साम्राज्य के उत्थान के बीज बोये गये। इस प्रकार जब उनका उच्च प्रेम-बंधन दृढ़ हो गया; और अपनी एकता को और भी अधिक दृढ़ बनाने की उन्हें इच्छा हुई तब अपने राष्ट्र के लिये स्वतंत्र राजनैतिक जीवन के चलाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इससे पहले तो उन लोगों में अपने स्वत्वों के विषय में जागृति हो गई; और फिर एक जाति, एक भाषा, अपने ग्रंथरत्नों के प्रति आदर

और उनका अध्ययन करने की लालसारूपी एकता-प्रवर्तक जिज्ञासा उनमें उत्पन्न हो उठी। इस प्रकार उनके हृदयों में उक्त भाव उत्पन्न हो जाने पर उन्हें अपनी एकता को अधिक परिपूर्ण करने के लिये अपना स्वतंत्र साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा और आवश्यकता मालूम होने लगी; तथा उस इच्छा की पूर्ति के लिए उनमें स्वाभिमान और आवेश भी उत्पन्न हो गया। भारत में मुसलमानों के आक्रमण के नाशकारक समय के अनन्तर स्वराज्य स्थापित करने का सब से पहला कार्य महाराष्ट्र ही में हुआ; और चूंकि वही सबसे पहला प्रयत्न था, इस कारण उस साम्राज्य-रूपी भवन की भित्ति अधिक दृढ़ नहीं हो सकी। बड़े बड़े यूरोपीय राष्ट्रों में तो भित्ति की सुदृढ़ता ही विशेष प्रकार का गुण समझा जाता है। पर उसका अभाव होने पर भी महाराष्ट्र-मंडल की एकता के सत्य स्वरूप के विषय में आशंकित होना योग्य नहीं है। जगत् में ऐसे भी कई राष्ट्र हो गये हैं, जिन का उत्थान भी अचानक हो गया; और शीघ्र पतन भी; पर उनकी अपेक्षा महाराष्ट्र-मंडल में बहुत कुछ विशेषताएँ थीं। अतः हमारे कथनानुसार उसके विशिष्ट स्वरूप के विषय में आशंकित होना निरी भ्रमपूर्ण ही बात होगी। महाराष्ट्र सत्ता तो एक राष्ट्रीय हलचल थी। वह सभी वर्णों तथा सभी जातियों, अर्थात् सारे राष्ट्र का किया हुआ एक देशोद्धारक कार्य था। उसके राज्य-प्रबन्ध की दृढ़ता उच्च श्रेणी के लोगों की अल्प-सामयिक उन्नति पर ही अवलंबित नहीं थी; वरन् उसका प्रभाव तो बिलकुल जंगली लोगों के विस्तीर्ण समाज पर भी, विशेष प्रकार से, स्थापित हो गया था। अहीर, गड़-

रिये, ब्राह्मण, अब्राह्मण तथा मुसलमानों को भी उसके प्रभाव का महत्व मालूम हो गया था; और वे सभी उसके अधीन हो गये थे। कई अंग्रेज़ लेखकों का कथन है कि भारतीयों में राष्ट्रीय भावनाओं का बिलकुल अभाव होता है, पर वे खुले दिल से मराठे, राजपूत तथा सिक्खों में उस अभाव को नहीं बतलाते। अर्थात् उन्होंने उक्त तीनों जातियों को राष्ट्रीय-बुद्धि-गुण-संपन्न मान लिया है। राजपूतों के कई कुलों का बड़ा महत्व है और सिक्खों की खालसा सेना भी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। वास्तव में देखा जावे तो उक्त खालसा सेना में पंजाब की बहुत ही कम मनुष्य-संख्या सम्मिलित की गई है। पर मराठों की दशा तो उक्त दोनों जातियों की अपेक्षा बिलकुल ही भिन्न थी। यद्यपि उनमें भी वर्ण या जाति की श्रेष्ठता के भाव थे, पर सर्वसाधारण जनों की एक सी ही राष्ट्रीय भावनाएँ होने के कारण उक्त विषय को अधिक महत्व नहीं दिया गया। मराठे लोग छः मास तक तो राष्ट्रीय सेना में सैनिक कार्य करते थे; और फिर अपने घर को वापिस लौट कर वंशपरंपरागत खेती का उद्यम करके शेष समय आनन्द से बिताते थे। मराठों को अपनी पुश्तैनी जायदाद के विषय में बड़ा अभिमान था; और यदि देखा जावे तो मराठों के स्वभाव की उस विशेषता को ही अधिक ध्यान में रखना उचित है। कई लोग बड़ी बड़ी सेनाओं के अध्यक्ष भी हुआ करते थे, पर तो भी उन्हें महाराष्ट्र की किसी 'पटैली' या 'देशमुखी' का जितना अभिमान था, उतना दूर देशों में, अपने बाहुबल पर प्राप्त की हुई, बड़ी बड़ी जागीरों के विषय में भी नहीं था। जैसे महादजी सेंधिया अपने को 'पटेल' कहलाने

से अधिक सम्मानित समझते थे, पर 'आलीजाह बहादुर' कहलाना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। वास्तव में इस प्रकार की स्वदेशाभिमान-युक्त बुद्धि ही राष्ट्र-रचना के विशिष्ट परिणाम को जतलाने के लिये अत्यंत उपयोगी होती है। अपने राष्ट्र के विषय में अभिमान उत्पन्न होने ही के कारण मराठों के राज्य का इतना विस्तार हुआ; और उनका प्रभाव स्थापित हो गया। अतः यदि कोई यह प्रश्न पूछे कि हमें मराठों के इतिहास का अध्ययन विशेष प्रकार से क्यों करना चाहिये, तो हमारे लिये इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उक्त सिद्धान्त ही अधिक उपयोगी होगा। वास्तव में देखा जावे तो मराठों का इतिहास ही एक सच्चे भारतीय राष्ट्र की रचना का इतिहास है। इस राष्ट्र ने, मुसलमानों के अत्याचारों से शोचनीय परिस्थिति प्राप्त हो जाने पर भी, अपना सिर ऊंचा उठाया। इसके बाद महाराष्ट्र-मंडल के नेताओं को अन्य सभी शक्तियों को एकत्रित करके अपने अधिकार में कर लेने तथा दिल्ली को भारतीय साम्राज्य की राजधानी बनाने की इच्छा हुई। हैदर, टीपू अथवा हैदराबाद, कर्नाटक, बंगाल और अयोध्या के मुसलमान शासकों के इतिहासों में भी उक्त प्रकार की बातें बिलकुल दिखाई नहीं देतीं। उनके इतिहास तो केवल व्यक्ति-विषयक चरित्र ही हैं, पर शिवाजी के नाम के साथ जिस सत्ता का दृढ़ संबंध है, उसके इतिहास को तो मराठों का इतिहास कहना ही विशेष शोभा देता है।

३-कई अंग्रेज़ इतिहास-लेखकों ने मराठों का इतिहास लिखा है, पर एक महत्वपूर्ण विषय की ओर उन्होंने बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया। इतिहास का अध्ययन करनेवालों को

उस महत्वपूर्ण विषय से बहुत कुछ नैतिक शिक्षा मिल सकती है, यही नहीं, बल्कि उसी एक कारण के लिये मराठों के इतिहास का अध्ययन करना आवश्यक है। सोलहवीं शताब्दी के अंत तथा सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में महाराष्ट्र में जो हलचल मची हुई थी, वह केवल राजनैतिक ही नहीं थी, वरन् राज्यक्रांति के पूर्व ही वहां पर धर्मक्रांति भी हो चुकी थी। और यदि वास्तव में देखा जावे तो वहां की जनता में केवल धार्मिक और सामाजिक उन्नति की चाह बढ़ जाने ही के कारण वहां पर राज्यक्रांति हो गई; अतः यदि धार्मिक जागृति न होती तो राज्यक्रांति भी कदापि नहीं हो सकती थी। हमें विश्वास है कि मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं पर धार्मिक अत्याचार होने ही से सारे महाराष्ट्र में हलचल मच गई जिससे शिवाजी और उनके सहायक भी उत्साहित हो गये। यद्यपि हमारा यह कथन सर्वथा असत्य नहीं है, तथापि हम एक इसी कारण से मराठों के उठने की बात को मानने के लिये तैयार नहीं है। अर्थात् केवल मुसलमानों के अत्याचारों ही के कारण मराठों का उत्थान नहीं हुआ था। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सोलहवीं शताब्दी के दक्षिण के मुसलमान शासक अत्यंत हठीले तथा अपने ही धर्म के अंध-भक्त थे; और औरंगज़ेब भी अपने धर्म का कट्टर पक्षपाती था; तथापि उनकी धार्मिक कट्टरता ही महाराष्ट्र साम्राज्य के विकास का कारण नहीं कही जा सकती। यदि वास्तव में देखा जावे तो औरंगज़ेब के पूर्व ही मराठों के उत्थान का आरंभ हो चुका था। मराठों और मुग़लों के युद्धों में भी मराठों की ओर से किसी बात की कमी नहीं देख पड़ी थी, तथा अन्त

में तो उन्हीं की विजय हुई थी। पर सच बात तो यह है कि जिस प्रकार यूरोप में, सोलहवीं शताब्दी में, धार्मिक संशोधन का कार्य हुआ था; ठीक उसी प्रकार भारत में, और विशेष कर दक्षिण में, पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दियों में, धार्मिक तथा सामाजिक पुनरुज्जीवन और संशोधन का कार्य हुआ था। पर वह धार्मिक जागृति भी केवल प्राचीन पौराणिक ब्राह्मण-धर्म के आधार पर ही नहीं हुई; वरन् जन्ममूलक वर्णभेद, आचार और सम्प्रदाय के बिलकुल विरुद्ध, नई शैली के अनुसार ही हुई थी। किसी के ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होने ही से वह श्रेष्ठ है वा किसी अन्य जाति का कोई मनुष्य चाहे कितना ही पवित्र आचरण वाला क्यों न हो, तौ भी वह अपवित्र और त्याज्य होता है, इस प्रकार के प्राचीन विचार नष्ट होकर, समाज को नैतिक शिक्षा देने के प्रीत्यर्थ ही, नूतन धार्मिक भावनाओं का उदय हुआ था। तदनुसार शुद्ध अंतःकरण और प्रेम के आगे संस्कार और यज्ञ-यागादि करके पुण्यप्राप्ति के मार्गों का कोई महत्व नहीं रहा और भक्तिभाव को पूज्य तथा कर्म के दाम्भिक स्वरूप को घृणित दृष्टि से देखा जाने लगा। महाराष्ट्र के सर्वसाधारण जनों ही के द्वारा उक्त प्रकार का धार्मिक पुनरुज्जीवन हुआ था। यद्यपि उच्च वर्णों के लोग भी उसमें सम्मिलित थे, पर उनमें किसी बात की भी विशेषता नहीं थी। उनके नेता तो साधु, कवि और तत्त्वज्ञानी ही थे और वे भी निम्न श्रेणी के ही थे। उनमें ब्राह्मणों का निरा अभाव भी नहीं था, पर उनकी अपेक्षा दर्जी, बढ़ई, कुम्हार, माली, बनिया, नाई आदि ही अधिक थे, तथा भंगी भी थे। इसीसे तुकाराम, रामदास, वामन

पंडित, एकनाथ, रोहिदास, चोखामेला, गोरा कुम्हार, नामदेव दर्जी आदि के नाम सुनते ही जनता प्रेममय और मोहित हो जाती थी। इस बात को दो सौ वर्ष बीत जाने पर भी इस समय के महाराष्ट्र-वासियों के हृदयों पर उनके नामों का बहुत कुछ प्रभाव स्थापित हो गया है; अतः यह बात भी उस समय की धार्मिक हलचल की सफलता को ही बतलाती है। राजनैतिक नेता भी उन धार्मिक नेताओं के परामर्श के अनुसार ही कार्य करते थे। शिवाजी के मुख्य उपदेशक श्री-रामदासजी थे और अपनी अपूर्व दूरदर्शिता ही के कारण वे 'समर्थ' कहलाते थे। उन्हीं के परामर्श के अनुसार मराठों के राष्ट्रीय झंडे का रंग भगवा नियत किया गया था, तथा उन्हीं के उपदेश के अनुसार एक प्रकार की विशेष सन्मान-दर्शक प्रणाम करने की, अर्थात् 'राम राम' कहने की, प्रथा चल पड़ी थी; अतः इन दो घटनाओं, अर्थात् 'भगवां झंडा' और 'राम राम' कह के प्रणाम करने की प्रणाली, से भी उस समय की राजनैतिक हलचल का धार्मिक स्वरूप ध्यान में आ सकता है, तथा यह बात भी मालूम हो सकती है कि उस समय के लोगों को स्वतंत्र बनने की प्रेरणाएं किस प्रकार हुआ करती थीं। धर्म और राज्य का दृढ़ सम्बन्ध हो चुका था। बाजी-राव पेशवा पर धावड़शी के ब्रह्मेन्द्र स्वामी की बड़ी कृपा थी, तथा विंचूरकर कुल के मूल पुरुष विट्ठल शिवदेव तो अपने गुरु की प्रेरणाओं के अनुसार ही सब कार्य करते थे। शिवाजी के शील और उनके प्रवर्तक हेतु का वर्णन, कर्नल मेडोज टेलर ने अपने उपन्यासों में बहुत ही अच्छा किया है। मराठों के इतिहास के लेखक ग्रांट डफ का ग्रंथ पढ़ लेने ही से शिवाजी

के पराक्रम के कारण मालूम नहीं हो सकते। महाराजा शिवाजी का तो विश्वास था कि उन्हें माता भवानी की ही प्रेरणाएं हुआ करती हैं। अर्थात् किसी संकट के समय, उनके शरीर में प्रवेश करके, श्रीभवानी जो कुछ आज्ञा उन्हें देती थीं, उसी के अनुसार वे कार्य करते थे। इतिहास-संशोधकों को उन सभी धार्मिक भावनाओं का ज्ञान होना आवश्यक है; क्योंकि उनका परिणाम अभी तक महाराष्ट्र-समाज पर स्थित है और उनका इतना प्रभाव स्थापित हो चुका है कि वह उन लोगों की धर्मश्रद्धा तथा भावी सुख की आशा में भी स्पष्ट रूप से देख पड़ता है। धार्मिक संशोधन के कारण पश्चिमीय यूरोप की राजनैतिक स्वतंत्रता पर जो कुछ परिणाम हुए, ठीक वैसे ही परिणाम पश्चिमीय भारत पर भी हुए हैं। इस प्रकार उनके विकास की गति शिल्प, कला, धर्म, देशी भाषा के साहित्य की वृद्धि, जाति-विषयक स्वतंत्र जीवनक्रम, स्वावलंबन और सहिष्णुता अर्थात् सहानुभूति की वृद्धि में भी देख पड़ती है। अतः जब तक उनकी अंतस्थ चेतना उत्पन्न करनेवाले धर्मबुद्धिरूपी बीज का ज्ञान नहीं होगा, तब तक मराठों के इतिहास का सच्चा स्वरूप मालूम नहीं हो सकता। हमारा विश्वास है कि देशीय और विदेशीय इतिहास-संशोधक मराठों के इतिहास को जिस दृष्टि से देखते हैं, उसमें यदि हमारे उक्त कथन का भी समावेश किया जावेगा तो उस इतिहास का यह तीसरा स्वरूप अत्यंत उपयोगी होगा।

४–अब हमें इस इतिहास के एक और स्वरूप के विषय में कुछ लिखना आवश्यक जान पड़ता है और उसके परिणाम के देखते यदि यह भी कहा जावे तो अत्युक्ति नहीं होगी कि

उसके कारण महाराष्ट्र-साम्राज्य की जितनी दृढ़ता हुई, उतनी ही उसकी निर्बलता भी हुई है। मराठों का इतिहास तो संयुक्त राज्यों के इतिहास की नाईं है। उनका स्वराज्य स्थापित हो जाने पर उसका शासन विभिन्न मंत्रियों को सौंपा गया, जिससे महाराष्ट्र राज्य-प्रस्थापक की मृत्यु हो जाने के अनंतर मुख्य शासक सदा निर्बल ही बने रहे। यद्यपि महाराज शिवाजी स्वराज्य-स्थापक थे, तथापि वे राज्य-प्रबंध के विषय में राष्ट्रीय अधिकार-विभाग के अनुसार ही शासन करते थे। किसी एक ही पुरुष के हाथ में राज्य-कार्य सौंप कर दूसरों से परामर्श न लेने की प्रथा उन्हें पसंद नहीं थी। उनके अष्ट प्रधान थे और वे उनके केवल परामर्शदाता ही नहीं थे, वरन् राज्य और सेना का प्रबंध उन्हीं पर सौंपा गया था। इसी प्रथा के कारण, जिस समय शिवाजी दिल्ली के कारागृह में कैद किये गये थे; और उनका देश तथा उसके अन्तर्गत गढ़ और क़िले मुसलमानों ने जीत लिये थे, उस समय उस विभक्त-शासन-प्रथा से ही बड़ा लाभ हुआ। राज्यशासन का कार्य अनेक सरदारों के हाथ में सौंपा गया था, इसी कारण कोई एक सरदार अपने तौर पर प्रबल नहीं हो सका और बंदीगृह से छुटकारा पाते ही वे पुनः राज्यसिंहासन पर बिठलाये गये। इसके सिवाय, जब औरंगज़ेब के सेनापति ने शिवाजी के पुत्र संभाजी को बंदीगृह में रखा और बड़ी क्रूरता से उनका वध करके उनके पुत्र को अपने ज़नानखाने में रखा, तब सारे मराठे सरदार दक्षिण की ओर चल दिये और योग्य अवसर पाते ही उन्होंने अपने राज्य को जीत कर औरंगज़ेब से, उसके किये का बदला लिया। पेशवाओं के राजत्वकाल में भी उसी प्रथा का

अधिक विकास हुआ था और महाराष्ट्र-सेनापतियों ने उत्तरीय भारत में, स्थान स्थान पर, अपनी सेनाओं के डेरे जमाये थे। तदनुसार, ग्वालियर, इंदौर, धार, देवास, वड़ौदा, नागपुर आदि स्थान उन विभिन्न सेनापतियों के ही रहने के स्थान थे तथा बुंदेलखंड के मराठे सरदार, दक्षिण के पटवर्धन सरदार, भावे, रास्ते, धुलप, आंग्रे, मानकर, महाडीक, घोरपड़े, आदि सितारा के जागीरदारों की छोटी वड़ी छावनियां महाराष्ट्र-साम्राज्य के पूर्वीय और दक्षिणीय सीमाओं पर स्थित थीं। ये छावनियां महाराष्ट्र-साम्राज्य और उसकी विशालता की ही दर्शक थीं। और जब तक उन सब का एक ही ध्येय और एक ही सर्वमान्य उद्देश रहा (और वह एक शताब्दी तक कायम था), तब तक वे किसी से भी नहीं हारे। यहां तक कि यदि मराठों में ही आपस में फूट न होती, तो युद्ध-कला-निपुण अंग्रेज़ी सेना की भी जीत कदापि न होती। पर, पहले तो अंग्रेज़ों की अनेक कारस्तानियों के कारण महाराष्ट्र-मंडल की एकता नष्ट हो गई; और फिर ब्रिटिश सेना की युद्ध-कला-निपुणता का प्रभाव भी उन पर पड़ा। लगातार सौ वर्ष तक तो दक्षिण या उत्तर, पूर्व या पश्चिम, राजपूत राजा या दिल्ली के बादशाह के विरुद्ध, रुहेलखंड, अयोध्या अथवा बंगाल में, हैदरअली, टीपू या निजाम के विरुद्ध, पुर्तगीज या अंग्रेज़ों के विरुद्ध जितने युद्ध हुए, उन सभी में सारी संयुक्त महाराष्ट्र सेना एक दिल से लड़ी। पेशवाओं का प्रभाव तो ठीक जर्मन साम्राज्य के प्रशियन राज्य-शासकों की नाईं था। अनेक संयुक्त राज्यों में सभी लोगों के अधिकार एक से ही थे, पर संपत्ति और पराक्रम की दृष्टि से पेशवा ही मुख्य माने जाते थे और

शेष सभी मराठे सरदार अपने को सितारे की मुख्य गद्दी के सेवक समझते थे। इस प्रकार जब तक मुख्य-गद्दी-रूपी केन्द्र के आसपास सारे महाराष्ट्र सरदार-ग्रहगण घूमते थे, तब तक तो सारी बातें यथावत् थीं। अर्थात् जब तक परम्परागत भावनाएं सब के मन में स्थित थीं, तब तक, नेतारूपी कोई दृढ़ निश्चयवाला राज्यशासक न होते हुए भी, रायगढ़, सितारा, विशालगढ़, जिंजी अथवा पूना में रहने वाले मंत्रियों के राज्यशासन करने, तथा राष्ट्रीय सेना का यथायोग्य उपयोग करने में किसी बात की भी असुविधा नहीं हुई। नाना फड़नवीस के समय में पेशवाओं के राज्य को तो हैदराबाद और श्रीरंगपट्टन के राजदरबारों में 'बारह भाइयों का राज्य' कहते थे। बारह भाइयों के राज्य का मतलब यह कि, बारह नेताओं के द्वारा वह राज्य शासित होता था; पर जब उसी एकता के विषय में लोगों का आदर घट गया; और पूज्य भाव नष्ट हो गया, तभी उस संयुक्त राज्य की दृढ़ता होने के बदले वह पूर्णतया निर्बल बन गया। अंग्रेज़ों को उनका वह दोष मालूम हो गया; और उन्होंने शीघ्र ही बाज़ी जीत ली। उन्होंने संयुक्त मंडल के प्रत्येक सरदार को विभिन्न परामर्श देकर उन्हें खूब बढ़ावा दिया; और इस प्रकार महाराष्ट्र-शरीर के अंगों को अलग अलग करके उसकी एकता नष्ट कर दी। महाराष्ट्र संयुक्त राज्य स्थापित करने के सदृश अपूर्व कल्पना इस देश में पहले कभी उत्पन्न नहीं हुई थी। हिन्दू और मुसलमानों के राज्य में तो उक्त आयोजना के करने का कभी प्रयत्न ही नहीं किया गया था। ऐसी दशा में यदि महाराष्ट्र-मंडल का प्रयत्न अन्त में भली भांति सफल न हुआ तो इसमें

आश्चर्य की कोई बात नहीं है। जब लोगों में उक्त प्रकार के वंश-परम्परागत विशिष्ट गुण होते हैं, तभी संयुक्त मंडल चिरस्थायी हो सकता है। जब तक उक्त गुण महाराष्ट्र-मंडल में थे, तब तक उसकी व्यवस्था के, मनोमोहक स्वरूपों को देखकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता था। अतः जिस अल्पकाल में महाराष्ट्र-मंडल में उक्त गुणों का प्रादुर्भाव हुआ था, उस समय का इतिहास हमारे देश-निवासी, तथा विदेशियों के लिये भी, बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

५–नैतिक दृष्टि से भी इस इतिहास का मनोरंजक स्वरूप विशेष महत्वपूर्ण है। संयुक्त-राज्य-प्रबंध के कारण ही महाराष्ट्र की अनेक संकटों से रक्षा हुई थी। केवल इतना ही नहीं, वरन् उन संकटों के कारण वह और भी अधिक बलवान् होगया था। महाराष्ट्र को उक्त प्रकार के चार महान संकटों से सामना करना पड़ा था। वे महान् संकट ये हैं:– (१) महाराज शिवाजी का, दिल्ली में, क़ैद होना; (२) मुग़लों के संभाजी के क़ैद करने पर राजाराम का दक्षिण को चला जाना; (३) पानीपत के युद्ध में मराठों का हताश हो जाना तथा (४) नारायणराव पेशवा के मारे जाने पर जब राघोबा दादा की आसुरी महत्वाकांक्षा पूर्ण न हो सकी; और घर की फूट-रूपी अग्नि प्रज्वलित होगई, इधर ब्रिटिश सत्ता का बल मराठों के विरुद्ध काम कर ही रहा था–ऐसी दशा में पूना-दरबार के नेताओं को राज्य-शासन करना पड़ा। महाराष्ट्र राज्य के लिये ये चार बड़े संकट के अवसर उपस्थित हुए; परन्तु फिर भी जिस राष्ट्र ने अपना सिर ऊंचा बनाये रखा उसके इतिहास का अध्ययन, इतिहास-जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त आवश्यक है। हां,

यह बात दूसरी है कि उस राष्ट्र का राज्य अधिक काल तक स्थायी न रह सका। उसके इतिहास का महत्व केवल उसके न्यूनाधिक शासन-काल की मर्यादा से ही नहीं मापना चाहिए; किन्तु जिस संगठित शक्ति और जिस सर्वमान्य प्रणाली से उस शक्ति ने राज्य किया, वह अवश्य ही सब के लिए शिक्षादायक और चित्ताकर्षक है।

६—अंतिम सब से महत्व की बात भी देखिये। इस समय भी यद्यपि भारत के अंग्रेज़ शासक ठीक पेशवा या मुग़ल बादशाहों की तरह हैं, अर्थात् सारे भारत में उन्हीं का शासन सर्वश्रेष्ठ है, तो भी महाराष्ट्र-संयुक्त-संस्था के अवशिष्ट भाग अब भी मौजूद हैं; और वे अंग्रेज़ सरकार की अधीनता में स्वतंत्र रूप से राज्य करते हैं। ग्वालियर, इन्दौर, धार, देवास बड़ौदा और कोल्हापुर के राज्य तथा दक्षिण महाराष्ट्र के सरदार उन्हीं अवशिष्ट राज्यों में से हैं। बम्बई प्रदेश और अन्य देशी राज्य तथा मध्य प्रांत, बरार और निज़ाम के राज्य में रहने वाले तीन करोड़ मराठी-भाषा-भाषी भी उसी के अवशिष्ट अंग हैं। ये सभी अंगरेज़ी साम्राज्य में बड़ी शान से रहते हैं। इस समय भी उनका बहुत कुछ महत्व है और यदि उनकी अन्य लोगों से तुलना की जावे तो हमारा विश्वास है कि वे उनकी अपेक्षा किसी तरह कम नहीं हैं। यदि यथासमय राष्ट्रीयता के तत्व के अनुसार, भारत के विभिन्न विभाग बनेंगे; और उन विभागों की विभिन्न राजनैतिक संस्थाएं बनकर सारे भारत में अंग्रेज़ी सरकार के साम्राज्य शासन के सामान्य सूत्रों से बद्ध होंगी, तो उस समय भारतवर्ष जिन बातों को सिद्ध कर सकेगा, और इस देश की भावी

योग्यता जिस प्रकार की होगी, उसका विचार करते समय मराठों के इतिहास से बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण की जा सकेगी। विशेष कर के वर्तमान मराठों को भावी इतिहास में कौनसा कार्य करना होगा—इस बात का निर्णय करने के लिये भी मराठों के भूतकाल के इतिहास का बहुत कुछ उपयोग होगा।

इस प्रकार हमें जिस महाराष्ट्र-मंडल के उत्थान और पतन का वर्णन करना है, उसका स्थायी नैतिक और तात्विक महत्व जिन मुख्य मुख्य बातों पर अवलंबित है, उन्हीं का हमने, संक्षेप में, इस परिच्छेद में, वर्णन किया है।

द्वितीय परिच्छेद ।

—○०○—

क्षेत्र कैसे तैयार किया गया ?

प्रायः कई देशी और विदेशी इतिहास-लेखक बेतुकी बातें कहा करते हैं कि मराठों का अभ्युदय तो कई आकस्मिक घटनाओं के कारण हुआ था; उनका उत्कर्ष होने के योग्य उनमें शक्ति नहीं थी और यदि उनका भाग्य अनुकूल न होता तो उनका नाम भी सुनाई न देता; इत्यादि । ग्रांटडफ साहब ने तो मराठों की उन्नति को सह्याद्रि पर्वत पर के दावानल की ही उपमा दी है । उनका कथन है कि जिस प्रकार अरण्य की दावाग्नि एकाएक जल उठती है; और वह अपने आप ही बुझ जाती है, उसी प्रकार मराठों की पराक्रमरूपी अग्नि जल उठी और बुझ गई । परन्तु हमारी राय में शायद उन्होंने, केवल अलंकार के शौक ही के कारण, उक्त उपमा का उपयोग किया है । क्योंकि यदि उसके विषय में पूर्ण विचार कर लेने पर उनका उक्त विश्वास हो जाता तो वे १७वीं शताब्दी से मराठों के उत्कर्ष की भित्ति जमने का वर्णन ही अपने इतिहास के प्रथम तीन भागों में न करते । अतः यदि वास्तव में देखा जावे तो केवल आकस्मिक बातों पर ही मराठों का उत्कर्ष अवलंबित नहीं था। सच तो यह है कि, मुसलमानों के महाराष्ट्र पर चढ़ाई करने के पूर्व ही मराठों का कार्य आरम्भ हो गया था। उनके उत्कर्ष के सच्चे कारणों का ज्ञान प्राप्त करने

के लिये तो पंडित-प्रवर भांडारकरजी द्वारा संशोधित ताम्रपत्रों और शिलालेखों का यथावत् अध्ययन करना ही आवश्यक है। उस अमूल्य ऐतिहासिक सामग्री का अध्ययन कर लेने से हमें भली भांति मालूम हो जायगा कि (१) मुसलमानों के शासन के विरुद्ध सब से पहले महाराष्ट्र ही में क्यों प्रयत्न किया गया; तथा (२) मराठों की देशस्थिति और संस्थाओं के किन गुणों के कारण उन्हें उक्त प्रयत्न में सफलता मिली।

महाराष्ट्र की प्राकृतिक परिस्थिति ही इस प्रकार की है कि, जिससे इस देश के निवासियों का उत्कर्ष अवश्य ही होना चाहिए। उक्त प्रकार का लाभ गंगा, सिंध, अथवा अन्य अरब के समुद्र या हिंद महासागर में गिरनेवाली नदियों के प्रदेशों में प्राप्त नहीं हो सकता। उस देश के पश्चिम में तो सह्याद्रि पर्वत है तथा उत्तर में विंध्याचल और सतपुड़ा। उन पर्वतों की छोटी छोटी शाखाएं भी देश में चारों ओर फैल गई हैं; और उन पर्वत-शाखाओं की खोहों और घाटियों से निकलनेवाली नदियां अंत में गोदावरी और कृष्णा में गिरती हैं। इस प्रकार सैकड़ों छोटी बड़ी नदियों का चारों ओर जाल सा फैल गया है और देश भी बिलकुल पहाड़ी, उग्र तथा ऊंचा-नीचा है। भूगोल की दृष्टि से कोकण—समुद्र और सह्याद्रि पर्वत के बीच का प्रदेश—महाराष्ट्र में ही गिना जाता है। पर्वत के शिखर पर के प्रदेश को 'घाट माथा' कहते हैं; और नीचे के प्रदेश को 'देश'। प्रायः सभी पहाड़ियों पर किले बनाये गये हैं, जिससे स्वभावतः ही देश की रक्षा होती है। मराठों की राजनैतिक कार्यवाहियों में उन किलों ने भी बड़े महत्व का कार्य किया है। देश का स्वरूप अच्छा है;

और वहां का जलवायु भी उत्तम तथा स्फूर्तिदायक है। उत्तरीय भारत के समथर वा नीचे की ओर बसे हुए प्रदेशों की नाईं महाराष्ट्र की वायु कभी अत्यंत उष्ण और कभी अत्यंत ठंढी नहीं होती। पहाड़ी प्रदेश होने के कारण पृथ्वी उपजाऊ नहीं है; पर वहां के निवासी बलवान, परिश्रमी और कष्टसहिष्णु होते हैं। महाराष्ट्र का क्षेत्रफल एक लाख वर्गमील है; और मनुष्य-संख्या तीन करोड़ है। उसका स्वरूप एक समकोण त्रिभुज की तरह है। दमण से कारवार तक का सह्याद्रि पर्वत और समुद्र उस त्रिभुज का आधार है। सतपुड़ा के आरंभ से ठेठ गोदावरी नदी के मुख तक का प्रदेश उसकी एक भुजा है और गोदावरी के मुख से लगाकर कारवार तक का मराठी-भाषा-भाषियों का प्रदेश उस त्रिभुज का कर्ण है। इस प्रकार महाराष्ट्र देश उत्तरीय भारत और दक्षिणीय प्रायद्वीप के बिलकुल सिरे पर है, जिससे उसे बड़ा ऐतिहासिक महत्व प्राप्त हो गया है। मैसार और मालवा प्रदेश की स्थिति भी ठीक महाराष्ट्र से मिलती जुलती है। पर, वे प्रदेश बिलकुल एक ओर होने से उन्हें महाराष्ट्र की नाईं महत्व प्राप्त नहीं हुआ है।

इस देश के स्वाभाविक स्वरूप की अपेक्षा वहां के निवासियों के स्वभावों का ही उस देश के इतिहास पर अधिक प्रभाव पड़ा है। उत्तरीय भारत में आर्यों की घनी बस्ती हो जाने से वहां के मूल निवासी प्रायः निर्बल से हो गये हैं। केवल पहाड़ी प्रदेशों ही में वे कुछ शक्तिशाली देखे जाते हैं। दक्षिणी प्रायद्वीप में तो मूल निवासी द्रविड़ जाति ने अपना प्रभाव स्थायी रूप से जमा रखा है। आर्य जाति

वहां पर अपना प्रभाव स्थापित नहीं कर सकी। महाराष्ट्र-निवासियों में उक्त दोनों जातियां सम्मिलित हो गई हैं, और इन दोनों जातियों के अवगुण नष्ट होकर गुणों का अंश उनमें बहुत कुछ रह गया है। मराठा भाषा ही हमारे उक्त कथन का निदर्शन है। वास्तव में मराठी भाषा का मूल स्वरूप तो द्राविड़ी है, पर आर्यों ने उसकी रचना में उलट-फेर कर के उसे पूर्ण दशा को पहुँचा दिया है। उत्तरीय भारत की तरह महाराष्ट्र निवासी गोरे रंग वाले, नाजुक और सुसंगठित शरीर वाले नहीं हैं। परन्तु दक्षिण के द्रविड़ लोगों की नाईं वे काले और भद्दे स्वरूप वाले भी नहीं हैं। महाराष्ट्र के वर्तमान आर्यों में, मूल आर्य और उनके अनन्तर वहां पर गई हुई सीथियन नामक जाति भी सम्मिलित हो गई है। अनार्यों में भी मूल-निवासी कोल, भील, और जंगली 'रामोशी' नामक जाति का उच्च जाति के द्रविड़ लोगों से मिश्रण हो गया है।

मनुष्य-संख्या की उक्त दो जातियों के परिमाण-संमेलन के कारण महाराष्ट्र के धर्म और संस्थाओं में जैसी समानता देख पड़ती है, वैसी भारत में कहीं पर भी नहीं दिखाई देती। उन संस्थाओं में से अधिक ध्यान में रखने के योग्य संस्था तो 'ग्रामसंस्था' है। विदेशियों के आक्रमणों के कारण वहां की हजारों संस्थायें नष्ट हो गईं, पर उक्त संस्था तो ऐसी दृढ़ भित्तियों पर रची गई है कि उसका स्वरूप अभी तक कायम है। अंग्रेज़ों ने भी इस ग्रामसंस्था और पंचायत का, अपने राज्य-शासन में, उपयोग किया है। ठीक उक्त संस्था की तरह दूसरी उपयोगी संस्था मिरासदारों की है। छोटे छोटे कृषक

ही मिरासदार कहलाते हैं। वे स्वयं ही सरकार के साथ अपनी ज़मीन के करों के विषय में क़रार करते हैं; और जब तक उनकी ओर से, नियमित रूप से, ज़मीन का कर सरकारी कोष में जमा होता रहता है, तब तक सरकार उनके स्वत्वों में किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं कर सकती। जो ज़मीन उनके पास होती है, उसके स्वामी वे ही होते हैं। इसी प्रथा के कारण महाराष्ट्र की प्रजा में स्वातन्त्र्य-स्फूर्ति अभी तक जीवित है। भारत के किसी भी प्रदेश में उक्त प्रथा प्रचलित नहीं है। * उस प्रथा का वहां पर अच्छी तरह से प्रचार है, पर अब सरकारी ज़मीन का कर वसूल करने वाले उच्च श्रेणी के वंशपरंपरा-प्राप्त कर्मचारी 'देशमुख' और 'देशपांडे' की आवश्यकता न रहने से उनका लोप हो गया है। अन्य स्थानों के 'देशमुख' और 'देशपांडे' के तो पेशे ही बदल गये हैं; और अब वे ज़मींदार और ताल्लुक़ेदार बन गये हैं। उत्तरीय भारत और वायव्य की ओर के प्रदेशों में प्रचलित ग्राम-व्यवस्था और महाराष्ट्र की ग्राम-व्यवस्था में बड़ा अन्तर है। वहां के लोगों का तो अपनी ज़मीन पर संयुक्त स्वामित्व होता है; और भूमिकर का उत्तरदायित्व भी संयुक्त ही रहता है। महाराष्ट्र की दशा उस प्रकार की नहीं है। वहां पर तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता का ही अधिक ज़ोर है। केवल इसी

* पर, इन दिनों, देश में कहीं कहीं उक्त प्रथा का प्रचार बढ़ रहा है। इसे रैयतवारी बंदोबस्त कहते हैं। अर्थात् किसी गांव का लगान ज़मींदार से वसूल न करके प्रत्यक्ष किसानों से ही वसूल किया जाता है।

(अनुवादक)

महत्वपूर्ण अन्तर के कारण महाराष्ट्र-निवासियों में स्वातन्त्र्य-प्रियता, पारस्परिक सहानुभूति और परस्पर सहायता करने की इच्छा, इत्यादि गुण स्वभावतः ही उत्पन्न हो गये हैं। इस समय भी वे गुण उन लोगों में देख पड़ते हैं; और उनके स्वराज्य स्थापित करने के समय में भी वे ही गुण अधिक सहायक हुए थे।

महाराष्ट्र में धार्मिक कट्टरता भी नहीं देख पड़ती। तुंगभद्रा नदी के पार स्मार्त, वैष्णव आदि विभिन्न धार्मिक पंथों का जो मतभेद दिखाई देता है, वह महाराष्ट्र में नहीं है। यद्यपि महाराष्ट्र के उक्त पंथ कभी एकत्रित नहीं हुए, तथापि वे पारस्परिक ईर्ष्या से बचकर सदा उदासीन ही बने रहे। धर्म के विषय में सहनशील रहना उस देश में एक बड़ा भारी गुण है। वहां के ब्राह्मण और शूद्र आपस में मिल-जुल कर बड़े प्रेमभाव से रहते हैं। गुरु, गोस्वामी महंत आदि लोगों का पाखंड भी वहां पर नहीं देख पड़ता। वहां के मूल निवासी हीन जाति के शूद्र वैष्णवों साधु-संतों के मत को स्वीकार करके, क्षत्रिय अथवा वैष्णव बन गये हैं। शूद्र, भंगी आदि नीच जातियों में भी प्रसिद्ध कवि और साधु हो गये हैं, तथा ब्राह्मण जाति भी उन्हें पूजती है। सारे देश में उनके विषय में बड़ा आदर-भाव है। इस प्रकार उक्त सहानुभूतिपूर्ण परिस्थिति में रहने वाले मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता भी बहुत कुछ कम हो गई, जिससे हिन्दू और मुसलमान पारस्परिक उत्सवों में बड़े आनन्द से मिलते रहे हैं। हिन्दू साधु-संतों में मुसलमान फ़क़ीरों की भी गणना की गई है; कई साधु-संतों को तो दोनों जातियां प्रेमपूर्वक पूजती,

हैं। इस प्रकार अपने मत से भिन्न धर्मपंथियों का तिरस्कार न करके, अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी धर्म को स्वीकार करने की उदारता का गुण, कई शताब्दियों से, महाराष्ट्रियों में मौजूद है, अतएव उनमें कभी पारस्परिक फूट नहीं होती और न कभी किसी प्रकार के झगड़े-बखेड़े ही होते हैं। किसी भी विषय का उग्र स्वरूप हो जाने के पहले ही, उसके विषय में शांतिपूर्वक विचार करने की टेव भी उनमें है। सारांश यह है कि उनमें उक्त गुण अच्छी तरह से समा गये थे और इसमें बिलकुल संदेह नहीं है कि वे ही गुण उनकी उन्नति में बहुत कुछ सहायक भी हुए।

इस प्रकार देश का प्राकृतिक स्वरूप, लोगों का स्वभाव और संस्थाएं अपूर्व होने के कारण वहां पर विदेशियों का शासन अधिक काल तक कैसे टिक सकता था ? मराठों के इतिहास से उक्त नियम की यथार्थता शीघ्रही ज्ञात हो सकती है। वे लोग स्वभावतः ही स्वातंत्र्य-प्रिय हैं; और यद्यपि उन्हें कभी कभी विदेशियों की गुलामी भी करनी पड़ी, तथापि वे फिर से अपनी स्वतंत्रता स्थापित करने के कार्य को करते ही रहे। किसी भी शासन का शासक, महाराष्ट्र पर, अधिक काल तक नहीं टिक सका है। भारत के अन्य प्रदेशों में भी कई राज्य देख पड़ते हैं, पर महाराष्ट्र की स्थिति बिलकुल भिन्न है। वहां पर तो छोटे छोटे स्वतंत्र राज्यों का ही शासन अधिकता से है; और एकछत्रीय शासन के विरुद्ध वहां के लोग सर्वदा प्रयत्न करते रहते हैं। यद्यपि वे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बड़े पक्षपाती थे, तथापि वे सभी, एकत्रित होकर उत्तर की ओर से आये हुए शत्रुओं को हटाने का भी प्रयत्न

करते थे। कहा जाता है कि ईस्वी सन् के आरंभ ही में शातवाहन अर्थात् शालिवाहन राजा ने सीथियन लोगों का पराभव किया था और ६०० वर्ष के अनन्तर चालुक्यवंशीय राजा पुलकेशी ने उन्हें फिर से हराया था। महाराष्ट्र में अनेक छोटे बड़े राज्य थे। शिलालेखों, प्राचीन सिक्कों तथा ताम्रपत्रों आदि से ज्ञात होता है कि इस देश के शासक बारम्बार बदलते थे। नगर, पैठन, बदामी, मालखंड, गोवा, कोल्हापुर कल्याणी, देवगिरि, दौलताबाद आदि स्थान चालुक्य, राष्ट्रगुप्त, और यादव राजाओं की राजधानियां थीं। चालुक्य, नलबड़े, कदम, मोरे, शेलार, अहीर और यादवों में भी अपना अपना अधिकार स्थापित करने के लिए झगड़े हुआ करते थे। उस देश पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने तक वही दशा रही। लगभग १४वीं शताब्दी के आरंभ ही से मुसलमान लोग महाराष्ट्र पर चढ़ाई करने लगे थे। इसके २०० वर्ष पहले मुसलमानों का उत्तरीय भारत पर प्रभाव स्थापित हो चुका था, जिससे उनको अधिकांश देश के जीत लेने में केवल ३० ही वर्ष लगे। परन्तु पश्चिमीय महाराष्ट्र और कोकन में प्रायः वे कभी अपना अधिकार स्थापित नहीं कर सके। हां, पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में उन्होंने कोकन पर अधिकार जमा लिया था, परन्तु मावल या घाटमाथा को वे कभी नहीं जीत सके।

मुसलमानों के शासन के कारण भी उक्त प्रदेश के लोगों के व्यवहार-बर्ताव तथा भाषा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उस समय भी प्रायः वह सारा प्रदेश हिन्दू किलेदारों के ही अधिकार में था। वहां की मनुष्य-संख्या में भी कोई फ़र्क़ नहीं

पड़ा। बहुत ही कम मुसलमान उस देश में जाकर बस सके। वर्तमान समय में भी वहां की मुसलमान जनसंख्या बहुत ही कम है। महाराष्ट्र में मुसलमानों के शासन को कभी स्थायी स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ था। पर उत्तरीय और पूर्वीय भारत में तो मसजिदों और कबरों की अत्यंत अधिकता हुई, हिन्दू देवालय नष्ट हो गये और हिन्दू तो खुल्लमखुल्ला अपने देवताओं की पूजा भी नहीं कर सकते थे। यहां तक कि लोग अपने व्यवहार-बर्ताव में भी मुसलमानों की भाषा का ही उपयोग करने लगे। तभी से उर्दू भाषा की उत्पत्ति हुई। यद्यपि उत्तरीय भारत की उक्त प्रकार की स्थिति हो गई थी, तथापि महाराष्ट्र में उसका बिलकुल अनुभव नहीं हुआ। वहां पर मुसलमानों के शासनकाल में भी हिन्दू धर्म और देशी भाषा की उन्नति होती रही। अतः अब हमें इस बात का विचार करना आवश्यक है कि महाराष्ट्र में ही उक्त स्थिति क्यों हुई; और मुसलमानों के प्रभाव को नष्ट करके हिन्दुओं ने धीरे धीरे अपने राज्य की स्थापना कैसे की।

(१) जितने मुसलमान दक्षिण की ओर गये, उन्हें, अपना देश अधिक दूरी पर होने के कारण, हिन्दुओं में ही सम्मिलित होना पड़ा। दिल्ली में तो अफ़ग़ान, खिलजी, तुर्क, मुग़ल आदि विभिन्न मुसलमान जातियां समय समय पर, उत्तर की ओर से आती थीं, जिससे मुसलमानों के धर्म और व्यवहार-बर्ताव का एक सा ही रूप बना रहा। पर दक्षिण के मुसलमानों में उनके जातिभाई बारम्बार सम्मिलित न हो सके, अतएव वहां पर मुसलमानों की सभ्यता का अधिक प्रचार नहीं हुआ।

(२) दक्षिण के बहमनी राज्य का संस्थापक हसन दिल्ली-निवासी गंगू नामक ब्राह्मण का सेवक था। उसके स्वामी ने उसके लिए, बड़े भाग्यशाली होने का भविष्य-कथन किया था। अतः हसन ने, गंगू के पूर्व-उपकार का स्मरण करके अपना राज्य स्थापित करने पर उसे बहमनी राज्य तथा अपने को "हसन गंगू बहमनी" कहलाना शुरू कर दिया। इन बातों का अर्थ यही है कि दक्षिण में उस समय मुसलमानों ने भी एक प्रकार से हिन्दू-सम्मान को मान लिया था। परन्तु उत्तरीय भारत में यह बात न हुई। अस्तु। इस प्रकार दक्षिण में मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं के सम्मानित होने पर, हिन्दुओं का बड़ा प्रभाव स्थापित हुआ, और जब हसन ने गंगू को दिल्ली से बुला कर उसे सभी प्रकार के करों के वसूल करने का कार्य सौंपा, तब हिन्दुओं का दर्जा राजकाज में और भी बढ़ गया।

(३) फलतः भूमिकर वसूल करने और कोष की व्यवस्था दिल्ली की ओर से आये हुए ब्राह्मणों और क्षत्रियों ही के हाथ में रहने लगी, जो कि आगे चल कर धीरे धीरे दक्षिणी ब्राह्मणों और प्रभू लोगों के हाथ में चली गई।

(४) राज्य के आय-व्यय का हिसाब हिन्दुओं के अधिकार में आ जाने का फल यह हुआ कि, बहमनी राज्य नष्ट हो गया और उसकी जगह बीजापुर, बरार, अहमदनगर, बेदर और गोलकुंडा में पांच स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए। इन राज्यों के हिसाब-किताब के कार्यों में विदेशीय भाषा फारसी या उर्दू का उपयोग नहीं किया गया। अर्थात् उनके आय-व्यय के चिट्ठे तो, आरंभ से लगाकर अंत तक, देशी भाषा में ही लिखे जाते थे।

(५) एक और कारण से भी हिन्दुओं का प्रभाव मुसलमानों पर स्थापित हो गया था । सन् १३४७ में मुसलमानों ने बलवा करके, तैलंगण और विजयनगर के हिन्दू राजाओं की सहायता ही से, बादशाह मुहम्मद तुगलक को परास्त किया था। बहमनी राज्य ने तैलंगण राज्य को तो नष्ट कर ही डाला था, पर विजयनगर का प्रभाव दो शताब्दियों तक बढ़ता ही गया । अंत में पांच मुसलमान राज्यों ने, सन् १५६४ की तालीकोट की लड़ाई में, विजयनगर के राज्य को नष्ट कर डाला । उस हिन्दू राज्य का मुसलमानों के राज्यों पर बड़ा प्रभाव स्थापित होगया था । किसी समय तो वह राज्य इतना बलवान् था कि अहमदनगर और गोलकुंडा राज्यों ने मिल कर, जब उस पर चढ़ाई की, तब उसने उन दोनों की दाल नहीं गलने दी । उस युद्ध के समाप्त हो जाने पर उस राज्य ने एक मुसलमान राजा को, इसलिए सुलह करने को बाध्य किया कि शस्त्ररहित लोगों पर व्यर्थ ही आक्रमण न किया जावे—उस सुलहनामे के अनुसार लगभग सौ वर्ष तक हिन्दू और मुसलमान राजा मित्रभाव से बने रहे ।

(६) इस प्रकार दक्षिण का राज्य-प्रबंध हिन्दू और मुसलमानों में विभाजित हो जाने के कारण उत्तरीय भारत की तरह, वहां पर मुसलमानों का अधिक प्रभाव स्थापित नहीं हुआ । हिन्दू लोग भी स्वराज्य का पूर्ण अनुभव कर रहे थे, जिससे उत्तरीय भारत-निवासियों की नाई वे विदेशियों के पूर्णतया अधीन होकर परतंत्र नहीं बने । उस समय यदि मुसलमान सैनिक अपने राजा से अप्रसन्न हो जाते तो विजयनगर के राजा के यहां पर नौकर हो जाते थे और मराठे लोग भी मुसलमान

राजा की सेवा करने के लिये तैयार हो जाया करते थे। यहां तक कि बहमनी राजा के तो २०६ मराठे ही शरीर-संरक्षक थे। बारंबार युद्ध करने का अवसर उपस्थित होने के कारण वहां के लोगों को युद्ध की शिक्षा और बहुत सा धन भी मिल जाया करता था। १६वीं शताब्दी में घाटगे, घोरपड़े, यादव, निंबालकर, मोरे, सिंदे, डफले. माने आदि बड़े बड़े मराठे सरदार दस-दस बीस-बीस हज़ार सेना के सेनापति थे और उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें जागीरें भी दी गई थीं। मुसलमान राजाओं को तुर्क, ईरानी, पठान, मुग़ल आदि लोगों से कोई लाभ नहीं होता था, वरन् कष्ट ही होता था; इसीसे वे राजा उन लोगों को अपनी सेना में न रखकर प्रायः मराठों को ही रखते थे। अर्थात् मराठे सिलेदार (अश्वरक्षक) और बारगीरों (अश्ववाहकों) पर ही उनका बहुत कुछ निर्भर था।

(७) दक्षिण के मुसलमान राजा हिन्दू स्त्रियों के साथ विवाह भी करने लग गये थे। सातवें बहमनी राजा ने विजयनगर की राजकन्या के साथ विवाह किया था तथा सोनखेड़ के राजा की कन्या बहमनी वंश के ६वें राजा के साथ विवाहित हुई थी। बीजापुर के पहले राजा यूसुफ आदिलशाह ने मुकुंदराव नामक एक ब्राह्मण की बहन के साथ विवाह करके उसे अपनी पटरानी बनाया था। उसे 'बाबू जी ख़ानुम' कहते थे; और यूसुफ की मृत्यु के अनन्तर उसी का लड़का बीजापुर की गद्दी पर बैठा था। बेदर के बरीदशाही वंश के पहले राजा ने भी अपने पहले पुत्र का विवाह साबाजी नामक मराठे की कन्या के साथ किया था। इस प्रकार उन विभिन्न जातियों में, विवाह की प्रथा प्रचलित हो जाने के कारण,

हिन्दू रीति-रिवाजों का मुसलमानों पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा।

(८) कई हिन्दुओं ने भी मुसलमानों के धर्म को स्वीकार किया था, पर उन्होंने अपने हिन्दू रीति-रिवाजों का त्याग नहीं किया, जिससे मुसलमान समाज में भी उन रीति-रिवाजों का समावेश हो गया। अहमदनगर का पहला राजा बरार के पाथरी ग्राम के, एक नौमुसलिम ब्राह्मण कुलकर्णी (पटवारी) का लड़का था। उस ब्राह्मण का उपनाम भैरव था; इसीसे उसके वंशज 'बहिरी राजा' कहलाये। उस वंश के राजाओं को अपने पूर्वजों के विषय में इतना अधिक पूज्य-भाव था कि उन्होंने बरार के राजा पर चढ़ाई करके पाथरी गांव को हस्तगत कर लिया और उसे वहां के ब्राह्मण कुलकर्णी को इनाम में दे दिया। बरार के इमादशाही राजवंश का मूलपुरुष भी विजयनगर राजवंश के आश्रय में रहने वाले एक ब्राह्मण का लड़का था। बरीदवंश के प्रथम राजा पर भी उसकी सेना का इतना अधिक प्रेम था कि ४०० मराठे सैनिक उसी के साथ मुसलमान बन गये थे और वे लोग उसके पूर्ण विश्वासपात्र थे।

(९) उक्त परिस्थिति के कारण दक्षिण के मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता कम हो गई थी, जिससे हिन्दुओं की धार्मिक विटंबना भी अधिक नहीं हुई। यद्यपि कभी कभी मुसलमान लोग अत्याचार भी करते थे, तथापि उन्होंने हिन्दू धर्म की अवहेलना नहीं की। अर्थात् उनके शासनकाल में हिन्दुओं को बहुत कुछ धार्मिक स्वतंत्रता रही। मुसलमान राजाओं ने, सैनिक तथा आय-व्यय-विषयक अधिकार भी, हिन्दुओं को

ही सौंप दिये थे। उन्होंने हिन्दू मंदिरों को भी कई जागीरें दीं, हिन्दू वैद्यों को दवाखानों के काम सौंपे और कई ब्राह्मण-कुलों को वंश-परंपरा के लिए जागीरें भी दी थीं। मुसलमानों के शासन-काल में महाराष्ट्र के कई हिन्दू कुल भी बड़े प्रसिद्ध हुए। १६वीं शताब्दी में मुरारराव नामक एक हिन्दू गोलकुंडा के राजा का मुख्य मंत्री था। गोलकुंडा के अंतिम राजा के मुख्य मंत्री मदनपंडित का तो इतना अधिक प्रभाव था कि उसने महाराजा शिवाजी और गोलकुंडा के बीच मित्रता कराके उन्हें मुग़लों के साथ युद्ध करने के लिये उत्साहित किया था। राजराव-घराने का भी गोलकुंडा के दरबार में बड़ा प्रभाव था। उन राजाओं के शासन-काल में जमीन के लगान को वसूल करने का कार्य ब्राह्मण देशपांडे, मराठे देसाई अथवा देशमुख को ही सौंपा जाता था। दादोपंत, नरसो काले, एसू पंडित आदि ब्राह्मण उस समय बड़े प्रसिद्ध थे। उन्होंने बीजापुर के राज्य-प्रबंध में बहुत कुछ सुधार किये थे। अहमदनगर के राजा गुजरात और मालवा के राजाओं के दरबारों में जो वकील नियत करते थे वे प्रायः ब्राह्मण ही हुआ करते थे। पहले बुरानशाह के समय तो सारा राज्य-प्रबंध कमालसेन नामक एक ब्राह्मण मंत्री के ही हाथ में था। उसी समय एसू पंडित बीजापुर का 'मुस्तफ़ा' बना था। गोलकुंडा में अकन्ना मकन्ना नामक दो भाइयों का तो इतना प्रभाव था कि जब बीजापुर दरबार ने मुग़लों पर चढ़ाई की, तब उन्हीं से सहायता मांगी गई थी।

१०—सैनिक विभाग पर भी धीरे धीरे, हिन्दुओं का प्रभाव बढ़ता जाता था। फेरिस्ता नामक इतिहास-लेखक का कथन है

कि बहमनी राज्य-शासन में कामराजे, घाटगे, हरनाईक आदि हिन्दू मनसबदार थे। दूसरे बहमनी राजा के तो २०० मराठे शरीर-संरक्षक ही थे। १६वीं शताब्दी के आरंभ में बाघोजी जगदेवराव नाइक नामक एक मराठा सरदार बरार, बीजापुर और विजयनगर के दरबार में बहुत प्रसिद्ध था। उसने कई राजाओं को राजगद्दी से उतारा और कई को गद्दी पर बिठाया था। वह कर्नाटक के 'नाइकवाड़ी' नामक हिन्दू सैनिकदल का मुख्य नेता था। वास्तव में उस समय वह एक बलवान राजा की तरह था, पर उसने राजा का नाम धारण नहीं किया था। प्रसिद्ध मुरारराव यादव ने १७वीं शताब्दी में बीजापुर की बड़ी प्रशंसनीय सेवा की थी और उसी ने बीजापुर पर चढ़ाई करनेवाली मुग़ल सेना को पराजित किया था। मुरारराव यादव और शहाजी भोंसले ही बीजापुर और अहमदनगर राज्य के मुख्य आधारस्तम्भ थे। मुरारराव को बरबाद करने के षड्यंत्र में राघोपंत भोंसले, घाटगे आदि हिन्दू ही मुख्य थे। इसी प्रकार चंद्रराव मोरे और राजेराव नामक मुरारराव के दो आश्रित सरदारों ने कोकन प्रदेश के युद्धों में बड़ी कीर्ति प्राप्त की थी। उसी समय म्हसवड़ के माने, वाड़ी के सावंत, डफले और घोरपड़े भी बहुत प्रसिद्ध थे।

ग्रांटडफ का कथन है कि महाराज शिवाजी के दादा मालोजी का उत्कर्ष होने के पूर्व ही आठ मराठे वंश बहुत प्रसिद्ध थे। उनमें सिंदखेड के यादवों का बड़ा प्रभाव था। अलाउद्दीन के द्वारा पराजित किये हुए देवगिरि के यादवों से उसका संबंध था। उन यादवों में लाखोजी यादव तो इतना अधिक प्रभावशाली था कि जब मुग़ल बादशाह ने सब से

पहले दक्षिण पर चढ़ाई की थी, तब इसी से सहायता मांगी थी। फलटन के निंबालकर भी बहुत प्रसिद्ध थे और मालोड़ी के झुंझारराव घाटगे का बीजापुर-दरबार में बड़ा प्रभाव था। कोंकन और घाट पर के प्रदेशों के मोरे, शिरके और महाडिक तथा दक्षिणीय मावल के गूजर और मोहिते बड़े योद्धा और सैनिक-कला-निपुण थे। इनमें से प्रत्येक के अधिकार में दस बीस हज़ार घोड़-सवार भी रहा करते थे। १७वीं शताब्दी के आरंभ में भोंसला घराना प्रसिद्ध हुआ। इस घराने के लोग यादव और निंबालकर के संबंधी थे। यादव की कन्या शहाजी की माता और निंबालकर की कन्या उनकी पत्नी थी। मालोजी भोंसले उस कुल के मूलपुरुष थे। उस समय मालोजी के पुत्र शहाजी प्रथम श्रेणी के सरदार माने जाते थे। वे बड़े शक्तिशाली थे; और रंक को राजा तथा राजा को रंक, सरलता से, कर सकते थे। उन्होंने अहमदनगर की निज़ामशाही की ओर से मुग़लों के साथ कई युद्ध किये थे।

इस प्रकार हिन्दुओं का प्रभाव चारों ओर स्थापित हो जाने के कारण गोलकुंडा, बीजापुर, अहमदनगर और बेदर के मुसलमान राज्यों के प्रायः सारे अधिकार मराठे राजनीतिज्ञ और मराठे योद्धाओं के ही हाथ में थे। देश के सारे गढ़ और क़िले केवल नाम ही के लिये मुसलमानों के अधिकार में थे, पर वास्तव में वे स्वतंत्र मराठे जागीरदारों के ही क़ब्ज़े में थे। इस प्रकार उस देश को परतंत्रता के बंधनों से मुक्त करने का प्रयत्न धीरे धीरे हो ही रहा था, कि इतने में एक दूसरा ही संकट उपस्थित हो गया। दिल्ली के बादशाह

नर्मदा और ताप्ती नदियों के दक्षिण में अपना शासन बढ़ाने का फिर से प्रयत्न करने लगे। बादशाह अकबर के शासन-काल से लगा कर औरंगज़ेब के शासन-काल तक इस प्रकार का प्रयत्न होता रहा। हिन्दुओं को तो अपनी नष्टप्राय स्वतंत्रता को पुनर्वार स्थापित करने के लिए ३०० वर्ष तक प्रयत्न करना पड़ा था। ऐसी दशा में यदि दिल्ली के बादशाहों को दक्षिण के जीत लेने में सफलता प्राप्त हो जाती, तो हिन्दुओं को और भी ३०० वर्ष तक परतंत्रता में रहना पड़ता; पर परमेश्वर की इच्छा तो कुछ और ही थी। वास्तव में वह नया संकट बड़ा भयंकर था; और मुग़ल बादशाह ने उस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये अपने बृहद् राष्ट्र की सारी शक्ति को खर्च करने का भी दृढ़ निश्चय कर लिया था, जिससे दक्षिण के मुसलमान राजा और उनके मराठे सरदार, उस भावी संकट से, बहुत ही भयभीत हो गये थे। मराठों का तो मिल-जुल कर काम न करने का प्राकृतिक स्वभाव ही था, अतएव युद्ध-भूमि पर, मुग़ल सेना का सामना करने की उनमें बिलकुल शक्ति नहीं थी। इसी से उन्हें छिप छिप कर मुसलमान सेना पर छापा मारने के उपाय का ही अवलंबन करना पड़ा था। इस प्रकार की युद्ध-कला उन्हें बड़ी प्रिय थी और इस 'गनीमी कावा' के युद्ध में वे इतने चतुर थे कि इसमें उन्हें कोई भी हरा नहीं सकता था।

मराठों की स्वतंत्रता पर मुसलमानों ने कुठाराघात करके जो पहला संकट उपस्थित किया, उससे उन्होंने बड़े धैर्य के साथ अपनी रक्षा की। उन्हें लगभग ३०० वर्ष इसी प्रयत्न में बिताने पड़े; और इस अवधि में उन्होंने अपने अपूर्व

आन्तरिक गुणों का अच्छा परिचय दिया। कुछ दिन तो उन्होंने ग्रामपरिस्थिति पर बिताये, पर जब मुसलमान शासक निश्चिंत और सुख में मस्त हो गये, तब मराठों ने उन्हें धर दबाया और उनके अधिकार छीन कर आप स्वतंत्र हो गये। परन्तु यह अवसर उनके लिए बड़ा ही भयंकर था। पुराने उपयुक्त उपायों से, इस समय वे अपनी मुक्ति नहीं कर सकते थे। अतः उन्हें इस बार नये उपायों का ही अवलंबन करना आवश्यक था। इस समय मराठों में स्वदेश और स्वधर्म के प्रति उत्साह दिलाकर, चारों ओर बिखरी हुई उनकी शक्ति को एकत्रित करके, देश-कार्य के लिए उसका उपयोग करना अत्यंत आवश्यक था। महाराजा शिवाजी में एक ऐसा अपूर्व आन्तरिक गुण था, जिसके बल पर उन्होंने, इस नये संकट का सच्चा स्वरूप मालूम करके, स्वदेश और स्वधर्म के लिए आत्म-समर्पण करने का अलौकिक उत्साह मराठों में उत्पन्न कर दिया। पर हमारे कथन का यह अर्थ नहीं है कि शिवाजी ने मराठों में कोई नई शक्ति उत्पन्न कर दी थी। वरन् वह तो उनमें पहले से ही थी; पर केवल उसके एकत्रित करने की आवश्यकता थी। अतएव उन्होंने उसको एकत्रित करके उसका उपयोग एक महान् कार्य के लिए किया था। शिवाजी ने जो देश-सेवा की है, उसका बदला हम कभी नहीं चुका सकेंगे। उनके उस महत्वपूर्ण कार्य के ही कारण हम उन्हें अत्यंत पूज्य मानते हैं। महाराजा शिवाजी के चरित्र से केवल उस समय के मराठों की शक्ति ही नहीं, वरन् स्वदेशाभिमान, स्वधर्म-प्रीति, समाजहित आदि बातों की जो उदात्त कल्पनाएं लोगों के मन में उत्पन्न हो गई थीं, उनका भी पता चलता है।

लोग यों ही उन्हें ईश्वर का अंश नहीं मानते थे और न उनका विश्वास ही बिना कारण था। महाराजा शिवाजी को यही विश्वास था कि उनका अवतार भी स्वदेश को परतंत्रता से छुड़ाने ही के लिये हुआ है; और इसी लिए उनके वदन पर एक अपूर्व तेज दिखाई देता था। उनको देखते ही, देखनेवालों के मन में, उनके सत्कार्य के प्रयत्न में, मन, वचन और कर्म से सहायता करने की स्फूर्ति उत्पन्न हो जाया करती थी। उस महानुभाव का प्रभाव ही ऐसा कुछ चमत्कारपूर्ण था कि उसकी उत्पन्न की हुई स्वदेश-स्वधर्माभिमानरूपी जादू ने केवल उसके समय के लोगों पर ही असर नहीं किया था; वरन् भावी सन्तान में भी उस नई शक्ति का संचार देख पड़ता था। उस समय सारे भारत में जहां कहीं मराठे थे, वहीं पर स्वराज्य स्थापित करने का प्रयत्न होने लगा था। इस प्रकार देश का पूर्व-इतिहास, देश में चारों ओर प्रचलित नई धर्म-भावनाएँ और विशेषतः ३०० वर्षों तक मुसलमानों के शासनकाल में मिली हुई सैनिक शिक्षा के कारण, भविष्य में उत्पन्न होनेवाले स्वराज्यरूपी महा वृक्ष का बीज बोने के लिये, क्षेत्र तैयार हो गया था।

तृतीय परिच्छेद ।

बीज कैसे बोया गया ?

सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ ही से मराठों के मन में स्वराज्य-सुख की आशा उत्पन्न हो गई थी। १५वीं शताब्दी से लगाकर लगभग तीन शताब्दियों तक उन्होंने उस कार्य में अनेक कष्ट उठाये थे; अतः उनके मन में उक्त प्रकार की आशा उत्पन्न हो जाना सर्वथा स्वाभाविक ही था। स्वराज्य-वृक्ष का बीज बोने के लिये उन्होंने ज़मीन को जिस प्रकार से तैयार किया था, उसका वर्णन हम द्वितीय परिच्छेद में लिख चुके हैं। अतः अब हमें इसी बात का वर्णन करना है कि महाराज शिवाजी का उदय होने पर स्वराज्य किस प्रकार से स्थापित किया गया। परन्तु उसका वर्णन करने के पहले महाराजा शिवाजी के जन्म के समय की महाराष्ट्र की राजनैतिक परिस्थिति का चित्र हमें अपने पाठकों के सामने, अंकित करना आवश्यक है। शिवनेर में छत्रपति शिवाजी का जन्म होने के पूर्व ही अहमद-नगर की निज़ामशाही नष्ट हो चुकी थी; और मुग़लों ने उसे नष्ट कर डालने के लिये बहुत कुछ प्रयत्न किये थे। सन् १५९६ ई० में चांदबीबी ने बड़ी वीरता से लड़कर अहमदनगर की रक्षा की; और मुग़ल सेना को कुछ समय के लिये पीछे हटा दिया। पर उस राज्य में फिर से फूट उत्पन्न हुई, और आपस में लड़ाई-झगड़े होने लगे। सन् १५९९ ई० में किसी नीच

मनुष्य ने चांदबीबी को मार डाला और फिर मुगल सेना ने शीघ्र ही अहमदनगर को जीत कर, वहां के राजा को क़ैद कर के, उसे बुरानपुर को भेज दिया। यद्यपि निज़ामशाही की उक्त प्रकार की दुर्दशा होगई थी, तथापि उस राज्य के नेता एक-दम निराश नहीं हुए; और उन्होंने परांड़े के दक्षिण में, राज-धानी के लिए एक नया ही नगर बसाया। मलिक अम्बर ने जुन्नर को राजधानी बना कर पुराने निज़ामशाही के एक मनुष्य को गद्दी पर बिठलाया; और आप स्वयं ही राजकाज देखने लगा। मलिक अम्बर बड़ा राजनीति-निपुण और शूर पुरुष था। उसने अहमदनगर को फिर से जीत लिया; और मुग़लों तथा उनके अनुयायी बीजापुर के आदिलशाही राजाओं की परवाह न करके अहमदनगर के राजकाज को, बड़े धैर्य से २० वर्ष तक सम्हाला।

मलिक अम्बर को, मुग़लों से निज़ामशाही राज्य की रक्षा करने में, शिवाजी के पिता शहाजी, फलटन के निंबाल-कर नाइक और प्रसिद्ध वीर लखजी जाधवराव से बड़ी सहायता मिली। यद्यपि सन् १६२० में निज़ामशाही राज्य का पराभव हुआ, तथापि उसका मुख्य कारण तो मुसलमान सरदारों की अकर्मण्यता ही थी। मराठे सरदार तो उस राज्य की रक्षा करने के लिए बड़ी वीरता से लड़ते रहे। केवल लखजी जाधवराव ने ही मुग़लों से मित्रता कर ली थी। इस कार्यवाही के बदले में मुग़लों ने सन् १६२१ में जाधवराव को १५००० घोड़-सवार और २००० पैदल सेना का सेनापति बनाया। मुसल-मान सरदारों की अकर्मण्यता ही के कारण मलिक अम्बर की कुछ भी नहीं चली और उसे अंत में अहमदनगर और

उसके तख़्त पर बैठे हुए नये राजा को शत्रुओं के हाथ में सौंप देने के लिये बाध्य होना पड़ा; तौ भी वह निराश नहीं हुआ था। वह फिर से सैनिक सामग्री एकत्रित कर ही रहा था कि इतने में सन् १६२६ ई० में उसकी असामयिक मृत्यु हो जाने के कारण उसके सारे प्रयत्न वैसे ही रह गये। निज़ामशाही की सारी शक्ति को एकत्रित करके, उसपर आये हुए संकट को दूर करने के लिए, उस राज्य में केवल वही एक योग्य पुरुष था। पर उसकी असामयिक मृत्यु के कारण निज़ामशाही का एक आधारस्तम्भ नष्ट हो गया; और वह राज्य डगमगाने लगा। उस समय शहाजी भोंसला ने भी उस राज्य को छोड़ दिया; और उन्होंने मुगलों से ५००० सवारों का अधिकार प्राप्त कर लिया। सन् १६३१ ई० में मलिक अम्बर के पुत्र ने ही निज़ाम को मार डाला। इस प्रकार जब निज़ामशाही का पूर्ण पतन हो जाने के चिन्ह चारों ओर दिखाई देने लगे, तब शहाजी ने, पूर्व-उपकारों का स्मरण करके, अपने पुराने स्वामी को सहायता दी और निज़ामशाही के सिंहासन पर उसी घराने के एक मनुष्य को बिठाकर स्वयं ही राज-काज देखने लगे। उन्होंने नीरा नदी से लगाकर चंदार के क़िले तक का सारा प्रदेश बड़ी वीरता से जीतकर उसे अहमदनगर के राज्य में सम्मिलित कर दिया। वास्तव में उस समय शहाजी ने इतना प्रभाव स्थापित कर दिया कि उनका पराभव करने के लिये मुग़लों को २५००० सेना भेजनी पड़ी। लगभग चार वर्ष तक, अर्थात् सन् १६३२ से १६३६ तक, तो उन्होंने मुग़लों की दाल नहीं गलने दी, पर शत्रुओं के अत्यंत बलवान् होने के कारण अंत में वे कुछ भी नहीं कर सके;

और शाहजहां की असंख्य सेना से हार मानकर उन्होंने, मुग़ल बादशाह के परामर्श के अनुसार सन् १६३७ में अहमदनगर की नौकरी छोड़कर बीजापुर-दरबार की सेवा स्वीकार कर ली।

इस प्रकार निज़ामशाही का अंत हो गया, और अहमदनगर का सारा प्रदेश दिल्ली और बीजापुर के बादशाहों ने आपस में बांट लिया। तदनुसार नासिक का कुछ भाग, ख़ानदेश, बरार और उत्तरीय कोकन का प्रदेश मुगलों की ओर गया; और उन्होंने उस प्रदेश का प्रवन्ध करने के लिये एक सूबेदार नियत किया, और उसे सूबा-औरंगाबाद कहने लगे। शेष प्रदेश और मुख्यतः भीमा तथा नीरा नदियों के बीच के प्रदेश पर बीजापुर के आदिलशाही राजवंश का अधिकार हो गया। मुग़लों ने अहमदनगर को नष्ट करने ही के लिये बीजापुर के बादशाहों से मित्रता की थी। सब से पहले सन् १६०१ ई० में उन दोनों बादशाहों में सुलह हुई थी, इसके बाद दोनों में विवाह-सम्बन्ध भी हुआ। इस प्रकार पारस्परिक प्रेम बढ़ता ही गया; पर वह मित्रता अधिक काल तक नहीं टिक सकी। अहमदनगर के हस्तगत कर लेने पर मुग़लों को बीजापुर के प्रदेश को भी लेने की इच्छा उत्पन्न हो गई; और वे अपने पहले सम्बन्ध को भूलकर उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करने लगे। बीजापुर के प्रसिद्ध राजा इब्राहीम आदिलशाह की सन् १६२६ में मृत्यु हो जाने पर, पांच ही वर्ष के अनन्तर, मुग़ल सेना ने बीजापुर को घेर लिया। उस समय इब्राहीम का लड़का मुहम्मद आदिलशाह राज्य करता था। उसने उस घेरे को हटाया, पर मुग़लों ने फिर से सन् १६३६ में बीजापुर

पर चढ़ाई कर दी, तब मुहम्मद को मुग़लों के साथ सुलह करने के लिये बाध्य होना पड़ा। उसने दिल्ली के बादशाह को २० लाख रुपये देना स्वीकार कर लिया; और शहाजी को मुग़लों के सिपुर्द कर दिया। वास्तव में मुगल बादशाह को पूर्ण आशंका थी कि शहाजी फिर से निज़ामशाही राज्य को स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है और इसीसे उसे मुहम्मदशाह के हाथ से लेकर अपने अधीन कर लिया था। पर कुछ दिनों के बाद शहाजी ने फिर से बीजापुर-दरबार की नौकरी को स्वीकार कर लिया; और उस दरबार ने उन्हें कर्नाटक प्रदेश की ओर नियत किया। यह मौका पाकर शहाजी ने वहां पर अपनी वीरता से बहुत सा प्रदेश जीता और अपने उत्तराधिकारियों के लिये, कावेरी नदी के तट पर, एक छोटा सा राज्य भी स्थापित किया। इधर बरार और बेदरशाही के राज्य तो पहले ही बीजापुर और अहमदनगर के राज्यों में सम्मिलित हो गये थे, पर केवल गोलकुंडा का राज्य ही उस समय स्वतंत्र था। अतः मुग़लों ने उस ओर अपनी दृष्टि फेरी। उक्त समाचार पाते ही गोलकुंडा के राजा ने मुग़लों को कर देना स्वीकार करके अपनी रक्षा कर ली। इसके बाद मुग़लों ने उस राजा पर युद्ध के व्यय का भारी बोझ रख दिया, पर उतना धन देने का सामर्थ्य तो उसमें नहीं था; अतः जब शाहजहां के पुत्र औरंगज़ेब ने गोलकुंडा राज्य की राजधानी हैदराबाद पर एकदम चढ़ाई करके, वहां के राजा को गोलकुंडा के क़िले में क़ैद किया, तब उसने बेवश होकर उस भारी कर को देना स्वीकृत कर लिया।

उस समय पुर्त्तगालवालों का भी प्रभाव धीरे धीरे कम हो रहा था। १६वीं सदी की तरह उनका प्रभाव नहीं था। केवल कोकन का किनारा ही उनके अधिकार में था। वे केवल उतने ही प्रदेश को बचा कर चुपचाप बैठे थे। उस समय अंगरेज़ों का तो राजनैतिक क्षेत्र में बिलकुल ही महत्व नहीं था। उन्होंने केवल सूरत में ही एक छोटी सी कोठी खोल रखी थी।

उक्त सभी घटनाओं के विषय में विचार करने से ज्ञात होता है कि शिवाजी के जन्म के समय, और उनकी बाल्यावस्था में, दक्षिण में केवल मुग़लों का ही प्रभाव था। उस समय मुग़ल ऐसे प्रबल हो गये थे कि दक्षिण का कोई भी राजा उन्हें हरा नहीं सकता था। काबुल से लगाकर बंगाल की खाड़ी तक और कुमाऊं के पहाड़ों से महाराष्ट्र तक चारों ओर उनका प्रभाव स्थापित हो गया था, अतएव महाराष्ट्रीय राजा भी उनसे बहुत डरते थे। जब सन् १२१६ में अलाउद्दीन ने दक्षिण पर चढ़ाई की थी, तब महाराष्ट्र पर जिस प्रकार का संकट उपस्थित हुआ था, ठीक वैसा ही संकट, ३०० वर्षों के बाद, उस देश पर फिर से उपस्थित हो गया। पर महाराष्ट्र की उस समय की स्थिति, पहले की अपेक्षा बिलकुल भिन्न थी। हिन्दुओं ने सन् १२१६ के संकट के आगे तो अपना सिर झुका कर अपनी रक्षा कर ली थी, पर इस बार उनमें थोड़ी सी शक्ति भी आ गई थी। परतंत्रतारूपी कठिन शिक्षा द्वारा वे बहुत कुछ चातुर्य प्राप्त कर चुके थे। विदेशी प्रभाव को तो वे बहुत कुछ नष्ट कर चुके थे; पर दासत्व के कारण उन्हें कई असहनीय दुःख सहने पड़े थे। उस समय न्याय,

आय-व्यय तथा दरबार इत्यादि के सब कार्य उन्हीं की भाषा में हुआ करते थे और प्रादेशिक प्रबंध भी उन्हीं के अधिकार में था। उनके सेनापतियों ने रणभूमि में भी सफलता प्राप्त की थी; और राजनैतिक कार्यों में, उन्हीं के राजनीतिज्ञों से, परामर्श लिया जाता था। मुरारराव और शहाजी भोंसले तो बीजापुर-दरबार के मुख्य आधार-स्तम्भ ही थे और गोलकुंडा का सारा शासन भी मदन पंडित के ही अधिकार में था। पश्चिमीय घाट, पर्वतों पर के क़िले, और मावल प्रदेश मराठे सरदारों के ही अधीन था। कृष्णा नदी के उद्गम-स्थान से ठेठ वारना नदी तक का सारा घाट-माथा चंद्रराव मोरे के अधिकार में था। दक्षिणीय कोकन सावंत के, फलटन निंबालकर के, तथा सितारे के पूर्वीय भाग डफले और माने के हाथ में थे। पूना प्रांत के 'मावल' से लेकर पूर्व में बारामती-इंदापूर तक का सारा प्रदेश भोंसले के अधिकार में जागीर के तौर पर था। घोरपड़े, घाटगे, महाडिक, मोहिते, मामुलकर आदि मराठे सरदारों के आश्रय में भी बहुत से घुड़सवार, पैदल आदि फ़ौज रहा करती थी। गोलकडा, बीजापुर और अहमदनगर के दरबारों में भी सच्चे शूर और योद्धा तो केवल मराठे ही थे और उन मराठे बहादुरों ने अनेक शस्त्रधारी मुग़ल सैनिकों का सामना करके उनके बल का अनुमान कर लिया था। उस समय महाराष्ट्र की उक्त स्थिति होने के कारण जब मुसलमानों ने दूसरी बार दक्षिण पर चढ़ाई की, तब लोगों के मन में नई भावनाओं की जागृति हो उठी और गत ३०० वर्षों में मुसलमानों के किये हुए धार्मिक अत्याचारों का चित्र उनके सामने खड़ा हो गया; और भावी संकट से सचेत हो

कर प्रत्येक मनुष्य उस संकट के निवारण करने का प्रयत्न करने लगा। जब अलाउद्दीन ने चढ़ाई की थी, तब लोगों के मन की दशा उक्त प्रकार की नहीं थी। उस समय मुसलमान लोग पहली ही बार दक्षिण की ओर गये थे; अतः उन्हें उनके अत्याचारों का ज्ञान नहीं था। परन्तु गत ३०० वर्षों में उन्हें इस बात का पूरा अनुभव हो गया, अतएव वे फिर से अपने देश में मुसलमानों को आश्रय देने के लिए तैयार नहीं थे। इसके अतिरिक्त गत ३०० वर्षों में ज्यों ज्यों मुसलमान जाति हिन्दुओं पर धार्मिक अत्याचार करती गई, त्यों त्यों हिन्दुओं का धार्मिक अभिमान भी जागृत होता गया। इसी से उस समय लोग अपने धर्म की रक्षा करने के लिए अपने प्राण तक दे देने को तैयार हो गये थे। विल्क्स साहब ने मैसोर का इतिहास लिखा है, उसमें उन्होंने एक बड़ी आश्चर्य-जनक घटना की चर्चा की है। उनका कथन है कि मेरे इतिहास के लिए मेकेंज़ी साहब की एकत्रित की हुई हस्तलिखित सामग्री में सन् १६४६ की लिखी हुई एक प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक मिली थी। उसमें धर्म और नीति का ह्रास और बड़े बड़े पुरुषों पर आये हुए संकटों का बड़ा ही हृदयद्रावक वर्णन था। अन्त में यह भविष्य-कथन भी उसमें था कि, "ईश्वर की कृपा से उस दुखदायी समय का अन्त होगा, परतंत्रता से उस देश की शीघ्र ही मुक्ति होगी; और उस समय चारों ओर आनन्द ही आनन्द उमड़ पड़ेगा। कुमारी कन्याएँ गीत गायेंगी, तथा आकाश से पुष्प-वर्षा होगी।" महाराजा शिवाजी ने ही अपने बुद्धि-बल और बाहु-बल पर दक्षिण को विदेशियों की गुलामी से मुक्त किया

था, अतः उक्त भविष्य-कथन इसी बात का दिग्दर्शक था। विल्क्स साहब ने उक्त बात पर सर्वसाधारण के विश्वास होने का भी ज़िक्र किया है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह कहां तक सत्य है। सन् १४४६ में मैसूर की ओर उक्त भविष्य-द्वाणी कही गयी थी, पर उस समय तो शिवाजी का नाम पूना प्रदेश के बाहर किसी को मालूम नहीं था। अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि, उक्त बात महाराजा शिवाजी को ही लक्ष्य करके कही गई ?

मुसलमान इतिहास-लेखकों ने शिवाजी को लुटेरा कहा है और मराठी इतिहास-लेखकों ने तो उन्हें प्रत्यक्ष ईश्वर का अवतार माना है। कई हस्तलिखित मराठी बखरों में लिखा गया है कि जब यवनों के अत्याचारों से कष्टित हो कर पृथ्वी ने गाय का भेष धारण कर ईश्वर की प्रार्थना की, तब दीन-दयालु परमेश्वर ने द्रवित हो स्वयं अवतार लेकर अपने भक्तों की रक्षा करने का वचन दिया; और फिर शिव छत्रपती के रूप में अवतीर्ण होकर गो-ब्राह्मणों को मुसलमानों के अत्याचारों से छुड़ाया। इसी प्रकार की दूसरी भ्रमपूर्ण कल्पना के आधार पर शिवाजी का उदयपुर के राज-वंश से संबंध बतलाया जाता है। पर वास्तव में महाराजा शिवाजी न तो क्षुद्र लुटेरे ही थे और न परमेश्वर के अवतार। राजपूत घराने से जोड़े हुए केवल काल्पनिक संबंध के कारण भी उन्हें बड़प्पन नहीं मिला था। किन्तु उनकी कीर्ति का मुख्य कारण तो शहाजी और जीजाबाई के घर में जन्म लेना ही था। उनकी माता प्रसिद्ध शूरवीर लखजी जाधवराव की कन्या और उनकी पत्नी प्रसिद्ध जगदेवराव नाइक निंबालकर की कन्या थीं।

सचमुच ही ऐसे माता-पिता के घर जन्म लेना बड़े भाग्य की बात होती है और उस भाग्य के आगे शिवाजी को अवतारी पुरुष कहने अथवा राजपूत घराने से उनका संबंध जोड़ने का बिलकुल महत्व नहीं है। शिवाजी में उस समय के लोगों की सारी आशाएँ और शक्तियां एकत्रित हो गई थीं और उनके कीर्तिभाजन बनने का यही मुख्य कारण था। शिवाजी के सदृश पुरुष सदैव उत्पन्न नहीं होते, वरन् जब राष्ट्र की अनुकूल परिस्थिति होती है, तभी उनके सदृश नर-रत्न उत्पन्न होते हैं। साथ ही उस परिस्थिति को प्राप्त करने के लिये बहुत समय तक प्रयत्न करना पड़ता है। जिस देश में महापुरुषों का महत्व जानने अथवा उन्हें तन-मन-धन से सहायता करने के लिये लोगों के मन सुशिक्षित नहीं होते, वहां पर शिवाजी के सदृश योग्य पुरुष कभी उत्पन्न नहीं हो सकते।

महाराजा शिवाजी के समय में, भावी सुख की आशा से, लोगों में जो उत्साह उत्पन्न हो गया था, वह केवल उनमें दिखाई देनेवाली कर्तव्यदक्षता का ही परिणाम नहीं था। शिवाजी के गुरु दादोजी कोंडदेव में भी उक्त गुण पूर्णतया विद्यमान था। शिवाजी के नाना लखजी जाधवराव और पिता शहाजी बड़े दूरदर्शी थे। उन्होंने अपना भौतिक हित अच्छी तरह से साध लिया था। जिस समय जैसी परिस्थिति प्राप्त हुई, उसीके अनुसार उन्होंने विभिन्न राजाओं की सेवा कर के अपना हित-साधन किया था, पर उनके मन में अपने हित की अपेक्षा अन्य उदात्त भावनाएँ कभी उत्पन्न नहीं हुई थीं। हां, बाल शिवाजी का मन तो अवश्य ही भावी

सुखकर आशाओं से उमड़ उठा था। शिवाजी को छुटपन ही से महाभारत और रामायण की कथाएं सुनने का चाव था। अतः जहां कहीं पर कथा या किसी प्रसिद्ध पौराणिक का पुराण होता था, वहीं पर, उसे सुनने के लिये, वे कोसों पैदल ही चलकर जाते थे। शिवाजी बड़े श्रद्धालु थे और उनका वह गुण कभी कम नहीं हुआ। इस धार्मिक श्रद्धा के ही कारण, केवल स्वहित साधने से सन्तुष्ट न रहकर, उन्होंने अपने देश और देशभाइयों के प्रीत्यर्थ कोई महत्वपूर्ण कार्य करने की बात मन में ठानी। उनका यह भी विश्वास था कि अपने हित की चिन्ता न करके दूसरों का हित साधने ही के लिये मेरा अवतार हुआ है। ईश्वर पर पूर्ण विश्वास और असीम धार्मिक श्रद्धा के बिना मनुष्य के मन में उक्त प्रकार के उच्च भाव कदापि उत्पन्न नहीं हो सकते। अर्थात् शिवाजी के श्रद्धापूर्ण स्वभाव ही के कारण उनमें अत्यंत उत्साह, उत्पन्न हो गया था। हां, बाल्यावस्था में उन्हें उस उत्साह का महत्व मालूम नहीं हुआ था। इसीसे उनके बाल्यावस्था के कार्यों में कोई तारतम्य नहीं देख पड़ता है। परन्तु ज्यों ज्यों उनकी अवस्था बढ़ने लगी, त्यों त्यों उनके मन में इस प्रकार के विचार उत्पन्न होते गये कि "किसी विशेष कार्य को करने ही के लिये परमेश्वर ने मुझे जन्म दिया है; और उस कार्य को मुझे करना ही होगा।" उन्होंने अपने जीवन में तीन बार, प्राप्त किये हुए राज्य-वैभव को त्याग कर, मोक्ष-प्राप्ति के लिये वन में रहना ही पसन्द किया था। परन्तु उक्त तीनों अवसरों पर उनके गुरु और मंत्रियों ने उन्हें उनके कर्तव्यों का स्मरण दिलाकर, बड़े प्रयत्न से, उनका मन फिर

से दुनिया की ओर लगाया। शिवाजी के जीवन में कई संकट-पूर्ण अवसर उपस्थित हुए थे और यदि उस समय वे कर्मपथ से विचलित हो जाते, तो उनकी सारी भावी आशाएं नष्ट हो जातीं। पर उन सभी अवसरों पर उन्होंने ईश्वर को ही सच्चा मार्ग-दर्शक जानकर उसकी प्रार्थना की। उन्हें विश्वास था कि परमेश्वर हमारे अन्तःकरण में प्रेरणा करके हमारे ऊपर आये हुए संकटों से मुक्ति पाने का अवश्य ही मार्ग बतलावेगा। इसीसे ईश्वर-प्रार्थना करते समय, उनके शरीर में एक प्रकार की शक्ति का संचार हो जाया करता था; और उस समय वे जो कुछ कहा करते थे, उसे उनके मंत्री लिख लेते थे। शिवाजी का उन बातों पर बड़ा विश्वास था। और उनके अनुसार ही वे अपना बर्त्ताव रखते थे। उन बातों के अनुसार, चाहे कोई कार्य कितना ही कठिन क्यों न हो, पर वे उसे अवश्य ही पूरा करते थे। यहां तक कि वे उन शब्दों पर विश्वास रखने के कारण ही औरंगज़ेब के हाथ में जाकर दिल्ली के कारागार में क़ैद रहे। और, उनपर विश्वास रखने के ही कारण वे कालरूपी अफ़ज़लखां के साथ लड़ने के लिये तैयार हो गये थे। उनके तीन बार राज्य-त्याग की, और शरीर में किसी शक्ति के संचार करने की, बातें पढ़कर हम कह सकते हैं कि उन्होंने, भौतिक बातों की ओर ही ध्यान देकर अथवा कोई गुप्त हेतु सिद्ध करने के ही उद्देश्य से, कोई कार्य नहीं किया था, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि, शिवाजी के द्वारा जो कुछ कार्य हुए, वे मनुष्य-जीवन के अत्यंत उदात्त स्वभाव की स्फूर्ति के कारण ही हुए थे।

शिवाजी के चरित्र का यह स्वरूप विदेशी इतिहास-लेखकों को बिलकुल ही मालूम नहीं हुआ। शिवाजी को, उनके समय के लोगों में, आदर्श पुरुष माना गया है। इसका कारण केवल उनका साहस और शूरता ही नहीं, वरन् उनकी उपर्युक्त प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति ही है। महाराष्ट्र का लोकसमाज सर्वदा शांत रहता है, जब उसकी धार्मिक भावनाएं जागृत की जाती हैं, तभी लोक-समाज में चेतना उत्पन्न होती है। गत ३०० वर्षों में मुसलमान-धर्म के सहवास के कारण महाराष्ट्र में, धार्मिक विषय में, बहुत कुछ हलचल मच गई थी, नये नये धार्मिक मतों का चारों ओर प्रचार हो रहा था। रामानन्द, रामानुज आदि प्रसिद्ध वैष्णवाचार्यों के प्रतिपादित धार्मिक तत्वों को लोग स्वीकार करने लग गये थे; और इस प्रकार के उदार धामिक तत्व लोगों के मन पर प्रतिबिम्बित हो गये थे। परमेश्वर के घर उच्च-नीच का कोई भेद नहीं होता; अतः सभी जातियाँ मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं। रामानन्द, कबीर, रामदास, रोहिदास, सूरदास, नानक, चैतन्य आदि प्रसिद्ध महात्मा भी उक्त सिद्धान्तों का ही प्रचार कर रहे थे। साथही मुसलमानों के धर्म के सहवास से हिन्दुओं के तेंतीस करोड़ देवताओं के विचार नष्ट हो रहे थे; और "एको देवः केशवो वा शिवो वा" के तत्व का प्रभाव लोक-समाज पर पड़ता जाता था। महाराष्ट्र में तो उक्त धार्मिक सुधार का कार्य बड़ी शीघ्रता से हो रहा था और साधुसंत चारों ओर राम-रहीम को मानने, जाति-भेद के विचार को त्याग देने और परमेश्वर पर विश्वास रखकर भ्रातृभाव से रहने का उपदेश करते फिरते थे। जिस समय शिवाजी राजनैतिक विषय में मराठों

के नेता बने थे, उसी समय तुकाराम, रामदास, एकनाथ स्वामी, जयरामस्वामी आदि महात्माओं ने लोगों के धर्मगुरु बनने का कार्य स्वीकार कर लिया था। उन धर्मोपदेशकों के स्थापित किये हुए नये धर्म-पंथों में ब्राह्मण, शूद्र आदि सभी उच्च-नीच जातियाँ सम्मिलित हो गई थीं। पंढरपुर तो विट्ठल-भक्तों का दूसरा वैकुंठ ही बन गया था। सहस्रों लोग बहुत दूरी पर से, प्रति वर्ष पंढरपुर की यात्रा करने के लिये जाया करते थे। बड़े बड़े नगरों और छोटे छोटे ग्रामों में भी सदासर्वदा कथा-पुराण हुआ करते थे। जब अकबर का बंद किया हुआ जज़िया कर औरंगज़ेब ने फिर हिन्दू प्रजा से लेना आरंभ कर दिया, तब सवाई जयसिंह ने औरंगज़ेब को जो उपदेश दिया, उससे यह अच्छी तरह मालूम हो जाता है कि कथा-पुराणों का लोक-समाज पर कैसा प्रभाव था। राजा जयसिंह ने औरंगज़ेब से कहा था कि, "परमात्मा केवल मुसलमानों का ही देव नहीं है। वह एक है; और सारे प्राणियों का रक्षक है। मुसलमान और मूर्तिपूजक हिन्दू दोनों उसी के बालक हैं; अतः हिन्दुओं को कष्ट देना मानों परमेश्वर की इच्छा का अपमान करना ही है।" जयसिंह के उक्त उपदेश में बड़े ही उदार तत्व भरे हैं। और वास्तव में उक्त धार्मिक तत्वों की उस समय पूर्णतया जागृति हो गई थी और चूंकि वे लोगों के मन पर प्रतिबिंबित हो गये थे, इसलिए मराठों के व्यवहार बर्ताव में बड़ा परिवर्तन हो गया था। कई मुसलमानों पर भी उक्त तत्वों का प्रभाव स्थापित हो गया था। इसी उदार-मतवादिता के कारण अबुलफ़ज़ल और फ़ैज़ी ने महाभारत तथा रामायण के अनुवाद किये थे। अकबर बादशाह ने तो

हिन्दू और मुसलमान धर्मों के सत्य सिद्धान्तों को चुन कर, एक नया धर्मपंथ स्थापित किया था; और इस प्रकार धार्मिक मतभेद को मिटाने का प्रयत्न किया था। शाहजहां के बड़े पुत्र दाराशाह ने भी उपनिषद और गीता के अनुवाद करवाये थे। इस प्रकार उस समय नये विचारों का प्रचार हो रहा था। कबीर ने उत्तर में और शेख मुहम्मद ने महाराष्ट्र में उन्हीं उच्च तत्वों का प्रचार किया था। उस समय उन्होंने दोनों धर्मों के अंधभक्तों की उपेक्षा की और इस समय भी उन साधुओं को हिन्दू मुसलमान बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं।

उस समय महाराष्ट्र की उक्त परिस्थिति थी। चारों ओर धर्म-जागृति हो जाने के कारण लोगों ने आर्य-धर्म के शुद्ध सिद्धान्तों के अनुसार अपने आचरण को संगठित करने का निश्चय कर लिया था; और उनके भ्रमपूर्ण सिद्धान्त नष्ट हो रहे थे। उन नये तत्वों से लोगों के मन प्रभावान्वित हो जाने के कारण, सभी बातों को स्वीकार करने के लिये, वे बाध्य नहीं किये जा सकते थे। अर्थात् पहले की तरह लोग ज़बर्दस्ती किसी बात को मानने के लिये तैयार न थे, इस कारण जनता को, मुसलमानों के धार्मिक अत्याचार अत्यंत असहनीय मालूम होते थे। साथ ही उन्होंने मुसलमानों को धार्मिक अत्याचार न करने देने का दृढ़ निश्चय भी कर लिया था। कोल्हापुर और तुलजापुर की देवियों के उपासकों ने तो यही बात मन में ठान ली थी तथा भाट और गोंधली (कीर्तनिये) लोगों को इस विषय में सर्वदा जागृत करते रहते थे।

रामदास, तुकाराम आदि सत्पुरुषों के सहवास में रहने के कारण शिवाजी के अन्दर तो उक्त शक्ति का पूर्णतया संचार

ही हो गया था। इसी से उनमें अपूर्व शूरता का आविर्भाव हुआ था। उस आवेश के ही कारण वे लोगों के मन को अपने वश में कर सके थे। अर्थात् केवल राजनीतिज्ञता के ही बल पर उन्होंने स्वराज्य की स्थापना नहीं की थी; किन्तु आध्यात्मिक प्रभाव भी इसके लिये कारणीभूत हुआ था।

इसके अतिरिक्त महाराज शिवाजी का विश्वास था कि जब तक महाराष्ट्र-मंडल में एकता नहीं होगी, तब तक मुसलमानों के अत्याचारों से स्वदेश की मुक्ति नहीं हो सकती। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि शहाजी और दादोजी कोडदेव को उक्त बात का महत्व कैसे मालूम नहीं हुआ? शिवाजी के हतभाग्य पुत्र संभाजी को उपदेश करने के लिए समर्थ रामदासजी ने जो पद्य लिखे थे, उनमें उन्होंने शिवाजी के विषय में अपने विचार अच्छी तरह से प्रकट किये हैं। मराठों में एकता करके स्वदेश और स्वधर्म-विषयक दायित्व का उन्हें पूर्ण ज्ञान कराने ही के लिये शिवाजी ने अत्यन्त परिश्रम किये थे, तथा महाराष्ट्र को राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त कराने के लिये वे बराबर प्रयत्न करते रहे। यदि शिवाजी के उक्त उद्देश के विषय में विचार किया जावे तो उनके द्वारा जो आक्षेपपूर्ण कार्य हुए हैं उनका भी अच्छी तरह से खुलासा हो जायगा। महाराज शिवाजी को यह बात अच्छी तरह से मालूम हो गई थी कि यदि मराठे सरदार अपने हित की ही ओर ध्यान दे कर, अपनी छोटी सी जागीर की रक्षा करने, या उसे बढ़ाने के लिये आपस में ही झगड़ने लगेंगे तो जिस प्रकार ४०० वर्ष पूर्व अफ़ग़ानों ने महाराष्ट्र को जीत लिया था, उसी प्रकार मुग़ल भी उसे धर दबायेंगे। सचमुच वह समय ही इस

प्रकार का था कि सभी लोगों को अपने देश की रक्षा के लिये एक रूप से प्रयत्न करना आवश्यक था। इसी से, जिन लोगों ने उस एकता में बाधाएं डालीं उन्हें—हिन्दू-मुसलमान, शत्रु-मित्र, देशी और विदेशी आदि भावों को अपने मन में न ला कर—शिवाजी ने अच्छी तरह से दंड दिया।

यदि वास्तव में देखा जावे तो हिन्दुओं की पारस्परिक फूट ही के कारण भारत में विदेशियों का प्रवेश हुआ है। हिन्दुओं की तो व्यवस्थित रूप, या एकता से, कार्य करने की आदत ही नहीं है। विशिष्ट नियमों के अनुसार शान्तिपूर्वक कार्य करने, नेता के आज्ञानुसार चलने अथवा अपनी भूल मान लेने का उपदेश उन्हें कभी नहीं भाता। उक्त दुर्गुण उनमें कूट कूट कर भरे हुए थे, अतएव यदि शत्रुओं की व्यवस्थित सेना के आगे उनकी दाल नहीं गली, तो इसमें आश्चर्य मानने की कोई बात नहीं है। इसी से महाराज शिवाजी, हिन्दुओं के उक्त दोषों को नष्ट करके, छोटी छोटी बातों से लेकर बड़े बड़े राजनैतिक कार्यों में भी, समाज के हित में अपना हित, समाज की उन्नति में अपनी उन्नति, और समाज के अपमान ही में अपना अपमान, मानने के भावों की जागृति करने का प्रयत्न कर रहे थे। परन्तु घाटगे, मोरे, घोरपड़े आदि मराठे सरदारों को तो अपने स्वार्थ के आगे अन्य सारी बातें तुच्छ सी जान पड़ती थीं। उन्हें समाज-हित के विषय में कोई चिन्ता नहीं थी। अतः उन लोगों को युक्ति-प्रयुक्तियों के बल पर बलहीन किये बिना शिवाजी का उद्देश पूर्ण नहीं हो सकता था। इसलिये जब उन्होंने उन लोगों का पराभव किया, तभी अन्य सब मराठे सरदार, समाज-हित के प्रीत्यर्थ

अपने स्वार्थ को त्याग देने के लिए तैयार हो गये। मुसलमान राजाओं में भी, आपस में, युद्ध कराने का शिवाजी ने जो प्रयत्न किया उसमें भी उनका एक मात्र वही उद्देश था। यद्यपि किसी समय उन्हें हार जाना पड़ा था, तथापि उन्होंने महाराष्ट्र-मंडल में एकता करके, उनके मन में साम्राज्य-विषयक विचार उत्पन्न कराने के अपने उद्देश को कभी नहीं छोड़ा। उस उद्देश को साधने के लिये उन्हें कई बार असफलता भी मिली, तो भी अन्त में उनके लगाये हुए वृक्ष में, उन्हीं की इच्छा के अनुसार, मीठे फल भी लगे। साथ ही उन्होंने जिस भवन का निर्माण किया था, वह इतना दृढ़ था कि बहुत काल तक वह वैसा ही बना रहा; और यद्यपि विदेशियों के आक्रमणों के कारण मुग़ल बादशाहों के बलवान राज्य भी नष्ट हो गये, तथापि शिवाजी के स्थापित किये हुए साम्राज्य ने विदेशियों को अपने बल का परिचय भली भांति करा दिया।

तीन शताब्दियों तक परिश्रम करके, तैयार की हुई ज़मीन में स्वराज्य-रूपी वृक्ष के बीज बोने का वर्णन समाप्त करने के पहले, हमें यहां पर एक और महत्वपूर्ण बात की चर्चा करनी आवश्यक है। शिवाजी में जैसी चमत्कारपूर्ण आकर्षण-शक्ति थी, वैसी तो मानव जाति के सच्चे पुरस्कर्ताओं में ही देख पड़ती है; केवल लुटेरों या धर्मान्धों में वह कभी दिखाई नहीं दे सकती। जिन लोगों को भावी सुख की आशा और इच्छा थी, उनके मन महाराज शिवाजी ने अपनी ओर आकर्षित कर लिये थे और जिन जातियों पर देश का सम्पूर्ण हिताहित निर्भर रहता है, उन्हीं प्रधान जातियों के नेताओं को उन्होंने अपने मंत्रि-मंडल के लिये चुना था। शिवाजी के दर्शन करते

ही एक साधारण मनुष्य भी स्वदेशप्रेम से युक्त हो जाया करता था। मावले और हेटकरी लोग, केवल लूटने ही के लिये, शिवाजी के प्राणों के लिए अपने प्राण दे देने को तैयार नहीं हो गये थे और कुछ अवसरों पर तो शिवाजी ने मुसलमानों के द्वारा भी अपना कार्य करा लिया था। तानाजी और सूर्याजी मालुसरे, बाजी फसलकर, नेताजी पालकर आदि मावले; बाजी देशपांडे, बालाजी आवजी आदि प्रभू मोरोपंत, आबाजी सोनदेव, अण्णाजी दत्तो, रघुनाथ नारायण-जनार्दनपंत हनमंते आदि ब्राह्मण; प्रतापराव गूजर, हंबीरराव मोहिते, संताजी घोरपड़े, धनाजी जाधव और परसोजी भोंसले, उदाजी पवार, खंडेराव दाभाड़े के पूर्वज आदि मराठे शिवाजी की सेना में थे। उनमें से किसी ने भी शिवाजी के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया था। यह उदाहरण किस बात का दिग्दर्शक है? क्या शिवाजी के अपूर्व गुण और शक्ति को ही उसका मुख्य कारण नहीं कह सकते? जब शिवाजी दिल्ली में मुगलों के कारागार में कैद हो गये थे; तब भी उक्त सरदार अपने कर्तव्य का स्मरण करके अपने नियत कार्य भली भांति करते रहे; और जब महाराज शिवाजी कारागार से मुक्त होकर अपने देश को लौट आये, तब भी उन्होंने उनके प्रभाव को स्थापित करने में सहायता दी। और जब, शिवाजी की मृत्यु के अनंतर, मुगल सेना ने दुष्ट और दुराचारी पुत्र संभाजी को मार कर रायगढ़ में शाहू को क़ैद कर लिया तब भी उक्त सरदार और उनके उत्तराधिकारी, मुगलों के साथ, बड़ी वीरता और धैर्य से युद्ध करते रहे। उस समय यद्यपि उन्हें दक्षिण में पीछे की ओर, हटना पड़ा, तथापि जैसे सिंह अपनी भक्ष्य

वस्तु पर धावा करने के पूर्व पीछे की ओर हट जाता है, उसी प्रकार, उन्होंने पीछे हटकर फिर से अधिक क्रोधित हो औरंगज़ेब पर चढ़ाई कर दी; और उसका पूर्ण पराभव करके दक्षिण को जीत लेने की उसकी सारी आशाएँ नष्ट कर डालीं। जिस प्रकार शिवाजी की वीरता और प्रत्येक मनुष्य पर अपना प्रभाव डालने की शैली अनूठी थी, उसी प्रकार उनका आत्मसंयम भी अपूर्व था। उस समय की शिथिलता और राजाओं की क्रूरता को देखते तो शिवाजी में स्वसंयमन की शक्ति होना बड़े ही आश्चर्य की बात है। यद्यपि युद्ध की सुविधा और द्रव्य के लालच से उनकी सेना ने अनेक निंदनीय कार्य भी किये थे, तथापि उसने गाय, अबला और ग़रीब प्रजा को कभी कष्ट नहीं दिये। स्त्रियों का तो वे बड़ा आदर करते थे और यदि किसी युद्ध में कोई स्त्री उनके पंजे में फँस जाती तो वे उसे आदर के साथ उसके पति के पास पहुंचा देते थे। शिवाजी ने, जीते हुए प्रदेश, कभी किसी को जागीर में नहीं दिये। उनका विश्वास था कि यदि लोगों को जागीरें दी जायँगी तो वे जागीरदार, सारे राज्य को अपने अधिकार में लेकर, बलवान् हो जायँगे; और फिर से आपस में लड़ाई झगड़े मचेंगे, तथा स्वराज्य की नींव निर्बल पड़ जायगी। उनके मंत्रियों ने समय समय पर उक्त प्रकार की जागीरें देने के लिये उन्हें सूचित भी किया, पर शिवाजी ने उस कथन की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। अतः यदि शिवाजी के उक्त आदर्श को उनके उत्तराधिकारी भी अपने सामने रखते तो जिस राष्ट्र रूपी भवन की नींव उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी से जमाई थी, उसी

का प्रत्येक भाग अलग अलग न हो जाता; और वह भवन इतनी जल्दी कदापि नष्ट नहीं होता।

स्वार्थ-त्याग के साथ साथ जागृत धर्माभिमान, अपने आरंभ किये हुए महान् कार्य में ईश्वर के सहायक होने का पूर्ण विश्वास और इसके साथ ही अपूर्व धैर्य तथा साहस, मराठों को भ्रातृप्रेम से जकड़ कर उन्हें विजयश्री दिलाने की अपूर्व शक्ति, उस समय की आवश्यकताओं को शीघ्र ही मालूम कर लेने की दूरदर्शितापूर्ण बुद्धि, अनेक संकटों के उपस्थित होने पर भी एक बार हाथ में लिये हुए कार्य को पूर्ण करने की दृढ़ता, यूरोप अथवा भारतवर्ष के किसी भी इतिहास-प्रसिद्ध पुरुष में न दिखाई देनेवाला प्रसंगावधान और योजनाशक्ति, सच्चा स्वदेशाभिमान और दयापूर्ण न्याय करने की इच्छा आदि गुण छत्रपति शिवाजी में मौजूद थे; और इसी कारण वे एक ऐसे राज्य को स्थापित कर सके, जिसने उनके सभी हेतु पूर्ण करके दिगंत-व्यापिनी कीर्ति प्राप्त की; और भारत के इतिहास में मराठों का नाम अजरामर कर दिया। यहां तक हमने मराठा-साम्राज्य के संस्थापक के स्वभाव का संक्षेप में वर्णन किया। इससे उनके स्वभाव का हमको बहुत कुछ ज्ञान हो गया। अब इस वीर नायक का चरित्र भली भांति हमारी समझ में आ जायगा; और उसके किये हुए अनेक कार्यों के स्वरूप का ठीक ठीक निर्णय करने में हमें किसी बात की असुविधा नहीं होगी।

चतुर्थ परिच्छेद ।

—:○o○:—

बीज कैसे अंकुरित हुआ ?

पिछले परिच्छेद से, हमारे पाठकों को, जिस वीरवर ने मराठों की बिखरी हुई शक्ति को एकत्रित करके महाराष्ट्र-साम्राज्य स्थापित किया, उस अद्वितीय पुरुष के अनेक अपूर्व गुणों का, ज्ञान हो गया होगा। यदि कोई कहे कि शिवाजी महाराज का यदि उदय न हुआ होता तो 'मराठाशाही' का प्रादुर्भाव ही न होता, तो उसका उक्त कथन सर्वथा भ्रमपूर्ण ही होगा। हां, इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि शिवाजी को चारों ओर से सहायता न मिलती, तो वे अकेले महाराष्ट्र को परतंत्रता से मुक्त नहीं कर सकते थे। अर्थात् यदि ज़मीन ही अच्छी न होती तो उनका बोया हुआ बीज सूख जाता या सड़ जाता। मुग़ल-शासन का कष्टप्रद अनुभव प्राप्त करके भी यदि उस समय के लोग शिवाजी को सहायता करने के लिये आनंदपूर्वक तैयार न हो जाते, तो उनके समान बड़े बुद्धिमान पुरुष के प्रयत्न भी निष्फल हो जाते। शिवाजी के चित्ताकर्षक चरित्र ने देशी और विदेशी इतिहास-लेखकों को इतना अंधा बना दिया है कि, उन्हें शिवाजी के सहायकों का महत्व बिलकुल ही मालूम नहीं होता। निस्सन्देह शिवाजी में, उनके समकालीन पुरुषों की बुद्धि, शक्ति और महत्वा-

कांक्षा विशेष रूप से विकसित हुई थी; परन्तु इसके अतिरिक्त और कोई विशेषता उनमें नहीं थी। हां, उक्त इतिहास-लेखक इस बात का बिलकुल ही विचार नहीं करते कि यदि शिवाजी के बोये हुए बीज को उस समय के कर्मवीर पुरुष सिंचित कर के उसकी रक्षा करते, तो महाराष्ट्र-राज्यवृक्ष की उत्पत्ति कैसे हो सकती थी? अतः जहां बड़े बड़े इतिहास-लेखकों को भी उस समय के लोगों की शिवाजी को दी हुई सहायता का महत्व मालूम नहीं होता, वहां यदि हमारे पाठकों को उसका महत्व मालूम न हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। अस्तु। शिवाजी के चरित्र और उनके समय की परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान कराने के लिए हम, इस परिच्छेद में, उनके समय के प्रसिद्ध प्रसिद्ध शूर योद्धाओं, राजनीतिज्ञों तथा धर्मोपदेशकों के संक्षिप्त चरित्र लिखते हैं। यद्यपि उन पुरुषों के चरित्र लिखने के लिये यथायोग्य सामग्री प्राप्त नहीं है, तथापि जो कुछ सामग्री इस समय प्रस्तुत है, उसी के आधार पर हमें उनके चरित्रों पर यथार्थ प्रकाश डालना आवश्यक है। उन लोगों के कार्यों से ही शिवाजी के चरित्र को अत्यंत महत्वपूर्ण स्वरूप प्राप्त हुआ था; और अब भी, हमारा विश्वास है कि, हम उन लोगों को कभी भूल नहीं सकते।

हमें जिन पुरुषों के चरित्रों पर प्रकाश डालना है उन सब में जीजाबाई का चरित्र सर्वश्रेष्ठ है। जीजाबाई का जन्म महाराष्ट्र के प्राचीनतर प्रसिद्ध कुल-यादववंश-में हुआ था। उस समय उनके पिता एक बड़े प्रतिष्ठित सरदार थे। जीजाबाई के विवाह की कथा भी बड़ी आश्चर्यजनक है।

उस कथा से भी उस समय के लोगों का स्वाभिमान और दृढ़ स्वभाव का अच्छा परिचय मिलता है। एक बार मालोजी के पुत्र शहाजी और जीजाबाई बड़े आनन्द से खेल रहे थे। उनके उस खेल को बड़े आश्चर्यभाव से देख कर जीजाबाई के पिता जाधवराव ने मालोजी से कहाः—"देखो तो, यह जोड़ा कैसा अच्छा देख पड़ता है ?" तब मालोजी ने उस बात को ध्यान में रख कर अपने पुत्र का विवाह जीजाबाई के साथ करने की इच्छा प्रकट की। परन्तु जाधव-राव को मालोजीराव जैसे नीची श्रेणी के मराठे के पुत्र के साथ अपनी कन्या का विवाह करने की बात अच्छी नहीं लगी; और उन्होंने उस प्रस्ताव का निषेध किया। मालोजी उस अपमान को नहीं सह सके और वे जाधवराव की शक्ति का सोच विचार न करके, उनके घमंड को हरण करने का उद्योग करने लगे, अन्त में जाधवराव को अपना वचन पूर्ण करना ही पड़ा। अस्तु, केवल इसी बात से उनके धैर्य और स्वाभिमान का पता चल सकता है। जिस प्रकार जाधवराव अपने को देवगिरि के यादव राजघराने का बतलाते थे, उसी प्रकार शहाजी भी अपने को उदयपुर के राजपूत-राजकुल का मानते थे। जीजाबाई का जन्म एक बड़े कुल में हुआ था; और विवाह भी एक प्रतिष्ठित कुल में ही हुआ। परन्तु उन का बड़प्पन केवल उक्त बातों पर नहीं था; वरन् उनके आन्त-रिक गुणों के ही कारण वे अद्वितीय कहलाईं। और यदि किसी साधारण कुल में ही उनका जन्म होता, तो भी उनके अपूर्व आंतरिक गुण कदापि गुप्त नहीं रह सकते थे। जाधवराव मालोजीराव के किये हुए अपमान को कभी नहीं

भूले; इसीसे वे सदासर्वदा भोंसलों से द्वेष किया करते थे। जब अहमदनगर और दौलताबाद के राजदरबारों की सारी शक्तियां शहाजी के अधीन हो गईं, तब तो जाधवराव के हृदय की द्वेषाग्नि और भी अधिक प्रज्वलित हो उठी; और उन्होंने मुग़लों से मित्रता करके शहाजी को अहमदनगर की रक्षा न करने के लिये बाध्य किया। उस समय शहाजी ने बेबश हो कर, अपनी स्त्री जीजाबाई को, उसके पिता के कारागार में अकेली ही छोड़ कर, आप बीजापुर की ओर चल दिये; पर उस दशा में भी जाधवराव उनका पीछा करते ही रहे। उस समय जीजाबाई पर तो एक महान् संकट ही उपस्थित हो गया था। उन्हें किसी का भी सहारा नहीं था। परन्तु वे अपने धैर्य के बल पर ही अपना समय बिताती रहीं। उस दशा में उन्हें परतंत्रता से होनेवाले अपमान का अच्छा अनुभव प्राप्त हुआ। उसी समय शिवनेर के क़िले में, उनके पवित्र कोख से, महाराज शिवाजी का जन्म हुआ। अतः वे बाल शिवाजी के कारण अपने सारे कष्टों को भूल गईं। जिन देवी भवानी ने, संकट के समय, उनकी और उनके छोटे बालक की रक्षा की; उन्हीं देवी भवानी पर पूर्ण विश्वास रख कर उन्होंने शिवाजी का पालन किया। कुछ समय के अनंतर वे, शहाजी के आज्ञा के अनुसार, पूना में रहने लगीं। उस समय दादोजी कोंडदेव शहाजी की पूना प्रांत की जागीर का प्रबंध करते थे। शिवाजी के जीवन का बहुत सा समय पूना के आस-पास के पहाड़ी प्रदेश में ही बीता, इस कारण वे बड़े बलवान्, सहनशील और धैर्यशाली हो गये थे। इसके अतिरिक्त जीजाबाई ने उन्हें, उस समय की आवश्यकता के अनुसार,

उन्हें शिक्षा भी दी। शिवाजी का अपनी माता पर अत्यंत प्रेम था। उनके पिता शहाजी सर्वदा बीजापुर और तंजौर की ही ओर रहा करते थे, जिससे अनायास ही उन्हें अपनी माता के सुखद सहवास का लाभ होता था। वे प्रत्येक कार्य अपनी माता के परामर्श के अनुसार ही करते थे। जब माताजी किसी कार्य के लिए उनका अभिनंदन करतीं, तभी वे अपने परिश्रम को सफल मानते थे; और नई चढ़ाइयां करने के लिये उत्साहित हो जाते थे। जीजाबाई के मधुर उपदेशामृत पान के ही कारण वे अधिक धार्मिक और कर्मण्य बन गये थे। वे उन्हें महाभारत और रामायण की युद्ध-कथायें सुनाया करतीं थीं। शहाजी की मृत्यु हो जाने पर उन्होंने सती होने की इच्छा प्रकट की, पर शिवाजी ने उनकी बड़ी प्रार्थना कर के उन्हें उस कार्य से विरत किया। जब शिवाजी दिल्ली को गये, तब भी उन्होंने सारा राज्यकार्य उन्हीं को सौंपा था। वे जब किसी कठिन कार्य को पूर्ण करने के लिये चलते थे, तब पहले अपनी माता से आशीर्वाद मांगते थे; और वे भी "परमेश्वर तुम्हारे सहायक हैं और तुम्हें अवश्य ही सफलता प्राप्त होगी" यह कह कर उन्हें धैर्य दिलातीं; और कार्य को पूर्ण करने के लिये बिदा करती थीं। यह एक अमिट सिद्धांत है कि माता अपने बालक के कोमल अन्तःकरण पर जैसा प्रभाव डालती है, वैसा ही वह भविष्य में बन जाता है। माता की सुशिक्षा ही के कारण नेपोलियन आदि नररत्न इस पृथ्वी पर प्रसिद्ध हो गये हैं। और वास्तव में महाराज शिवाजी के उदय का भी मुख्य कारण उनकी माता ही थीं। जीजाबाई के ही द्वारा उन्हें अनेक अलौकिक गुण प्राप्त हुए थे और जीजाबाई

जैसी माता की कोख से जन्म पाने ही के कारण महारा शिवाजी का नाम, इस पृथ्वी पर, चिरस्थायी हो गया है।

जीजाबाई की ही तरह, शिवाजी के चरित्र पर, दादोजी कोंडदेव की सुशिक्षा का भी अच्छा परिणाम हुआ। दादोजी कोंडदेव का जन्म पूना प्रदेश के मालथान नामक ग्राम में हुआ था। उन्होंने कई स्थानों पर नौकरी की थी और उस समय पूना ज़िले की शहाजी की जागीर का प्रबंध किया करते थे। शहाजी के कर्नाटक प्रदेश में रहने के कारण शिवाजी की शिक्षा का कार्य दादोजी कोंडदेव को ही सौंपा गया था। दादोजी ने शहाजी से भी कहीं अधिक प्रेम और आन्तरि अभिलाषा से शिवाजी की शिक्षा का प्रबंध किया था। दादोजी कोंडदेव के निरीक्षण में ही सुशिक्षा पाने के कारण शिवा महाराष्ट्र को दासत्व से मुक्त करने के कार्य में सफल-मनोर हुए। दादोजी बड़े बुद्धिमान्, अनुभवी और समय के अनुसा कार्य करनेवाले थे। वे शिवाजी का आवारापन बिलकुल पस नहीं करते थे; परन्तु शिवाजी के विषय में उनका प्रेम क कम नहीं हुआ। कुछ समय बीत जाने पर दादोजी को विश्वास हो गया कि शिवाजी कोई साधारण व्यक्ति नहीं है धीरे धीरे उनके मन में भी यही विश्वास होता गया कि त शिवाजी के मन में जो विचार और कल्पनाएँ रातदि उठती हैं और यद्यपि वे सिद्ध नहीं हुई हैं; तथापि उन्हें प करने का प्रयत्न करना भी कोई कम महत्व की बात न होगी। हां, इसमें सन्देह नहीं कि यदि दादोजी जैसे शिक्ष का डर न होता, तो शिवाजी की उच्छृङ्खलता अवश्य अमर्यादित हो जाती। दादोजी ने शिवाजी को आवश्य

युद्धनीति और राजनीति की शिक्षा भी दी थी। दीन और मूर्ख जंगली मावलों तथा मराठों को शूर योद्धा बनाने और उन पर अपना प्रभाव स्थापित करने की अपूर्व कला का ज्ञान भी उन्हें दादोजी के द्वारा ही प्राप्त हुआ था। राजनीति में तो दादोजी अद्वितीय थे। शहाजी की जागीर का प्रबन्ध उनको सौंपे जाने के पूर्व उस प्रदेश की दशा अच्छी नहीं थी। अकाल के कारण प्रजा बिना अन्न के भूखों मरती थी तथा जागीर की सीमा पर ही, मुग़ल सेना और बीजापुरवालों के बीच सदा सर्वदा बखेड़े हुआ करते थे, अतएव वह प्रदेश बिलकुल उजाड़ हो गया था। भेड़ियों और चोरों के कारण वहां पर खेती करना कठिन हो रहा था। यहां तक कि प्रत्यक्ष पूना भी उजड़ गया था। परन्तु दादोजी के हाथ में उस प्रदेश का प्रबन्ध आते ही, उन्होंने उसकी अच्छी व्यवस्था की। उन्होंने पारितोषिक लगाकर भेड़ियों को मरवा डाला, और चोरों का भी नाश किया। फलतः जागीर से, आवश्यक व्यय करने पर भी, बचत होने लगी। इस प्रकार ज्यों ज्यों अधिक बचत होने लगी, त्यों त्यों वे सेना को भी बढ़ाते गये। उन्होंने नये घुड़-सवार नौकर रखे, अनेक क़िलों की मरम्मत करवाई और उनकी रक्षा करने के लिये फौज भी रखी। इस प्रकार जागीर के प्रदेश में जब चारों ओर शांति स्थापित हो गई, तब लोग अपनी जान व माल की रक्षा के विषय में निश्चिन्त हो गये और पूना, सूपा, बारामती, इंदापुर और मावल आदि जागीर के सारे परगनों के निवासी आनन्दपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगे। बाग़ों की उपज भी अच्छी होने लगी और वृक्ष भी अच्छी तरह से लगाये जाने लगे। शिवापुर के वर्तमान

बाग़ भी दादोजी के समय में ही तैयार किये गये थे उनके देखने से दादोजी की बुद्धिमत्ता का भली भांति परिचय हो जाता है। दादोजी का शासन भी बड़ा कड़ा था। एक बार अपने स्वामी शहाजी के बाग़ से एक आम लेने की उन्हें इच्छा हुई। परन्तु तुरन्त ही उन्होंने मालिक की आज्ञा के बिना आम तोड़ने का विचार रोक लिया; और इस पाप के प्रायश्चित्त में पास के लोगों से अपना दाहना हाथ काट डालने को आज्ञा दी; पर उन लोगों ने उनका कहना नहीं माना; और उन्होंने दादोजी को समझा-बुझा कर उनके हाथ की रक्षा की। परन्तु उन्होंने उस पापी हाथ को, सदैव लोगों के सामने रखने के लिए, अपने अँगरखे में दाहिनी बांह का रखना ही छोड़ दिया। आगे चलकर शहाजी के अनुरोध से उन्हें उस भ्रम को त्याग देना पड़ा। दादोजी की केवल यही आन्तरिक इच्छा थी कि शहाजी और मालोजी की तरह शिवाजी भी एक बलवान् सरदार बनें। उस समय उनके मन में, शिवाजी की तरह, सभी मराठे सरदारों में एकता करके, स्वदेश को मुग़लों के कष्ट से छुड़ाने का विचार उत्पन्न नहीं हुआ था। परन्तु जब उन्हें उक्त कार्य को पूर्ण करनेवाली, शिवाजी की आन्तरिक शक्ति का परिचय हो गया, तब उन्होंने अपने आग्रह को छोड़ दिया; और अन्त में यह आशीर्वाद देकर कि "तुम्हारे आरंभ किये हुए सत्कार्य में तुम्हें सफलता प्राप्त हो," उन्होंने परलोक का मार्ग लिया। ज़मीन के कर और राज्य-प्रबंध के कार्य में तो शिवाजी ने दादोजी कोंडदेव की प्रथा का ही अनुकरण किया था। अतः यदि वास्तव में देखा जावे तो उच्छृङ्खल तरुण शिवाजी को यदि दादोजी के

सदृश मार्गदर्शक न मिलता, तो उनके द्वारा स्वराज्य-वृक्ष कदापि न लगाया जा सकता; और न वह चिरस्थायी ही होता।

तोरणा क़िला जीत कर और रायगढ़ की क़िलेबन्दी करके महाराष्ट्र-राज्यरूपी भवन की नीवँ का पत्थर अभी शिवाजी ने रखा ही था, कि इतने में दादोजी का शरीरान्त हो गया। दादोजी ने लगभग १० वर्ष तक शहाजी की जागीर का प्रबंध किया। इस अवधि में उनके सहायक लोग भी अपने अपने कार्यों में चतुर हो गये थे। इधर ज्यों ज्यों स्वराज्य बढ़ता गया, त्यों त्यों शिवाजी को उनसे बड़ी सहायता मिली। आवाजी सोनदेव, रघुनाथ बल्लाल, शामराजपंत, बड़े पिंगले (मोरोपंत पिंगले के पिता) आदि लोगों को राज्यप्रबंध और सैनिक शिक्षा दादोजी के द्वारा प्राप्त हुई थी। वे लोग शिवाजी को सदा उत्साहित किया करते थे। इनके अतिरिक्त अप्पाजी दत्तो, निराजी पंडित, रघोजी सोमनाथ, दत्ताजी गोपीनाथ, रघुनाथपंत और गंगाजी मंगाजी आदि लोगों से भी, स्वराज्य स्थापित करने में शिवाजी को बड़ी सहायता मिली थी। महाराष्ट्र में, स्वदेश को यवनों के कष्टों से छुड़ाने के लिए, जो नई हलचल मच गई थी, उसके लिये प्रत्येक युक्ति या उपाय यही लोग सुझाते थे। उनके बतलाये हुए कार्यों को पूर्ण करने के लिये शिवाजी के बलवान् और धैर्यशाली बालमित्र येसाजी कंक, तानाजी मालुसरे, बाजी फसलकर आदि मावले वीर तैयार हो जाते थे। उन मावले वीरों को सहायता देने के लिये फिरंगोजी नरसाला, संभाजी कावजी, माणकोजी दशमुख, गोमाजी नाइक, नेताजी पालकर, सूर्याजी मालुसरे, हिरोजी फर्जंद, देवजी गाढवे आदि मावले भी सदा सर्वदा तैयार रहा

करते थे। उनके अतिरिक्त महाड़ के मुरार बाजी प्रभू, हिरडे मावल के बाजी प्रभू और हबसान के बालाजी आवजी चिटनीस आदि मुख्य मुख्य प्रभू जाति के वीर भी उन लोगों में सम्मिलित हो गये थे। मुरार प्रभू और बाजी प्रभू तो पहले मुगलों के पास नौकर थे। परन्तु शिवाजी ने उनके शौर्य को देखकर उन्हें अपनी सेना में रख लिया था। शिवाजी में ऐसे अपूर्व गुण थे, जिनके कारण उनके शत्रुओं को भी, उनसे मित्रता करके, उनकी सेवा करने की इच्छा होती थी। शिवाजी को पहले तो मुख्यतः ब्राह्मण, प्रभू और मावलों से ही सहायता मिली थी। बीजापुर और अहमदनगर के दरबारों में नौकरी करनेवाले मुख्य मुख्य मराठे सरदारों ने उस समय उन्हें बिलकुल ही सहायता नहीं दी। केवल इतना ही नहीं, वरन् वे तो उनको हराने का भी यथाशक्ति प्रयत्न करते रहे। तब उनके उक्त कार्यों के कारण, बेवश होकर, शिवाजी को उन्हें दंड देना पड़ा। उन लोगों में बाजी मोहिते नामक शहाजी के एक संम्बधी थे। परन्तु शिवाजी को, सूपे को जीत लेने के समय, उसे भी क़ैद करके कर्नाटक की ओर भेज देना पड़ा।

मुधोल के बाजी घोरपड़े ने भी बड़ी नीचता की। उसने बीजापुर-दरबार के उकसा देने से, शहाजी को पकड़ने के लिये एक गुप्त षड्यंत्र रचा। पर शिवाजी ने उसे उस दुष्ट कर्म का अच्छा बदला चुकाया। जावली के मोरे ने भी शिवाजी को मार डालने के लिये बीजापुर-दरबार के भेजे हुए एक ब्राह्मण को अपने प्रदेश में आश्रय दिया था; पर जब शिवाजी को उक्त समाचार मालूम हो गया, तब उन्हें अपनी रक्षा के लिये मोरे का नाश करना पड़ा। यद्यपि मोरे का नाश करने के लिये

उन्हें बुरे उपाय को स्वीकार करना पड़ा था, तथापि उसके लिये केवल वे ही उत्तरदाता नहीं कहे जा सकते। नीच मनुष्य को दण्ड देने के लिये कभी कभी नीच मार्गों का भी अवलंबन करना पड़ता है। कांटे से ही कांटा निकालना पड़ता है। वाड़ी के सामंत, कोकन के दलवी और शृंगारपुर के शिरके ने शिवाजी के महान कार्य में अनेक विघ्न उपस्थित किये थे; इससे उन्हें, उनको भी धर दबाकर, अपने अधीन कर लेना पड़ा था। फलटन के निंबालकर, म्हसवड़ के माने झुंजारराव घाटगे आदि बड़े बड़े मराठे लोग भी स्वदेश का उद्धार करनेवाले शिवाजी प्रभृति नये दल के साथ, बीजापुर की ओर से युद्ध करते थे।

इससे ज्ञात होता है कि शिवाजी की उस नई राष्ट्रीय हलचल का सारा भार केवल मध्यम श्रेणी के लोगों पर ही था। पुराने मराठे सरदारों ने पहले उस कार्य में बिलकुल सहायता नहीं दी; पर ज्यों ही शिवाजी को अपने कार्य में सफलता मिलने लगी, त्योंही वे लोग भी उनके पक्ष में सम्मिलित हो गये। प्रतापराव गूजर, हंबीरराव मोहिते, शिदोजी निंबालकर, संभाजी मोरे, सूर्यराव काकड़े, संताजी घोरपड़े, धनाजी जाधव, खंडेराव दाभाड़े परसोजी रूपाजी भोंसले, नेमाजी शिंदे आदि लोग, शिवाजी के अंतिम समय में, बहुत प्रसिद्ध हुए। जब उस राष्ट्रीय कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये उक्त बड़े बड़े लोग तैयार हो गये तब छोटे छोटे लोग भी उसके लिये अपना आत्मसमर्पण करने को आगे बढ़े। पर यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि जिन लोगों को हम मूढ़ समझते हैं, उन्हीं लोगों ने सब से पहले

महाराष्ट्र को स्वतंत्र बनाने का कार्य अपने हाथ में लिया, और जब उनके उस कार्य में सफलता प्राप्त होने के चिन्ह देख पड़े, तब समाज के नेता कहलानेवाले लोग भी उनमें सम्मिलित हो गये।

कुछ मुसलमान लोगों पर भी उस नई हलचल का अच्छा प्रभाव पड़ा था। दर्यासुरंग नामक एक मुसलमान ही शिवाजी की जल-सेना का मुख्य सरदार था। उसने मुग़लों के सिद्दी जलसेनाध्यक्ष को ख़ूब ही छकाया। शिवाजी की पठान सेना का सेनापतित्व भी इब्राहीमखां नामक एक मुसलमान सरदार के ही हाथ में था। शिवाजी बीजापुर और गोलकुंडा के दरबारों से निकाले हुए मुग़ल सिपाहियों को भी अपने पास नौकर रख लेते थे। उन्होंने उन सिपाहियों की एक स्वतंत्र पलटन बनाई थी।

शिवाजी के यहां कितने ब्राह्मण, प्रभू, मराठे और मावले थे, तथा एक दूसरे के मुक़ाबले उनका क्या परिमाण था, आदि बातों का वर्णन ग्रांट डफ साहब ने अपने इतिहास में दिया है। उनका कथन है कि शिवाजी की सेना में मुख्यतः २० ब्राह्मण, ४ प्रभू और १२ मावले तथा मराठे सरदार थे। मुग़लों और बीजापुर के दरबारों में भी १४ मराठे सरदार थे। ब्राह्मण सरदारों में से पंडितराव और न्यायाधीश नामक दो अधिकारियों के अतिरिक्त शेष सभी को, राज्य-प्रबंध के अतिरिक्त, यथासमय सैनिक कार्य भी करने पड़ते थे। उन लोगों ने वे कार्य अच्छी तरह से किये थे। यद्यपि ग्रांट डफ की संख्या मराठी बखरों में लिखी हुई संख्या से नहीं मिलती, तथापि विभिन्न जातियों के उपर्युक्त परिमाण में कोई विशेष

अंतर नहीं जान पड़ता है। चिटनीस की बखर में शिवाजी के यहां ५० ब्राह्मण और प्रभू सरदारों तथा ४० मराठे सरदारों की चर्चा की गई है। पर बखर के अंत में उन्होंने ४५ ब्राह्मणों और ७५ मावले और मराठों के नाम लिखे हैं, जिससे ज्ञात होता है कि शिवाजी के समय में सभी जातियों के कुल १०० मनुष्य अधिक प्रसिद्ध थे और मुग़लों को हराकर रायगढ़ में स्थापित किये हुए हिन्दू साम्राज्य के तो वे ही सच्चे आधार थे। इस छोटे से इतिहास में उन सभी लोगों के चरित्र लिखना बिलकुल ही असंभव है। यदि हम उनके चरित्रों का दिग्दर्शन मात्र भी करावें, तो भी यह ग्रंथ विस्तृत हो जायगा। अतः जिन लोगों ने अपने नाम प्रत्येक महाराष्ट्रीय के हृदय-पटल पर सदा के लिये अंकित कर दिये हैं, जिनकी कीर्ति का गान महाराष्ट्रीय कवियों ने किया है; और जिनके अलौकिक कार्यों का वर्णन बखरकारों ने अपनी बखरों में लिख कर उनके नाम चिरस्थायी बना दिये हैं, उन्हीं चुने हुए वीर पुरुषों के चरित्रों का हम यहां पर वर्णन करेंगे। इससे हमारे कथन का यह उद्देश नहीं है कि अन्य लोगों का महत्व कम है। नहीं, उन लोगों ने भी अपनी योग्यता के अनुसार महत्वपूर्ण कार्य करके स्वदेश के उद्धार में भाग लिया था। उस समय ब्राह्मणों में हनुमंते बड़े प्रसिद्ध थे। जिस प्रकार दादोजी कोंडदेव को शहाजी की पूना की जागीर का प्रबंध सौंपा गया था, उसी प्रकार कर्नाटक प्रांत के प्रबन्ध का कार्य नारोपंत हनुमंते को दिया गया था। नारोपंत की तरह उनके दो पुत्र रघुनाथपंत और जनार्दनपंत भी बड़े बुद्धिमान थे। शिवाजी के भाई व्यंकोजी को, तंजोर प्रांत में, एक नया राज्य

स्थापित करने में विशेषतः रघुनाथपंत ने ही सहायता की थी। परन्तु जब उनमें और व्यंकोजी में अनबन हो गई, तब वे जिंजी दुर्ग को लेकर अर्काट, बेलूर और मैसोर प्रांत के थोड़े से प्रदेश का ही प्रबंध करने लगे। उन्हीं के अनुरोध से शिवाजी ने कर्नाटक प्रदेश पर चढ़ाई की थी और उस चढ़ाई के समय रघुनाथपंत ने अपने हाथ का सारा प्रदेश शिवाजी को सौंप दिया था। जब औरंगज़ेब ने संभाजी को क़ैद करके मराठों के सभी क़िलों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, तब मराठों को दक्षिण की ओर भाग जाना पड़ा; और उस संकट के अवसर पर उन्हें दक्षिण के उक्त प्रदेश के ही कारण, बड़ी सहायता मिली थी। उस समय मराठे सरदार कुछ समय तक तो जिंजी की मज़बूत किलेबन्दी के आश्रय में ही रहे; और वहीं पर औरंगज़ेब से बदला लेने की तैयारी भी करते रहे। इसके बाद उन्होंने फिर से स्वदेश को लौट कर औरंगज़ेब को हराया। रघुनाथपंत के भाई जनार्दनपंत तो शिवाजी की ही सेना में थे और वे अनेक युद्धों में मुग़लों के साथ लड़े थे। इस प्रकार वे पिता-पुत्र महाराज शिवाजी के बड़े सहायक हुए थे। उनके सदृश वीर और राजनीतिज्ञ पुरुष जगत् में बिरले ही होंगे।

मोरोपंत पिंगले तो शिवाजी के दाहिने हाथ ही थे। उन्होंने उत्तरीय कोकन और बागलान में शिवाजी के शासन को स्थापित किया था। उस महत्वपूर्ण कार्य के बदले शिवाजी ने उन्हें अपना पेशवा बनाया था। वे दुर्ग बनाने और सेना को तैयार करने के कार्य में बड़े चतुर थे। मोरोपंत के पिता कर्नाटक में शिवाजी के पास नौकर थे। उन्होंने कुछ दिनों तक

अपने पिताजी के पास रहकर फिर कर्नाटक प्रदेश को छोड़ दिया था; और स्वदेश में आकर सन् १६५३ में शिवाजी की सेना में नौकरी कर ली थी। उस समय उनकी अवस्था बहुत कम थी। मोरोपंत के पहले शामराजपंत पेशवा थे। जब वे कोकन प्रदेश के सिद्दी और सावंत की बग़ावत को नहीं मिटा सके, तब शिवाजी ने उस कार्य को करने के लिये मोरोपंत को ही भेजा था। मोरोपंत ने बड़ी वीरता से उस कार्य को पूरा किया। उस समय के प्रायः सभी युद्धों में मोरोपंत ने भाग लिया था। शिवाजी के अनन्तर वे अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहे। जब बालाजी विश्वनाथ को शाहू महाराज की ओर से सन् १७१४ में पेशवा का पद मिला, तब तक वह कार्य मोरोपंत के ही वंशजों के हाथ में था। राजनैतिक बातों में मोरोपंत ही शिवाजी के मुख्य परामर्शदाता थे और उस समय के प्रसिद्ध सेनापति भी वे ही थे। उनके सदृश बुद्धिमान और सच्चा राजभक्त कम से कम उस समय के लोगों में तो दूसरा कोई भी नहीं था।

आबाजी सोनदेव भी हनुमंते और पिंगले की ही श्रेणी के थे। उन्होंने केवल अपने ही प्रदेश का प्रबंध नहीं किया, वरन् अन्य प्रदेशों पर चढ़ाइयां भी की थीं। उन्होंने सब से पहले कल्याण प्रदेश पर चढ़ाई की। मुग़ल सेना उस प्रदेश को बारम्बार जीत लेती थी, पर आबाजी सोनदेव के कोकन सूबा का तो वही सैनिक स्थान था। मोरोपंत की तरह वे भी दुर्ग-निर्माण में बड़े निपुण थे। जब शिवाजी दिल्ली को गये, तब, उनके पीछे, राज्यशासन के कार्य में जीजाबाई को योग्य परामर्श देने के लिए आबाजी सोनदेव और मोरोपंत

ही नियत किये गये थे। पहले तो [illegible]वाजी मुजूमदार पद पर थे, पर शिवाजी के राज्याभिषिक्त हो जाने पर, उनके पुत्र अष्टप्रधानों में अमात्य बनाये गये थे।

राघोबल्लाल अत्रे ने भी सिद्दियों के साथ युद्ध करने में बड़ी कीर्ति प्राप्त की, और चन्द्रराव मोरे का पराभव करने में वे ही अगुआ बने थे। शिवाजी ने उनकी वीरता देखकर उन्हें अपनी पठान सेना का सेनापति बनाया था।

उस समय अप्पाजी दत्तो भी बड़े प्रसिद्ध थे। वे पहले तो पंत सचिव और फिर सुरनीस बनाये गये थे। पन्हाला और रायगढ़ के जीतने में उन्होंने बड़े परिश्रम किये और कोंकन की लड़ाइयों में योग दिया था। उन्होंने कर्नाटक पर पहिली चढ़ाई करके हुबली नगर को लूटा था। कोंकन के उत्तरीय प्रदेश का प्रबंध तो आबाजी सोनदेव और मोरोपंत को सौंपा गया था, तथा तल-कोंकन की व्यवस्था अप्पाजी दत्तो के हाथ में थी। शिवाजी के दिल्ली चले जाने पर उन्होंने जिन लोगों को अपने राज्य की रक्षा का का कार्य सौंपा था, उन्हीं में अप्पाजी दत्तो भी थे।

दत्तोजी गोपीनाथ मंत्री थे; और वाकनीस का काम भी उन्हीं के अधिकार में था। शिवाजी के घरेलू कामों का प्रबंध भी वे ही किया करते थे। जिस समय शिवाजी ने उनको अपना वकील बनाकर अफ़ज़लखां के पास भेजा था उस समय उन्होंने बड़े महत्व का कार्य किया। सखाराम बापू बोकील भी इन्हीं दत्तोजी गोपीनाथ के वंशज थे, जो आगे चल कर महाराष्ट्र इतिहास में एक बड़े प्रसिद्ध पुरुष हुए।

राघोजी सोमनाथ को वरार प्रदेश के जीतने का कार्य सौंपा गया था। वे कभी कभी कोंकन के युद्धों में भी भाग लिया करते थे। राघोजी के पिता सोमनाथ डबीर (मुंशी) थे; और पर-राष्ट्रों से स्वराज्य-विषयक हिताहित-संबंधी कार्य उन्हीं को सौंपे गये थे। सोमनाथ की मृत्यु हो जाने पर शिवाजी ने वे दोनों कार्य जनार्दन हनुमंत को सौंपे थे।

नीराजी रावजी न्यायाधीश थे; और उनके पुत्र प्रल्हाद, शिवाजी की ओर से, गोलकुंडा के दरबार में वकील थे। राजाराम के शासन-काल में इन्हीं प्रल्हादराव ने, जिंजी के घिर जाने पर भी, उसकी रक्षा की, जिससे राजाराम ने उन्हें पंतप्रतिनिधि बनाया था।

उस समय प्रभू जाति के जितने वीर और राजनीतिज्ञ प्रसिद्ध थे, उनमें मुरार बाजी, बाजी प्रभू और बालाजी आवजी बहुत ही प्रसिद्ध हो गये हैं। मुरार बाजी पंढरपुर के क़िलेदार थे। जब दिलेरखां ने पंढरपुर को घेर लिया था, तब इसी वीर ने बड़े शौर्य से आत्म-त्याग करके उस नगर की रक्षा की थी। (बाजीप्रभू पहले शिवाजी के शत्रुओं की ओर थे, पर पीछे से वे महाराज शिवाजी के बड़े विश्वासपात्र हो गये थे) जब शिवाजी को पकड़ने के लिये बीजापुर के सरदार आये; और उनको शिवाजी के पन्हाले से रायगढ़ की ओर चले जाने का समाचार मालूम हुआ, तब वे लोग शिवाजी का पीछा करने लगे। उस समय लोगों को उनके रायगढ़ तक, सुरक्षित रूप से, पहुँचने में बड़ी चिन्ता हुई। वह एक बड़ा ही संकटमय अवसर था, जिसे बाजी प्रभू ने ही सम्हाला था। महाराजा

शिवाजी के रायगढ़ तक सुरक्षित रूप से पहुँच जाने की तो जब तक सुनाई नहीं दीं, तब तक मुसलमान सेना का मार्ग बड़ी दृढ़ता के साथ रोके रहे; और मार्ग के एक कठिन भाग पर केवल १००० सैनिकों के साथ वे बड़ी वीरता से डटे रहे। बीजापुर-सरदारों की असंख्य सेना ने उस समय कई युक्ति का अवलम्बन किया, पर उस बहादुर ने उसको एक कदम भी आगे की ओर बढ़ने नहीं दिया। यद्यपि बड़ी बुरी तरह से घायल होकर वह वीर लोहूलुहान हो गया था, तथापि रांगणा क़िले की तोपों के शब्द सुनाई देने तक उसने रणभूमि को नहीं छोड़ा; और अंत में तोपों के शब्द सुनकर ही उस वीर ने अपने प्राण त्यागे। धन्य है उस स्वामिभक्त और स्वदेशाभिमानी वीर को! यदि ऐसे ऐसे वीररत्न शिवाजी के सहायक न होते, तो केवल उनके हाथ से क्या हो सकता था? अतः यदि ग्रीस के इतिहास में, जर्जिज़ की असंख्य सेना के सामने ३०० स्पार्टन लोगों के थर्मापली में किये हुए पराक्रम को पढ़ कर आश्चर्य माननेवाले लोग बाजी प्रभू को लिओ-निडस कहें, तो वह सर्वथा योग्य ही होगा।

बालाजी आवजी हबशियों के आश्रित एक सरदार के वंशज थे और बालाजी विश्वनाथ की भांति उन्हें भी अपनी रक्षा करने के लिये अपने निवास-स्थान को त्याग देना पड़ा था। सन् १६४८ में शिवाजी ने उनकी बुद्धि की परीक्षा कर उन्हें अपना मुख्य चिटनवीस बनाया था। उनके पुत्र और नाती ने भी राजाराम के समय में, बड़े बड़े महत्वपूर्ण कार्य किये थे। "चिटनीस की बखर" जो प्रसिद्ध है, उसी वंश के एक पुरुष ने लिखी है।

मावले सरदारों में से येसाजी कंक मावलों की पैदलपलटन के मुख्य सेनापति थे। उन्होंने शिवाजी के शासन-काल के आरम्भिक दिनों में, प्रदेशों को जीतने में, बड़ी सहायता की थी। वे और तानाजी सदासर्वदा महाराज शिवाजी के ही साथ रहा करते थे। जब शिवाजी ने अफ़ज़लखां का वध किया; और शाइस्ताखां के घर में घुस कर उस पर चढ़ाई की, तब भी वे दोनों उन्हीं के साथ थे। इसके अतिरिक्त जब शिवाजी दिल्ली को गये थे, तब भी उन्होंने उनका साथ नहीं छोड़ा था।

तानाजी मालुसरे और उनके भाई सूर्याजी ने सिंहगढ़ को जीतने में अपूर्व पराक्रम किया था। वे दोनों भाई अपने प्राणों की चिन्ता न करके, क़िले पर चढ़ गये; और उसको बड़ी वीरता से विजय किया। इस प्रकार 'गढ़' (क़िला) तो प्राप्त हो गया, किन्तु तानाजी 'सिंह' चला गया। सिंह-गढ़-विजय का वर्णन करते हुए महाराष्ट्र-कवियों ने इन उभय-बंधुओं की कीर्ति का गान करके उनके नाम अमर बना दिये हैं।

बाजी फसलकर की मृत्यु कोकन में सावंतों के युद्ध में हुई थी। फिरंगोजी नरसाला चाकन के क़िलेदार थे; और सन् १६०४ ई० में उन्होंने वह क़िला शिवाजी को सौंप दिया था। जो लोग पहले शत्रु थे; और फिर शिवाजी के परम मित्र बन गये; उन्हीं में बाजी फसलकर भी एक थे। जब मुग़लों ने चाकन को फिर से ले लिया, तब उन्होंने बाजी फसलकर को भी अपनी नौकरी के लिये बुलाया। पर फसलकर ने उनकी चिकनी-चुपड़ी बातों को नहीं माना; और उन्होंने महाराज शिवाजी की ही सेना में नौकरी कर ली।

संभाजी कावजी और रघुनाथपंत ने जावली की चढ़ाई में मुख्य भाग लिया था। इसी चढ़ाई में चन्द्रराव मोरे की हत्या हुई थी। जिस प्रकार येसाजी कंक पैदल सेना के मुख्य अधिकारी थे, उसी प्रकार नेताजी पालकर भी घुड़सवारों के मुख्य सरदार थे। शिवाजी के अन्य सभी सरदारों की अपेक्षा वे बड़े साहसी और दृढ़ थे। उन्होंने अहमदनगर, जालना और औरंगाबाद तक के पूर्वीय प्रदेश को लूटा था; और जहां कहीं कोई संकट उपस्थित होता, वे वहीं पर उपस्थित हो जाया करते थे।

प्रतापराव गूजर भी घुड़सवारों के ही एक सेनापति थे। शिवाजी ने बागलान की मुग़ल सेना तथा पन्हालखोरी की बीजापुर-सेना के पराभव करने का कठिन कार्य उन्हीं को सौंपा था। उन्होंने अपने स्वामी की इच्छा के अनुसार उस कार्य को बहुत अच्छी तरह पूर्ण किया। शिवाजी ने मुग़ल बादशाही सेना के साथ सुलह करके औरंगाबाद में अपनी जो सेना रखी थी, उसके नेता प्रतापराव ही थे। बीजापुर-वालों की सेना का ठीक ठीक पीछा न कर सकने के कारण शिवाजी ने उन्हें बहुत कुछ कहा-सुना था। वह बात प्रतापराव के हृदय में लग गई। अतएव जब फिर से बीजापुर की सेना से उनकी मुठभेड़ हुई, तब वे उस पर बड़ी बुरी तरह से टूट पड़े; और यद्यपि उस युद्ध में बीजापुर की सेना को हार जाना पड़ा, तथापि उस कार्य के पूर्ण करने में प्रतापराव को तानाजी मालुसरे, बाजी प्रभू, बाजी फसलकर और सूर्याजी काकड़े की तरह अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी।

उस समय खंडेराव दाभाड़े, परसोजी भौंसले, संताजी घोरपड़े, धनाजी जाधव आदि शूर पुरुष नवीन रूप से चमकने लगे थे। शिवाजी के अनंतर उनकी सच्ची योग्यता जनता को मालूम हुई। उनमें से पहले दो पुरुषों ने तो बरार में मराठों के राज्य की जड़ जमाई; और दूसरे दो पुरुषों ने औरंगज़ेब को हराकर महाराष्ट्र को स्वतंत्र करने के लिये आरंभ किये हुए युद्ध का अंतिम उद्देश पूर्ण किया।

इस प्रकार इन लोगों के बल और बुद्धि की सहायता से ही शिवाजी स्वराज्य को स्थापित कर सके थे। उनमें से कोई भी वीर संकट के समय अपने कर्तव्य-मार्ग से नहीं डिगा। इनमें से किसी ने भी आपत्ति के समय अपने स्वामी को धोखा नहीं दिया; और न कोई शत्रुओं की शरण गया। यही नहीं, किन्तु अनेक वीरों ने केवल यही कह कर कि "मैंने अपना कर्तव्य ही किया है", विजय-प्राप्ति के समय अपने प्राण आनन्दपूर्वक त्याग किये। इस स्वार्थत्याग की कथा से उक्त लोगों का महत्व तो मालूम होता ही है, परन्तु उसके साथ ही शिवाजी पर उनका अपूर्व प्रेम और जिस महान् कार्य के लिये वे प्रयत्न करते थे, उसकी भी सच्ची महत्ता मालूम हो जावेगी। उन लोगों के परिश्रम के बल पर जिस राज्य की स्थापना हुई थी, उसकी सीमा को बतलाना भी अत्यन्त आवश्यक है। जब सन् १६७४ ई० में शिवाजी का राज्याभिषेक हुआ, उस समय स्वराज्य की सीमा बहुत कुछ बढ़ गई थी। शहाजी की पूना प्रदेश की जागीर, पूना, सूपा, इंदापुर और बारामती परगने, मावल का सारा भाग, वाइ, सितारा, कहाड़ तक का सितारा ज़िले का सारा पश्चिमीय भाग,

कोल्हापुर का पश्चिमीय भाग, उत्तर-दक्षिण कोकन और उसके सारे क़िले, बागलान, बेलोर, बेदनूर, मैसोर और कर्नाटक के सारे मुख्य नगर, स्वराज्य के ही अन्तर्गत थे। पर शिवाजी के अनंतर उक्त सारे भाग को, थोड़े ही दिनों में, मुग़लों ने फिर से जीत लिया। अतएव शिवाजी ने अपने उत्तराधिकारियों के लिये द्रव्य और प्रदेश स्थायी रूप से नहीं छोड़ा था। उन्होंने जितनी संपत्ति प्राप्त की उसका मूल्य क्या बतलाया जाय? हां, उन्होंने मराठों में एकता करके उनमें एक अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव कर दिया तथा उनके अंतर्गत गुणों और शौर्य का उन्हें पूर्ण ज्ञान करा दिया। साथ ही उन्होंने यह भी प्रत्यक्ष करके दिखला दिया कि मुसलमानों का पराभव करने की शक्ति मराठों में मौजूद है। इसी शक्ति के कारण मराठे औरंगज़ेब के साथ सन् १६८५ से सन् १७०७ तक, लगातार बाईस वर्ष लड़कर, स्वराज्य की रक्षा कर सके। यदि शिवाजी के द्वारा मराठों के नेताओं को युद्ध-शिक्षा न मिलती तो औरंगज़ेब के पंजे से स्वराज्य की रक्षा कदापि नहीं हो सकती थी। शिवाजी के काल में लगभग १०० पुरुष तैयार हो गये थे। प्रत्यक्ष रणभूमि के अनुभव के कारण वे लोग युद्धकला में निपुण हो गये थे। इसके सिवाय राज्य-प्रबंध का भी उन्हें अच्छी तरह से ज्ञान हो गया था। इस प्रकार जब १०० पुरुष तैयार हो गये, तब उनका अनुकरण करने के लिये तरुण पीढ़ी भी आगे बढ़ी। लोगों में नया तेज दिखाई देने लगा, और मुसलमानों को भगा देने का कार्य अत्यंत ही सरल मालूम होने लगा। तानाजी मालुसरे, बाजी प्रभू, मोरोपंत पिंगले आदि पुरुषों की तरह लाखों लोग स्वदेशसेवा के

लिए आत्मसमर्पण करने को तैयार हो गये। क्या यह शिवाजी और उनके सहकारियों के अनुकरणीय आदर्श का ही परिणाम नहीं था ? इस बात का अच्छी तरह से ज्ञान कराने के उद्देश से ही हमने शिवाजी के चरित्र के साथ उनके सहकारियों के चरित्रों का भी संक्षेप में वर्णन किया है। शिवाजी का अवतार इसी लिए हुआ था कि गुलामी के कारण जो महाराष्ट्रजन एक प्रकार से हताश हो गये हैं, उनके अन्दर स्वधर्म, स्वदेश और स्वभाषा के विषय में अभिमान उत्पन्न कर दिया जाय। यद्यपि शिवाजी के प्राप्त किये हुए धन और भूमि से संभाजी को हाथ धो बैठना पड़ा, तथापि लोगों में शिवाजी की उत्पन्न की हुई नई भावनाओं का तेज बिलकुल ही नहीं घटा; वरन् ज्यों ज्यों नये संकट आते थे, त्यों त्यों लोगों का बल बढ़ता ही जाता था। जयसिंह और दिलेरखां की छोटी सी फौज के आगे शिवाजी को, अपने शस्त्र रखकर, दिल्ली जाने के लिये बाध्य होना पड़ा, पर शिवाजी के उत्तराधिकारियों को स्वयं औरंगज़ेब बादशाह की असंख्य सेना से सामना करना पड़ा; तो भी वे डटे रहे और औरंगज़ेब की शरण में नहीं गये। हां, कुछ समय के लिये वे दक्षिण की ओर चले गये; और फिर अनुकूल अवसर पाकर मुग़लों पर चढ़ाई की तथा अपने राज्य को सब्याज वापस कर लिया।

उक्त वीर पुरुषों की तरह शिवाजी को कई धर्म-प्रचारकों से भी स्वदेश के उद्धार-कार्य में बड़ी सहायता मिली थी। अतः उन लोगों का भी संक्षेप में वर्णन करना आवश्यक है। क्योंकि यदि हम उनका वर्णन नहीं करेंगे, तो इतिहास के लिखने का मुख्य उद्देश सिद्ध नहीं होगा—अर्थात् शिवाजी

के चरित्र का और उनके समय की परिस्थिति का पाठकों को पूर्ण परिचय नहीं होगा। चिटनवीस की बखर में तो कई साधु महात्माओं के नामों का उल्लेख किया गया है। पर उनमें चिंचवड़ के मोरयादेव, निगड़ी के रघुनाथ स्वामी, बेदर के विट्ठलराव, सिंगाटे के वामन जोशी, दहिताने के निंबाजी बाबा, धामणगांव के बोधलेबाबा, बड़गांव के जयराम स्वामी, हैदराबाद के केशवस्वामी, पोलादपुर के परमानंद बाबा, संगमेश्वर के अचलपुरी और पाड़गांव के मनीबाबा, उस समय, बहुत प्रसिद्ध थे। देहू के तुकाराम बाबा और चाफल के रामदास स्वामी ने तो महाराष्ट्रीयों के धार्मिक संसार में बड़ी हलचल मचा दी थी। शिवाजी ने रामदासजी को ही अपना धर्मगुरु बनाया था और वे कभी कभी व्यावहारिक विषयों में भी उनसे परामर्श लिया करते थे। इन उभय महात्माओं ने महाराष्ट्रीयों के धार्मिक मतों में जो कुछ परिवर्तन किया, उसका वर्णन तो हम एक स्वतंत्र परिच्छेद ही में करेंगे; पर यहां पर केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि उन्होंने शिवाजी के द्वारा प्रचलित राष्ट्रीय हलचल को धार्मिक स्वरूप देकर महाराष्ट्र-समाज में सर्वसाधारण के हित के लिये स्वार्थ-त्याग करने की इच्छा उत्पन्न कर दी थी। शिवाजी का यह उद्देश्य नहीं था कि महाराष्ट्र का उद्धार करने में अपना ही सुख सधे, वरन् गो ब्राह्मणों का पालन और स्वधर्म की प्रतिष्ठा रखने ही के लिए वे प्रयत्न करते थे। इन उद्देशों का लोगों पर प्रभाव डालने के लिये ही शिवाजी ने, रामदासजी के उपदेश के अनुसार, अपने राष्ट्रीय झंडे का रंग भगवां रखा था। सांसा-

रिक सुखों का त्याग करनेवाले मुनि, संन्यासी आदि पुरुष भगवे कपड़े ही पहिनते हैं। हिन्दुओं का विश्वास है कि भगवा रंग सुख के त्यागने का चिन्ह होता है; इसीसे रामदासजी ने उस रंग को पसंद किया था। रामदासजी के कथनानुसार ही विदेशियों के प्रभाव को जतलानेवाली 'सलाम' करने की प्रथा बन्द हुई थी; और 'रामराम' कहने की प्रथा प्रचलित की गई थी। उन्हीं के अनुरोध से शिवाजी ने पहले के मुसलमानी नाम बदल कर अपने कर्मचारियों के लिये संस्कृत नामों की आयोजना की था; और पत्र-व्यवहार की प्रथा भी बदल दी थी। एक दिन तो शिवाजी ने अपना सारा राज्य श्रीरामदासजी को समर्पण कर दिया था; पर रामदासजी ने उन्हीं से उस राज्य का प्रबंध करने के लिये कहा। पर एक बार जब शिवाजी ने श्रीरामदासजी से, अपने इष्ट देव श्रीरामजी की पूजा-नैवेद्य के लिये, थोड़ी सी ज़मीन स्वीकार करने के लिये बड़ा अनुरोध किया, तब उन्होंने उनकी प्रार्थना मान ली। परन्तु उन्होंने जान-बूझ कर वही ज़मीन मांगी, जो उस समय तक विदेशियों के ही अधिकार में थी। ऐसा करके रामदास स्वामी ने इस बात का संकेत किया कि स्वदेशोद्धार का कार्य अभी समाप्त नहीं हुआ।

महाराष्ट्र-साम्राज्य के प्रभातकाल के समय उदित होनेवाले जिन मुख्य मुख्य पुरुषों के चरित्रों का हमने उल्लेख किया है, उनसे हमारे पाठकों को उस समय की परिस्थिति का अच्छी तरह से ज्ञान हो जायगा। यदि हम अकेले शिवाजी का ही चरित्र लिखते, तो उससे मुख्य बात का पता नहीं चल सकता था। उन लोगों के ही कारण शिवाजी के सैनिकों में

अत्यंत सावधानता और शौर्य दिखाई देता था । चाहे शिवाजी का कितना ही विस्तृत्र चरित्र क्यों न लिखा जावे, परन्तु, जब तक उपर्युक्त व्यक्तियों के चरित्र पर कुछ प्रकाश न डाला जावे, तब तक महाराष्ट्र की उस प्रखर जागृति का स्वरूप नहीं मालूम हो सकता । उस समय राष्ट्र में अपूर्व उत्साह उत्पन्न हो गया था । किसी राष्ट्र में अपनी रक्षा के लिए यथावत् बल होने ही से उसकी सच्ची शक्ति का पता नहीं चल सकता; वरन् उस राष्ट्र की भावी पीढ़ी में ऐसे ऐसे वीर उत्पन्न होने चाहिएँ कि जो उत्तरोत्तर अधिक बल और विजयश्री से राष्ट्रोन्नति के कार्य को जारी रख सकें । उस समय के मराठे महान् संकटों से भी नहीं डरते थे । केवल इतना ही नहीं, वरन् मराठों की भावी पीढ़ी में ऐसे ऐसे वीर उत्पन्न होने लगे थे जो शिवाजी के प्रारंभ किये हुए कार्य को पूर्ण करना अपना परम धर्म समझते थे । सारांश यह है कि चाहे जिस दृष्टि से विचार किया जावे, यह निस्सन्देह कह सकते हैं कि शिवाजी के समय के पुरुष बुद्धिमत्ता और शौर्य में किसी प्रकार भी कम नहीं थे और राष्ट्र का उत्थान करने के कार्य में शिवाजी के सदृश वीर को सहायता देने के लिये, वे सर्वथा योग्य थे ।

पाँचवाँ परिच्छेद।

वृक्ष में कोंपल निकली।

शिवाजी ने सन् १६४६ ई० में तोरणा किले को जीत लिया। उसी समय उनके सच्चे शासन का प्रारंभ हुआ। उस समय उनकी अवस्था केवल १७ वर्ष की थी। तब से अन्त तक वे लगातार परिश्रम करते रहे; और उन्होंने अनेक कष्ट सहे। परन्तु सन् १६८० में अचानक उनकी मृत्यु हो गई और इस प्रकार अपना कार्य अधूरा ही छोड़कर उनको इस नाशवान् जगत् से अपना नाता तोड़ना पड़ा। हमें उनका सच्चा इतिहास मालूम करने के लिये, उनके इस ३४ वर्षों के राज्य-शासन को चार भागों में विभाजित करना पड़ेगा; और प्रत्येक भाग के विषय में अलग अलग विवेचन करना होगा। क्योंकि ज्यों ज्यों वे वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध होते गये, त्यों त्यों उनके उद्देशों और कार्यों में भी परिवर्तन होता गया। साधारणतः शिवाजी के शासनकाल को किसी सजीव प्राणी की उपमा दी जा सकती है। अतः जिस प्रकार प्राणी का विकास होते होते उसका सुधार होता जाता है, ठीक उसी प्रकार शिवाजी की कर्तव्यभावना का भी विकास होता गया; और वह परिणत होती गई। उन्हें यथासमय, अपने कार्य की पूर्ति के लिये अनेक प्रकार के रूपान्तर भी करने पड़े थे। शिवाजी के शासन-काल का यह सच्चा स्वरूप मालूम न हो सकने ही के

कारण उनके चरित्र के विषय में बड़ा भ्रम उत्पन्न हो गया है। तिस पर भी शिवाजी के अशांतिकाल को जब ऐसे राजनैतिक सिद्धान्तों की कसौटी पर कसते हैं कि जिनका अमल अभी थोड़े ही दिन से यूरप के सुसभ्य देशों में होने लगा है, तब तो उक्त भ्रम और भी अधिक बढ़ जाता है। अस्तु।

दक्षिण के मुसलमान राजा मराठों के वास्तविक प्रदेश को कभी जीत नहीं सके थे। यद्यपि उस देश पर उनका प्रभाव स्थापित हो चुका था, तथापि पश्चिमीय पहाड़ी प्रदेशों में उन्होंने अपना शासन कभी स्थापित नहीं किया था। वे उन प्रदेशों पर बारम्बार चढ़ाइयां करते थे, पर वहां के दुर्गों को जीत कर और उन्हें दुरुस्त करके उनमें अपनी सेना को कभी नहीं रख सके। अतः वे क़िले प्रायः उस पहाड़ी प्रदेश के बलवान लोगों के ही अधिकार में रहे। वे लोग स्वेच्छाचारी थे; और आपस में लड़ाई-झगड़े करते रहते थे। साथ ही वे अन्य क़िलेदारों से लड़कर उनके प्रदेश को भी जीत लेते थे। मुख्य राज्य-शासन से भी उन्हें बिलकुल डर नहीं था। इस प्रकार महाराष्ट्र में चारों ओर अराजक स्थिति फैल गई थी। तिस पर भी जब मुग़लों और बीजापुर के बादशाहों ने निर्बल निज़ामशाही को जीत लिया, तब महाराष्ट्र में बड़ी हलचल मच गई। फिर मुग़ल बादशाह और बीजापुर-दरबार में भी झगड़े होने लगे; और महाराष्ट्र देश उन दो लड़ाकू पहलवानों का अखाड़ा ही बन गया। इस प्रकार उस कुशासन-प्रथा के कारण महाराष्ट्र पर जो संकट आये, उनका वर्णन करना हमारी लेखनी की शक्ति के परे है। अतः हमारे पाठक ही उसके विषय में विचार कर लें। शिवाजी के शासनकाल

के पहले छः वर्ष तो पूना के आसपास के बलवान् क़िलेदारों को जीतने में ही बीत गये। उस समय उनके मन में मुग़ल-साम्राज्य या बीजापुर-दरबार के शासन को नष्ट करने के विचार उत्पन्न नहीं हुए थे। किन्तु उस समय तो केवल अपनी जागीर की ही रक्षा करना उनका उद्देश था। तदनुसार उनकी रक्षा के लिए, अधिक व्यय या प्राण-हानि न करके, उन्हें अपनी जागीर के आसपास के कुछ क़िलों को जीतना पड़ा; और कुछ क़िलों की मरम्मत भी करनी पड़ी। इस प्रकार यद्यपि वे उस समय केवल अपने ही घर की रक्षा करने के कार्य में उलझे हुए थे, तथापि उन्हें इस बात का भी पूरा अनुभव हो गया था कि, जब तक अपनी जागीर के आसपास के मराठे सरदारों में एकता करके उनकी शक्ति एकत्रित नहीं की जायगी, तब तक शांतिसुख का पूर्ण अनुभव नहीं होगा।

इस प्रकार अपनी रक्षा करने का वह पहला कार्य, अधिक रक्तपात न करके, सभी लोगों की सम्मति से, पूर्ण हो जाने पर शिवाजी को बीज़ापुर-दरबार से सामना करने के लिये कटिबद्ध हो जाना पड़ा। बीजापुर-दरबार ने पहले तो शिवाजी के पिता शहाजी को छल से क़ैद कर लिया; और फिर जासूसों के द्वारा शिवाजी को पकड़ने का भी प्रयत्न किया, तथा अंत में बड़े बड़े वीर सरदारों को भेजकर शिवाजी का नाश करने की भी चेष्टा की, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। इस लिए शिवाजी ने लगातार १० वर्ष तक युद्ध करके बीजापुर-दरबार को ही अपनी शरण में आने के लिये बाध्य किया और अपनी इच्छा के अनुसार उनसे सारी शर्तें

स्वीकार करा लीं। इस प्रकार बीजापुर के युद्धों में सफलता प्राप्त हो जाने के कारण शिवाजी का बड़ा प्रभाव स्थापित हो गया, जिससे उनके शासन का प्रदेश भी बढ़ा; और उनकी कीर्ति चारों ओर फैल गई। फिर भी, मराठों में एकता करके उनके प्रदेश की रक्षा करने का उनका मूल विचार बिलकुल नहीं बदला। बीजापुर-दरबार के साथ उनकी जो लड़ाइयां हुईं, उनका इतिहास ही शिवाजी के शासनकाल का दूसरा भाग है। इस प्रकार बीजापुर-दरबार को हरा देने के बाद उन्हें दक्षिण पर चढ़ाई करनेवाले मुग़लों से सामना करना पड़ा। इसलिए मुग़लों के साथ की हुई लड़ाइयों का इतिहास ही शिवाजी के शासनकाल का तीसरा भाग है। सन् १६६१ ई० से उन युद्धों का आरंभ हुआ; और सन् १६७२ में मुग़लों का पराभव हुआ। इस प्रकार, नवीन रूप से स्थापित की जाने वाली मराठशाही के प्रभाव को स्वीकार करने के लिये शिवाजी ने मुग़लों को बाध्य किया। सन् १६७४ ई० में शिवाजी का राज्याभिषेक किया गया। उस समय से उनके शासन-काल के चौथे और अंतिम भाग का आरंभ होता है। इस भाग में उनकी सारी आशाएँ और मनोरथ पूर्ण हो गये, अतएव शिवाजी के शासनकाल की पूर्णावस्था का भी वही भाग है। उस भाग के इतिहास से उनके चरित्र और स्वभाव का अच्छी तरह से ज्ञान हो जाता है। उस भाग में उन्होंने जिस प्रकार की शासन-प्रणाली का अवलंबन किया और जिन राजनैतिक तत्वों का आदर्श खड़ा किया, उन्हीं से उनकी सच्ची योग्यता मालूम हो सकती है। शिवाजी ने अपने कर्तव्य के मुख्य उद्देश में तो कभी परिवर्तन नहीं किया। मराठों की

बिखरी हुई शक्ति को एकत्रित करके अपनी रक्षा करना ही उनका मुख्य ध्येय था; और जिस इच्छित प्रदेश में उन्हें उक्त ध्येय को सिद्ध करना था; उस प्रदेश की परिस्थिति के अनुसार, सीमा भी बढ़ती गई; तो भी उनका मुख्य उद्देश कभी नहीं बदला। अपने पड़ोसियों से अपनी जागीर की रक्षा करते हुए, अचानक प्राप्त किये हुए नये प्रदेश की, मुग़लों के कष्टों से, रक्षा करना उनके लिए आवश्यक था, अतएव उनके मूल उद्देश स्वरक्षा को राष्ट्रीय रक्षा का स्वरूप प्राप्त हो गया। इस प्रकार उनके शासन की सीमा बढ़ती गई; और उन्हें विभिन्न स्थानों के मराठे सरदारों में एकता करने का अच्छा अवसर मिला; परन्तु उनका उपर्युक्त उद्देश तो कायम ही था। उन्हें बीजापुर अथवा मुग़ल बादशाह से युद्ध करने की बिलकुल इच्छा नहीं थी; और यदि ये बादशाह पश्चिमी महाराष्ट्र को हस्तगत कर लेने की इच्छा न करके कर्नाटक और उत्तरीय भारत के अपने प्रदेशों पर ही शासन करते रहते, तो शिवाजी उनसे कदापि युद्ध न करते। हां, गोलकुंडा राज्य की रक्षा करने का उन्होंने निश्चय कर लिया था। मुग़लों की सेना को मार भगाने के कार्य में बीजापुर-दरबार को उन्होंने सहायता भी दी थी। अतः यदि मुग़ल बादशाह शिवाजी के शासन के प्रदेश को कष्ट न पहुँचाते, तो वे मुग़लों के मांडलिक राजा भी बनने के लिये तैयार हो जाते। यहां तक कि मुग़ल बादशाह के स्वामित्व को स्वीकार करने के लिये वे दिल्ली गये भी थे; पर मुग़लों ने उन्हें कपट से वहीं पर क़ैद कर लिया। यद्यपि मुग़लों ने उनके साथ इस प्रकार कपट का बर्ताव किया, तथापि वे उनके साथ सुलह करने के लिए तैयार हो

गये थे। उनका कथन तो यही था कि मुग़ल बादशाह के दरबार के बड़े बड़े सरदारों में उनकी भी गणना की जावे। उनके मन में भारत के सभी हिन्दू राजाओं को एकत्रित करके मुसलमानों के शासन को नष्ट करने का विचार उत्पन्न नहीं हुआ था। यह विचार तो शिवाजी के अनंतर पैदा हुआ। पंत-प्रतिनिधि के विवाद के समय जब बाजीराव ने शाहूजी को यह सलाह दी कि, मुग़ल-राज्य-वृक्ष की शाखाओं को न काट कर उसकी जड़रूपी दिल्ली की बादशाहत पर ही चढ़ाई की जाय; और उस वृक्ष की जड़ को ही नष्ट कर दिया जाय, तभी पहले पहल उपर्युक्त विचार का बीजारोपण हुआ। शिवाजी के विचार उक्त प्रकार के नहीं थे, वरन् उनका उद्देश तो दक्षिण में 'स्वराज्य' स्थापित करके, बीजापुर और गोलकुंडा के राजाओं की सहायता से, मुग़लों को ताप्ती नदी के उत्तर ओर निकाल देने का ही था। अर्थात् पश्चिमीय भारत में हिन्दू राज्य को स्थापित करके, गोलकुंडा और बीज़ापुर के मुसलमान बादशाहों की सहायता से, उत्तर की ओर के मुग़लों से अपनी रक्षा करने, और अपने देशबंधुओं को शांति-सुख और धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त कराने की ही उनकी आकांक्षा थी। शिवाजी की इस इच्छा का ज्ञान हो जाने पर उनके शासनकाल के चारों भागों का इतिहास अच्छी तरह से समझने में किसी बात की असुविधा नहीं होगी।

अस्तु। जैसा कि हमने ऊपर बतलाया, तोरणा किले को हस्तगत कर लेने के समय से ही शिवाजी के शासनकाल का पहला भाग आरंभ हो गया था। वहां के किलेदार ने स्वयं ही इसे शिवाजी को सौंप दिया था। इस प्रकार तोरणा

के हस्तगत कर लेने पर शिवाजी ने रायगढ़ क़िले की मरम्मत करके उसी को अपना निवासस्थान बना लिया। शिवाजी के इस व्यवहार में कोई अनुचित बात न थी, अतएव यह कह कर कि, अपनी जागीर की रक्षा करने के लिए ही हमने इन क़िलों को लिया है, उन्होंने बीजापुरवालों की आशंका को मिटा दिया। शिवाजी ने सूबे के अधिकारी बाजी मोहिते को भी निकाल दिया था; पर वह शिवाजी का ही नौकर था, अतएव बीजापुरवालों ने उस ओर ध्यान नहीं दिया। पूने का मार्ग चाकन के क़िले के मोर्चे पर था, इस कारण शिवाजी ने वहां के क़िलेदार फिरंगोजी नरसाला के हाथ से उसे भी अपने अधीन कर लिया; और अपनी ओर से उसी को वहां का क़िलेदार बनाया। उसी समय से फिरंगोजी शिवाजी का सच्चा स्वामिभक्त नौकर बन गया। इसके बाद उन्होंने सिंहगढ़ के क़िलेदार को मिला कर उस क़िले को भी ले लिया। इस प्रकार मावल के बड़े भारी प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित हो जाने पर उन्होंने उस प्रदेश के शूर और परिश्रमी मावलों को भी अपना सैनिक बनाया; और उन्हीं में से कुछ लोगों को उनका सेनापति बनाया। यहां पर यह भी ध्यान में रखना योग्य है कि किसी प्रकार के रक्तपात या झगड़े-बखेड़े के बिना ही उक्त सारे कार्य पूर्ण हुए थे। बारामती और इंदापुर नामक परगने भी शिवाजी की ही जागीर में सम्मिलित थे। पूना से बारामती की ओर जानेवाला पुराना मार्ग पुरंदर क़िले के मोर्चे पर था, अतः उस क़िले को जीत लेना भी आवश्यक था। वह क़िला एक ब्राह्मण कर्मचारी के अधिकार में था और वह ब्राह्मण दादोजी कोंडदेव

का मित्र था। साथ ही वह बड़ा उद्धत और बेपरवा भी था। उसकी पत्नी को उसका यह आचरण अच्छा नहीं लगता था। अतः एक बार उसने उसे समझाने का प्रयत्न किया; पर उस अपराध के बदले उस दुष्ट ने उस अबला स्त्री को तोप से उड़ा दिया। परन्तु जब उस नीच मनुष्य की मृत्यु हो गई, तब उसके तीन पुत्र आपस में झगड़ने लगे। उस समय उन्होंने शिवाजी से निपटारा करने के लिये कहा। शिवाजी ने उन तीनों भाइयों को क़ैद करके पुरंदर पर अपना अधिकार कर लिया। इस कार्य के लिए ग्रांट डफ ने शिवाजी को विश्वासघाती बतलाया है, पर यह उनका भ्रम है। इस बात को तो ग्रांट डफ ने भी मान लिया है कि शिवाजी ने उन तीनों लड़कों को अच्छे अच्छे पारितोषिक देकर उन्नतावस्था को पहुँचाया था। परन्तु बखरकारों ने तो लिखा है कि, उन तीनों भाइयों के झगड़ों के कारण निज को कष्ट होने के डर से क़िले के सैनिकों ने ही शिवाजी को उक्त परामर्श दिया था। उन तीनों भाइयों में से दो भाई तो उस बात पर राज़ी भी थे। अस्तु। बखर के इस वर्णन को पढ़ने से शिवाजी की निर्दोषिता ही सिद्ध होती है। वास्तव में उक्त क़िला, नाके पर होने के कारण, शिवाजी ने लिया था। ग्रांट डफ के कथनानुसार विश्वासघात से नहीं लिया; और न वहां के सैनिकों के परामर्श के बिना लिया था।

शिवाजी ने, अपने सदैव के नियमानुसार, ये क़िले भी व्यर्थ रक्त-पात करके नहीं लिये थे। इससे भी यही जान पड़ता है कि उनकी जागीर के आसपास रहनेवाले लोगों का उन पर कितना विश्वास था। जब उन्होंने हिरडेमावल प्रदेश

का रोहिद क़िला, और सह्याद्रि की श्रेणी के उत्तर में कल्याण से लगाकर दक्षिण के लोहगढ़, रायरी और प्रतापगढ़ तक के सारे क़िले जीत लिये, तब उनके शासनकाल के विजयों का पहला भाग समाप्त हो गया। उन्होंने कल्याण के क़िले को जब जीत लिया, तब बीजापुर-दरबार की आंखें खुलीं; और वे शहाजी को कष्ट देकर शिवाजी की हलचलों को बंद करने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने शहाजी को कर्नाटक से वापस बुलाकर उन्हें क़ैद कर लिया। शिवाजी को जब शहाजी के शरीर को धक्का पहुँचने की आशंका हुई तब उन्होंने क़िले जीतने के कार्य को बंद कर दिया; और बीजापुर-वालों का बदला लेने के उद्देश से, वे मुग़ल बादशाह शाहजहां से जा मिले। उक्त समाचार ज्यों ही बीजापुरवालों को मालूम हुआ, त्यों ही उन्होंने शहाजी को छोड़ दिया। शिवाजी ने मुग़लों के पक्ष में शामिल होने के पहले उनसे चौथ और सरदेश-मुखी के स्वत्व मांगे थे; और शाहजहां ने भी शिवाजी के दिल्ली आने पर इस विषय में विचार करने का वचन दिया था। पर शाहजहां के जीवन-काल में इस विषय का फैसला नहीं हो सका। उक्त घटनाएं सन् १६५२ ई० में हुईं; और उसी साल शिवाजी के शासन-काल का पहला भाग समाप्त हुआ।

जब तक शहाजी कारगार में रहे, तब तक शिवाजी ने कोई हलचल नहीं मचाई। पर, सन् १६५७ ई० में, उनके मुक्त होते ही शिवाजी फिर से हलचल करने लगे। इस लिए बीजापुर-दरबार ने मुग़लों से सुलह करके शियाजी को दबाने का निश्चय किया। उसी समय से शिवाजी के शासनकाल

का दूसरा भाग आरम्भ हुआ । इस भाग का मुख्य विषय बीजापुर-दरबार के साथ किये हुए युद्ध ही हैं। उन युद्धों में मुधोल के घोरपड़े, जावली के मोरे, बाड़ी के सावंत, दक्षिणीय कोकन के दलवी, म्हसवड़ के माने, श्रीरंगपुर के सुर्वे और शिर्के, फलटन के निंबालकर, मालवड़ी के घाटगे आदि बीजापुर-दरबार के बड़े बड़े मराठे सरदारों से उन्हें सामना करना पड़ा था। उन सभी सरदारों को नीरा और कृष्णा नदियों के बीच का प्रदेश जागीर में मिला था। अतः अपनी जागीर के आसपास के सरदारों में एकता उत्पन्न करके जिस प्रकार शिवाजी ने उन्हें अपना सहायक बना लिया था उसी प्रकार वे उपर्युक्त सरदारों को भी अपनी ओर मिला लेने का प्रयत्न करने लगे; पर उन अभिमानी सरदारों ने शिवाजी का कहना नहीं माना। चन्द्रराव मोरे ने तो, शिवाजी को अचानक पकड़ कर मार डालने के अभिप्राय से बीजापुर-दरबार के भेजे हुए बाजी शामराव नामक सरदार और उसके अनुयायियों को अपने आश्रम में ही रख लिया था। परन्तु बीजापुर-दरबार का वह प्रयत्न सफल नहीं हुआ; और अपने इस दुष्कार्य का प्रायश्चित स्वयं उन्हीं को उठाना पड़ा। उनका वह षड्यंत्र प्रकट होगया; और शिवाजी ने बीजापुर के लोगों पर चढ़ाई कर दी। हां, चन्द्रराव मोरे ने व्यर्थ ही शिवाजी से शत्रुता कर ली। उसके उस अपराध के बदले शिवाजी के सेवक राघो बल्लाल और संभाजी कावजी ने स्वयं ही चन्द्रराव का बदला लिया। बाजी शामराव को सहायता करने की आशंका से उक्त दोनों पुरुषों ने मोरे का विश्वासघातपूर्वक वध किया। सचमुच ही यह बड़ा निंद-

नीय कार्य हुआ। बखरकारों ने भी उनके उस कर्म का समर्थन नहीं किया है। यद्यपि मोरे के नाश होने का समाचार पाकर शिवाजी को खेद नहीं हुआ, तथापि यह बड़े सौभाग्य का विषय था कि उस कार्य में उनका कोई भाग नहीं था। इस प्रकार मोरे का अंत हो जाने पर उस प्रदेश के जागीरदार सुर्वे और दलवी को भी शिवाजी की शरण में जाना पड़ा। उन्होंने सिद्दी पर भी चढ़ाई की थी, पर उसका कोई परिणाम नहीं हुआ।

ज्यों ज्यों शिवाजी को सफलता प्राप्त होने लगी, त्यों त्यों बीजापुर-दरबार की द्वेषाग्नि धधकती ही गई; और वे उसमें शिवाजी की आहुति लेने का प्रयत्न करने लगे। उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास हो गया कि जब तक शहाजी को कष्ट नहीं पहुँचाये जावेंगे, तब तक शिवाजी अपनी आदतों से बाज़ नहीं आवेगा। शिवाजी का खून करने के लिये बीजापुर-दरबार के भेजे हुए बाजी शामराव को भी शिवाजी ने खूब छकाया। भद्रराव मोरे पर बीजापुर-दरबार का बड़ा भरोसा था, पर शिवाजी की सेना के मोरे दल की और सुर्वे की दाल नहीं गली। उस दशा में उन्होंने अपने चतुर पठान वीर अफ़ज़लख़ां के साथ एक बड़ा भारी सैन्य-दल भेजकर शिवाजी को पकड़ लाने के लिये कहा। अफ़ज़लख़ां कर्नाटक के युद्ध में उपस्थित था; और उस युद्ध में, शहाजी के शत्रुओं को सहायता देकर शिवाजी के बड़े भाई को मरवाने का आशंका भी उसी पर की गयी थी। उसने बीजापुर के दरबार में शिवाजी रूपी चूहे को जीवित या मृत पकड़ लाने की प्रतिज्ञा कर ली थी। तदनुसार वह बीजापुर से वाई को जा पहुँचा। उसने

अपने मार्ग के तुलजापुर और पंढरपुर की पवित्र मूर्तियों को फोड़ कर देवालय भ्रष्ट किये। इससे उस युद्ध को धर्मयुद्ध का स्वरूप प्राप्त हो गया। उस समय दोनों ओर के वीर बड़े कुपित हो उठे। वास्तव में युद्ध के अंतिम परिणाम पर ही कई महत्वपूर्ण बातें अवलंबित थीं। विजयी पक्ष का जीवन तथा पराजित होनेवाले पक्ष की मृत्यु हो जाने का अवसर उपस्थित हो गया था। शिवाजी और उनके परामर्शदाताओं को भी उस युद्ध का महत्व भली भांति मालूम हो गया था, जिससे उन्होंने अफ़ज़लखां को हराने की बड़ी तैयारियां की थीं। उस संकट से छुटकारा पाने के लिये विशिष्ट उपायों की आयोजना करने के पहले शिवाजी ने माता भवानी की प्रार्थना की। उनकी ध्यानस्थ दशा में, जगदंबा उनके मुख से जो कुछ कहलाती थीं, उसी के अनुसार भावी प्रबंध किया जाता था। अतः उन्होंने उन शब्दों को लिख लेने के लिये अपने चिटनवीस को आज्ञा दी थी।

श्रीभवानी का अभयदान, माता जीजाबाई का आशीर्वाद और सैनिकों की अपूर्व स्वामि-भक्ति—बस, इसी त्रिगुणात्मक मात्रा से उत्साहित होकर उन्होंने अपने पसन्द किये हुए स्थान पर शत्रु से मिलने का निश्चय किया। शिवाजी तो उक्त प्रकार से तैयारी कर रहे थे, पर उधर अफ़ज़लखां कुछ और ही सोच रहा था। वह इसी विचार से आनंदित हो रहा था कि शिवाजी मेरी अपरिमित सेना से सामना करने के लिए तैयार नहीं हैं, अतः मैं उसे, किसी प्रकार किले के बाहर निकाल कर, जीता ही बीजापुर पकड़ ले जाऊँगा; और युद्ध करने के अवसर को बचा लूंगा। उस समय

शिवाजी की सेना कृष्णा और कोयना नदियों की तराई के जंगल में छिपी हुई थी। इधर अफ़ज़लखां की सेना वाई से लगा कर महाबलेश्वर तक फैली हुई थी। अवश्य ही इस सेना को चूंकि कोई सहारा था ही नहीं, अतएव दोनों ओर से, सरलता-पूर्वक उस पर हमला किया जा सकता था। शिवाजी और अफ़ज़लखां भी एक दूसरे को अपने पंजे में फँसाने के लिये व्याघ्र की तरह अवसर ताक रहे थे; क्योंकि उन दोनों को भली भांति मालूम था कि सेनापति के पकड़े जाने ही से युद्ध का अंत हो जावेगा। जब शिवाजी ने अपने वकील के द्वारा अफ़ज़लखां के पास कहला भेजा कि 'मैं तुम्हारी शरण में आने को तैयार हूँ, तब उसने भी उस संदेश की सत्यता की जांच करने के लिये अपने पास के ब्राह्मण पंडित को शिवाजी के पास भेजा। परन्तु शिवाजी ने उस ब्राह्मण पंडित में स्वदेश और स्वधर्म के प्रति अभिमान उत्पन्न कराके, उसे अपनी ओर मिला लिया। अन्त में उस ब्राह्मण के मध्यस्थ बन जाने से, एकांत में, पारस्परिक मिलाप होने और अपनी सेना को साथ न लाने की बात तै हो गयी। उस मिलाप के समय जो घटना हुई, उसका वर्णन विभिन्न इतिहास-लेखकों ने विभिन्न शब्दों में किया है। मुसलमान इतिहास-लेखकों और उनके अनुयायी ग्रांट डफ साहब ने तो लिखा है कि शिवाजी ने बाघ के नखों और भवानी तलवार की सहायता से पठान का विश्वासघात के साथ वध किया; पर चिटनवीस, सभासद, प्रभृति बखरकारों का कथन है कि जब अफ़ज़लखां ने अपने बाएं हाथ से शिवाजी की गर्दन को पकड़ कर उन्हें अपनी ओर खींचा और बाईं कांख में दबा

लिया, तब उन्हें विवश होकर वाघ-नखों का उपयोग करना पड़ा। जो हो, उस समय ऐसे अवसरों पर विश्वासघात करना भी कोई बड़ा पाप नहीं माना जाता था; और विश्वासघात होने की सम्भावना जानकर भी वे दोनों परस्पर मिलने के लिये तैयार हुए थे। शिवाजी के लिए तो विश्वासघात के कई कारण थे। उन्हें अपने भाई के मारने तथा तुलजापुर और पंढरपुर के देवालयों के भ्रष्ट करने का भी बदला चुकाना था। इसके सिवाय इस बात का भी विश्वास था कि, मैं रणभूमि पर अफ़ज़लखां से सामना नहीं कर सकूंगा। इसके अतिरिक्त उनके १२ वर्ष के परिश्रम का परिणाम भी उसी युद्ध पर अवलंबित था। अतएव, शत्रु की अपेक्षा, शिवाजी को ही, युक्तिपूर्वक, अपने कार्य को पूर्ण करने की इच्छा होना बिलकुल स्वाभाविक है। अब उन दोनों के स्वभाव के विषय में भी विचार करना आवश्यक है। अफ़ज़लखां घमंडी और अविचारी था तथा शिवाजी चालाक और सावधान थे। साथ ही मिलाप के अंतिम परिणाम से लाभ उठाने का भी शिवाजी ने प्रबंध कर लिया था। तदनुसार अफ़ज़लखां की मृत्यु के समाचार मालूम होते ही शिवाजी की सेना ने उसकी फौज पर धावा बोल दिया। उस समय अफ़ज़लखां की फौज सावधान न थी, अतएव वह शीघ्र ही तितर-बितर हो गई। उक्त सारी बातों का विचार करने पर हम कह सकते हैं कि, ग्रांट डफ का कथन सर्वथा भ्रमपूर्ण है। हां, यह भी संभव है कि पारस्परिक आशंका के कारण पारस्परिक हेतु दोनों ही को ज्ञात न हो सके हों, जिससे उन दोनों में जो असावधान रहा, उसी को उसका फल मिला। अथवा उन दोनों ही का अपने

शत्रु को कपट से मारने का उद्देश हो, पर उस अवसर पर एक से तो वह सध गया; और दूसरा उसे सिद्ध न कर सका। जो हो, इस प्रकार अफ़ज़लखां का पराभव कर सकने के कारण शिवाजी को पन्हाले तक का दक्षिणीय भाग और कृष्णा तट का सारा प्रदेश मिल गया। इसके बाद बीजापुर-दरबार ने फिर से अपनी सेना को शिवाजी पर चढ़ाई करने के लिये भेजा। परन्तु उन्होंने उस सेना को भी हरा दिया और अपनी सेना को बीजापुर के मुख्य द्वार तक ले गये। उनके सेना-पतियों ने राजापुर और दाभोल नामक नगरों को भी जीत लिया। जब बीजापुर-दरबार ने तीसरी बार अपनी सेना भेजी तब उस सेना ने शिवाजी को पन्हाले के क़िले में जा घेरा। उस समय बड़ा ही कठिन अवसर उपस्थित हो गया था, पर शिवाजी, बड़ी युक्ति से, बीजापुर के सरदारों से बच निकले; और रांगणे के क़िले पर जा पहुंचे। उस समय बीजापुर की सेना ने उनका पीछा किया, शूरवीर बाजीप्रभू ने अपने १००० सैनिकों सहित उस सेना के मार्ग को रोक लिया। उस समय उन दोनों सैनिक दलों में लगभग ६ घंटे तक लगातार युद्ध होता रहा। बाजी प्रभू के तीन-चौथाई सैनिक काम आये; तो भी वह शूरवीर एक कदम भी पीछे को नहीं हटा। हां, जब उसने शिवाजी के रांगणे तक सुरक्षित पहुँच जाने की तोपें सुन लीं, तभी उस रणधुरंधर ने समरभूमि पर अपने प्राण त्यागे। इस पराक्रम की उपमा ग्रीस के इतिहास के उस युद्ध से दी जा सकती है कि जो स्पार्टन लोगों के राजा लियोनिडस ने अपने तीन सौ सैनिकों के साथ, बहुत भारी पर्सियन सेना से थर्मापली की घाटी में किया था। अस्तु।

सन् १६६१–६२ में बीजापुर के बादशाह ने स्वयं ही शिवाजी पर चढ़ाई की; पर उस युद्ध का कोई परिणाम नहीं हुआ। इसके आगे भी एक दो वर्ष युद्ध का उक्त क्रम धीरे धीरे जारी रहा। उसी समय के लगभग शिवाजी ने नई जलसेना तैयार करके जंजीरे के अतिरिक्त समुद्र तट के सभी क़िले जीत लिये। इस प्रकार बीजापुर-दरबार ने अपने सारे प्रयत्न निष्फल होते देख, हताश होकर, सन् १६६२ ई० में शहाजी को मध्यस्थ बनाकर शिवाजी के साथ सुलह की। उस सुलहनामे के अनुसार शिवाजी का जीता हुआ सारा प्रदेश उन्हीं के अधीन रक्खा गया। शिवाजी के शासन-काल के पहले भाग के अंत में चाकन से लगाकर नीरा नदी तक का सारा प्रदेश, उनकी निज की जागीर और पुरंदर से लेकर कल्याण तक के, सह्याद्रि पर्वत के, सभी क़िले उनके अधिकार में थे। परन्तु दूसरे भाग के अंत में कल्याण से लेकर गोवा तक का कोंकन का सारा प्रदेश और उसी कोंकन प्रदेश के समानांतर घाट पर का भीमा से लगाकर वारना तक का उत्तर-दक्षिण १६० मील लंबा और सह्याद्रि से पूर्व ओर १०० मील चौड़ा प्रदेश शिवाजी को और मिला। उनके शासनकाल के तीसरे भाग के अंत में बीजापुर-दरबार ने, उस सुलहनामे को भंग करके, फिर से शिवाजी पर चढ़ाई कर दी। उस समय शिवाजी के सेनापति प्रतापराव गूजर ने उस सेना को मार भगाया; परन्तु उसका पीछा न करके उसे सुरक्षित रूप से अपने प्रदेश को चले जाने दिया। परन्तु शिवाजी ने उस असामयिक दयाभाव के लिए प्रतापराव को बहुत कुछ कहा सुना। यह बात प्रतापराव के मन में ऐसी लगी कि जब बीजापुर

की सेना ने फिर से शिवाजी के प्रदेश पर चढ़ाई की तब वे उस पर बुरी तरह से टूट पड़े; और शत्रु सेना के साथ बड़ा वीरता से लड़ते लड़ते अपने प्राणों को न्योछावर कर दिया। इसके कुछ दिनों बाद जब मुग़लों ने आकर बीजापुर को घेर लिया, तब बीजापुर के बादशाह ने अत्यन्त विनय-पूर्वक शिवाजी से सहायता मांगी। उस समय शिवाजी ने उनके सारे अपराधों को भूल कर उन्हें सहायता दी और मुग़लों के प्रदेश में युद्ध छेड़ कर, उनकी सेना पर पीछे की ओर से तथा इधर उधर की ओर से हमला करके उनको बीजापुर से अपने घेरे को हटाने के लिये वाध्य किया। शिवाजी के इस उदारतापूर्ण आचरण के कारण ही बीजापुर का राज्य २० वर्ष तक टिक सका। वास्तव में हमें इन घटनाओं का वर्णन शिवाजी के शासनकाल के तीसरे भाग में करना चाहिए; परन्तु इस परिच्छेद में उसका थोड़ा सा दिग्दर्शन मात्र इस हेतु से करा दिया है कि जिससे बीजापुर-दरबार के साथ होनेवाले सभी संग्रामों का सविस्तर वृत्तान्त पाठकों को एक ही जगह मिल जाय।

छठवां परिच्छेद ।

वृक्ष में फल आये ।

सन् १६६२ ई० से शिवाजी के शासन-काल के तीसरे भाग का आरंभ हुआ । इस समय तक शिवाजी ने मुग़लसेना की हलचलों की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया था । हां, १६५७ में उन्होंने एक वार जुन्नर शहर को लूटा था । इस एक चढ़ाई के अतिरिक्त इन दोनों पक्षों में, सन् १६६२ तक, शत्रुता उत्पन्न करने वाली और कोई घटना नहीं हुई थी। शाहजहां बादशाह के समय में तो शिवाजी उसकी शरण में आने के लिये भी तैयार हो गये थे, इसमें उनका केवल यही मुख्य उद्देश नहीं था कि बीजापुर-दरबार को भय दिखला कर अपने पिता का छुटकारा करा लिया जावे; वरन् उन्हें शाहजहां से अपने स्वत्वों की स्वीकृति भी करा लेनी थी। तदनुसार बादशाह ने भी उन्हें वचन दे दिया था । इस विषय में उसकी यही शर्त थी कि, शिवाजी स्वयं दरवार में उपस्थित होकर स्वत्व-प्राप्ति की प्रार्थना करे । औरंगज़ेब ने भी, बीजापुर के घेरे को उठाकर, दिल्ली के तख्त को प्राप्त करने के लिए अपने भाई पर चढ़ाई करते समय, शिवाजी के कोकन के स्वामित्व को स्वीकृत कर लिया था । इसके अतिरिक्त उसने यह भी इच्छा प्रकट की थी कि शिवाजी चुने हुए सरदारों सहित, बादशाह की नौकरी को स्वीकार करके, नर्मदा

के दक्षिण वाले बादशाह के प्रदेश में शांति स्थापित करने का प्रयत्न करें; पर मुग़ल-साम्राज्य के अधिकार प्राप्त होते ही वह उन सारी बातों को भूल गया। जब सन् १६६१ ई० में मुग़ल सेना ने शिवाजी के उत्तरीय सैनिक स्थल कल्याण पर एका-एक चढ़ाई करके उसे जीत लिया, तब शिवाजी बीजापुर वालों के युद्ध में उलझे हुए थे, इससे वे मुग़ल सेना को उस अपराध का प्रायश्चित नहीं दे सके। परन्तु जब उन्होंने सन् १६६२ ई० में बीजापुर-दरबार से सुलह कर ली, तब उनके सेनापति नेताजी पालकर ने औरंगाबाद के पास की मुग़ल सेना पर चढ़ाई कर दी और मोरोपंत पेशवा ने भी जुन्नर के उत्तर में मुग़लों के दक्षिणी क़िले जीत लिये। इस प्रकार दोनों ओर से युद्ध छिड़ गया। मुग़लों के सरदार शाइस्ताखां ने पूना और चाकन ले लिया; और पूना में अपनी फ़ौज का डेरा जमा दिया। एक दिन शाइस्ताखां पूना के महल में आनंदपूर्वक पड़ा हुआ था, कि इतने में शिवाजी ने रात को उस पर चढ़ाई करके उसके किये का बदला चुकाया। मुग़ल घुडसवारों ने सिंहगढ़ तक शिवाजी का पीछा किया, पर नेताजी पालकर ने उन्हें मार्ग में ही घेर कर उन्हें मार भगाया। यह घटना सन् १६६३ ई० में हुई। सन् १६६४ ई० में शिवाजी ने उस समय के व्यापार के मुख्य केन्द्र सूरत नगर पर पहली चढ़ाई की। यद्यपि उन्हें उस प्रदेश के विषय में कोई जानकारी नहीं थी, तथापि उन्हें मार्ग में किसी असु-विधा से सामना नहीं करना पड़ा। उसी समय मराठों की जल-सेना ने सूरत से मक्का की ओर जाने वाले यात्रियों के कुछ जहाज़ पकड़ लिये। सन् १६६६ ई० में मराठों के एक

दूसरे सैनिक दल ने गोवा के दक्षिण की ओर के एक संपत्तिशाली बंदर को लूट लिया, जिससे उत्तरीय कनारा प्रदेश में शिवाजी का प्रभाव अच्छी तरह से स्थापित हो गया। शाइस्ताखां ने तो, पराजित हो जाने के कारण, फिर कभी सिर नहीं उठाया। जब शिवाजी के आगे शाइस्ताखां की दाल नहीं गली, तब दिल्ली के बादशाह ने उसे वापिस बुला लिया; और शिवाजी के प्रभाव को नष्ट करने के लिए रणपंडित राजा जयसिंह और दिलेरखां को भेज दिया। उन दोनों वीरों के सैनिक दल ने मराठों के प्रदेश में घुसकर पुरन्दर के क़िले को घेर लिया, इसलिए महाड़ के मुरारबाजी देशपांडे नामक प्रभू सरदार ने बड़ी शूरता से उस नगर की रक्षा की। यहां तक कि उस समर-वीर ने अपने प्राण त्याग करके भी उस प्रचंड मुग़ल सेना का सामना किया; और उसे नीचा दिखाया। बखर-लेखक अथवा ग्रांट डफ ने इस बात का कोई कारण नहीं दिया है कि, उस समय शिवाजी को दिल्लीश्वर के आश्रित, प्रमुख हिन्दू सरदार राजा जयसिंह की शरण में जाकर, मीठी बातों के द्वारा अपने कार्य को साध लेने का परामर्श क्योंकर दिया गया था? पर इसमें तो कोई संदेह नहीं है कि, शिवाजी ने निराश होकर के ही उस मार्ग का अवलम्बन नहीं किया था। बखर-लेखक का कथन है कि माता भवानी ने शिवाजी के मन में प्रेरणा की थी कि, राजा जयसिंह परमेश्वर का लाड़ला भक्त है; और उसके साथ युद्ध करने में सफलता नहीं होगी: अतः मित्रता करके ही अपने उद्देश को पूर्ण करना ठीक होगा। परन्तु क्या जिस वीर ने अफ़ज़लखां और शाइस्ताखां जैसे प्रभावशाली मुग़ल सर-

दारों को मार भगाया था और जिस नरसिंह के रणधुरंधर सरदारों ने किसी नेता या क़िले का आश्रय न होते हुए भी सारे महाराष्ट्र में फैली हुई औरंगज़ेब के सैन्य-समुद्र को पीछे हटा दिया था, वह प्रत्यक्ष वीर-रसावतार शिवाजी जयसिंह से युद्ध करने को असमर्थ था? सच तो यह है कि जब कभी शिवाजी ने स्वयं सेना-नायक बनकर शत्रुओं पर चढ़ाई की, तब उन्हें बराबर सफलता मिलती रही, यहां तक कि ज्यों ज्यों कठिन संकट उन पर आते थे, त्यों त्यों उनका शौर्य और सूझ अधिकाधिक बढ़ती जाती थी। ऐसी दशा में भी, जब कि शिवाजी ने जानबूझ कर जयसिंह की शरण जाकर प्रायः सारे क़िले और प्रदेश उसे सौंप दिये; तब उन्हें और उनके साथियों को अवश्य ही कोई न कोई राजनैतिक दांव साधना होगा। कदाचित् शिवाजी ने सोचा हो कि, थोड़ी देर के लिये जय-सिंह की शरण जाने से, दिल्ली में प्रविष्ट होकर वहां के बड़े दरबार में अपने विचार प्रकट करने के लिये अवसर मिलेगा, अथवा कम से कम बड़े बड़े राजपूत सरदारों से परिचय हो जायगा। साथ ही अपनी बड़ी बड़ी कामनाएं पूर्ण होने में भी, स्वार्थत्याग से संपादित की हुई जयसिंह की मित्रता से, बहुत कुछ सहायता मिल सकने का भी उन्हें विश्वास हुआ होगा! चौथ और सरदेशमुखी के स्वत्व प्राप्त करने के लिये तो वे लगातार प्रयत्न कर ही रहे थे। परन्तु शाहजहां और औरंगज़ेब ने उनके उन स्वत्वों की स्वीकृति नहीं दी थी। उन स्वत्वों को प्राप्त कर लेने का उन्हें विश्वास था, इसीसे कदाचित् उन्होंने सोचा हो कि कुछ समय के लिये जयसिंह की बांह गहने से, उक्त स्वत्व अधिक

लाभदायी रीति से प्राप्त किये जा सकेंगे। इसमें कोई संदेह नहीं कि, उस समय उक्त, या उन्हीं के सदृश, अन्य कारणों को, भावी घटनाओं को देखते हुए, जितना महत्व प्राप्त होना था, उससे कहीं अधिक महत्व, शिवाजी और उनके मंत्रियों ने दिया। जो हो, उस समय शिवाजी ने मुग़ल बादशाह के साथ सब प्रकार की शर्तों पर सुलह करने का निश्चय कर लिया था। तदनुसार मुग़लों से सुलह हो गई। उन्होंने बीस क़िले मुग़लों को सौंप दिये; और बारह अपने सरदारों के पास ही रखे। साथ ही अपने तीन विश्वासपात्र परामर्श दाताओं को, जीजाबाई की इच्छा के अनुसार, राजकाज चलाने के लिए नियत कर दिया; और इस प्रकार मुग़लों का प्रधानत्व स्वीकार करके उन्होंने जयसिंह के साथ बीजापुर पर चढ़ाई की। इसके कुछ दिनों बाद जब उन्हें यह वचन मिला कि उनकी जान को कोई ख़तरा न रहेगा, तब वे अपने पुत्र संभाजी और कुछ घुड़सवार और मावलों को साथ लेकर दिल्ली पहुंचे, परन्तु वहां पर उनका उचित आदर-सत्कार नहीं किया गया। कुछ दिनों तक दिल्ली में रहने पर उन्हें विश्वास हो गया कि, उनके जीवनकाल में यही सब से भारी भूल हुई। उस समय उन्होंने किस युक्ति से दिल्ली से अपना छुटकारा कर लिया, सो सभी को भलीभांति ज्ञात है; अतएव उसके विषय में विस्तारपूर्वक लिखने की आवश्यकता नहीं है। उससे ज्ञात हो जाता है कि, संकट के समय शिवाजी की योजना-शक्ति किस प्रकार जागृत रहा करती थी। साथ ही उससे उनके अनुयायियों की स्वामि-भक्ति की परीक्षा भी हो जाती है। स्वदेश छोड़ने के बाद जब दस मास में वे फिर

वहां पर आये, तब उन्हें सारी बातें यथावत् ही देख पड़ीं। उनके किये हुए प्रबंध में किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं किया गया था। शिवाजी के दिल्ली जाने का वह अवसर मराठों के इतिहास का पहला संकटपूर्ण अवसर था। उस समय चारों ओर मुग़लों का प्रभाव स्थापित हो चुका था, सारा देश और क़िले मुग़ल सेना ने जीत लिये थे, तथा शिवाजी और संभाजी दिल्ली के कारागार में डाल दिये गये थे। परन्तु उस अत्यंत कठिन अवसर पर भी किसी ने स्वदेश के साथ विश्वासघात नहीं किया; और न कोई शत्रुओं से ही जाकर मिला। राजयशासन भी पूर्व ही की भांति बड़ी सुविधा से हो रहा था; और प्रत्येक मनुष्य अपने अपने कार्य में मग्न था। शिवाजी के दिल्ली से लौटने का समाचार सारे देश में विद्युत्-गति से फैल गया; और सब लोगों में नई शक्ति जागृत हो उठी। मराठे वीर मुग़ल-सेना से अधिक वीरता के साथ लड़ने लगे; और बड़ी शीघ्रता से उन्होंने फिर सारे क़िले वापस ले लेने का कार्य आरंभ कर दिया। मोरोपंत पेशवा ने तो जयसिंह के दिल्ली चले जाने का अवसर देख कर शिवाजी के स्वदेश लौटने के पूर्व ही, पूना के उत्तर ओर के क़िले, और कल्याण प्रांत का बहुत सा प्रदेश, हस्तगत कर लिया था। अस्तु। इसके बाद दिल्ली के बादशाह ने फिर से तीसरी बार, शिवाजी को पराजित करने के लिये, अपनी फ़ौज भेजी; और उसका सेनापतित्व स्वयं अपने पुत्र और जोधपुर के राना जसवंतसिंह को सौंपा। बादशाह का पुत्र दक्षिण का सूबेदार नियत किया गया। इस नये सूबेदार ने, दक्षिण में पहुंचते ही, बादशाह के परामर्श के अनुसार, शिवाजी के साथ

सुलह कर ली । उस सुलह के अनुसार औरंगज़ेब ने शिवाजी को 'राजा' का पद प्रदान किया, संभाजी ५००० घुड़सवारों की सेना के मनसबदार बनाये गये, जुन्नर और अहमदनगर नगरों के स्वत्वों के बदले शिवाजी को बरार प्रदेश में जागीर सौंपी गई; तथा सिंहगढ़ और पुरन्दर के अतिरिक्त पूना, चाकन और सूपा ज़िलों की उनकी पहले की जागीर उन्हें फिर से सौंप दी । उस सुलह के अनुसार शिवाजी बादशाही दरबार के एक प्रतिष्ठित सरदार बन गये । अतएव उन्होंने मुग़लों का प्रधानत्व स्वीकार कर लिया; और बादशाह की सेवा के लिए उन्होंने प्रतापराव गूजर के साथ बहुत से घुड़सवार देकर उन्हें औरंगाबाद की ओर भेज दिया । लगभग दो वर्ष तक, अर्थात् जब तक मुग़लों और बीजापुर वालों की लड़ाई (सन् १६६८ ई० में) समाप्त नहीं हो गई तब तक, उक्त सुलह क़ायम बनी रही ।

मुग़लों और बीजापुरवालों के बीच जो सुलहनामा हुआ, उससे शिवाजी का कोई संबंध नहीं था । उस समय के दक्षिण के सूबेदार और शिवाजी में अत्यंत मित्रता और प्रेमभाव था, अतएव बीजापुर और गोलकुंडा के दरबारों ने, शिवाजी की बहुत दिनों की आन्तरिक इच्छा के अनुसार, चौथ और सरदेशमुखी के स्वत्वों को स्वीकार कर लिया; और उन दोनों स्वत्वों के लिए शिवाजी को क्रमशः पांच लाख और तीन लाख रुपये देना स्वीकार कर लिया । बीजापुर और गोलकुंडा के राजाओं और दक्षिण के मुग़ल सरदारों ने मिल कर ही सन् १६७९ में, उक्त विचार निश्चित किया । उस समय शिवाजी का प्रभाव भी बहुत कुछ स्थापित हो गया था । उनकी

पहले की जागीर और प्रायः सभी क़िले फिर से उनके अधिकार में आ गये थे और उन्होंने मुगल बादशाह से एक जागीर और मनसब भी प्राप्त कर ली थी। इसके सिवाय दक्षिण के मुसलमान राजाओं ने चौथ और सरदेशमुखी के उनके स्वत्वों को भी मान लिया था। शिवाजी के इन लाभों के कारण जब औरंगज़ेब ने सन् १६६७ ई० के सुलहनामे की शर्तों का उल्लंघन करके उनके साथ युद्ध छेड़ दिया, तब उसका मुक़ाबला करने में शिवाजी को कोई कठिनाई नहीं हुई। औरंगज़ेब ने अपने पुत्र—दक्षिण के सूबेदार—को आज्ञा दी कि यदि तू अपनी शक्ति या युक्ति से शिवाजी को पकड़ कर नहीं लावेगा तो मैं तुझ पर बहुत नाराज़ हो जाऊंगा। प्रतापराव गूजर उस समय अपने घुड़सवारों-सहित औरंगाबाद में थे। उन्हें जब मुग़लों का उक्त कपट किसी तरह से ज्ञात हो गया, तब वे शीघ्र ही वहां से चल दिये। इस प्रकार मुग़ल सम्राट् का सामना करने के लिये शिवाजी को फिर से तैयार होना पड़ा। युद्ध छिड़ गया। अतएव शिवाजी को अपनी रक्षा के लिये सिंहगढ़ के क़िले को लेना पड़ा। उन क़िले में बादशाह की राजपूत पलटन थी। परन्तु उसकी कुछ भी परवा न करते हुए तानाजी मालुसरे ने, आधी रात के समय, अपने ३०० मावले वीरों सहित क़िले पर धावा कर दिया। तानाजी उस क़िले की दीवार पर से चढ़ कर भीतर घुस गये; पर वहां की सेना ने उन्हें मार डाला। इस प्रकार तानाजी तो रणभूमि पर पतन हुए; पर जिस वीर ने स्वदेश के प्रीत्यर्थ अपने प्राणों की बलि दी, उस वीर के भाई को फबनेवाला अपूर्व शौर्य दिखला कर तानाजी के भाई सूर्याजी ने, अपने भाई के कार्य को पूर्ण

किया । इस प्रकार गढ़ तो हस्तगत हो गया, पर उसके लिए तानाजी जैसे सिंह को अपने प्राण त्यागने पड़े ! सिंहगढ़ के जीत लेने के अनंतर शिवाजी ने पुरंदर, माहुली, करनाला, लोहगढ़ और जुन्नर के क़िले भी जीत लिये । उन्होंने जँजीरे पर भी चढ़ाई की थी, पर सिद्दी की मज़बूत जल-सेना के कारण वे कुछ भी नहीं कर सके । उन्होंने फिर से सूरत को लूटा; और सूरत से लौटते समय, मार्ग में उनका पीछा करने वाले मुग़ल सरदारों से, उनकी मुठभेड़ हो गई । यद्यपि मुग़ल सेना उनकी सेना से बहुत बड़ी थी, तथापि शिवाजी के घुड़सवारों ने, मुग़ल सेना को हराकर, सूरत को लूट का द्रव्य रायगढ़ को सुरक्षित रूप से पहुंचा दिया । प्रतापराव गूजर ने भी खानदेश में घुस कर, बरार के बिलकुल पूर्वीय भाग तक, सब प्रदेशों पर कर लगाया । इसके पूर्व मराठों ने दिल्ली के बादशाह के प्रदेश से चौथ और सरदेशमुखी कभी वसूल नहीं की थी । मोरोपंत पेशवा ने भी सन् १६७१ ई० में बागलान के साल्हेर आदि क़िले जीत लिये । परन्तु सन् १६७२ ई० में ही मुग़लों ने साल्हेर को फिर घेर लिया, अतएव मराठों ने बड़ी वीरता से नगर की रक्षा की, तथा मोरोपंत पेशवा और प्रतापराव गूजर ने उस असंख्य शत्रु-सेना का भारी सामना कर के उसको पूर्ण पराजित कर दिया । सन् १६७३ ई० में शिवाजी ने फिर से पन्हाला जीत लिया । उसी साल अण्णाजी दत्तो ने हुबली नगर को लूटा । शिवाजी ने कारवार की ओर अपनी जल-सेना को भेज कर उस ओर के समुद्र तट का सारा प्रदेश जीत लिया; और गोलकुंडा के राजा की भांति बेदनूर के राजा से भी कर वसूल किया । इधर बीजापुर

दरबार की भेजी हुई सेना को प्रतापराव ने अच्छी तरह से छकाया और जब बीजापुर-दरबार ने सन् १६७४ ई० में फिर से अपनी सेना को भेजने की धृष्टता की, तब हंसाजीराव मोहिते ने बीजापुर के मुख्य द्वार तक उसका पीछा किया। इस प्रकार अनेक युद्ध करके शिवाजी ने केवल चार ही वर्ष में, फिर से अपने सारे प्रदेश को वापिस ले लिया और बहुत सा नया प्रदेश भी जीता। उत्तर में सूरत तक, दक्षिण में हुबली-बेदनूर तक और पूर्व में बरार, बीजापुर और गोलकुंडा तक उनके राज्य का विस्तार हो गया। इसके अतिरिक्त वे तापी नदी के दक्षिण ओर मुग़लों के प्रदेश से चौथ और सरदेशमुखी भी वसूल करने लगे तथा गोलकुंडा और बेदनूर के राजाओं को अपने अधीन करके उनसे भी खिराज लेने लगे। अर्थात् बखर-लेखकों के कथनानुसार, उन्होंने तीन मुसलमान बादशाहों को अपने अधीन करके संसार को दिखला दिया कि हिन्दू-सम्राट्-पद के लिये सर्वथा वे ही योग्य हैं। उक्त विचार से ही, उनके तीस वर्ष के देशकार्य का महत्व ध्यान में लाकर, उनके मंत्रियों ने बड़े ठाटबाट से उनका राज्याभिषेकोत्सव मनाया; और हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना की। उस समय के दक्षिणी भारत की परिस्थिति को देखते हुए लोगों के मन में स्वराज्य-विषयक विचार उत्पन्न कराना अत्यंत आवश्यक था। इसी उद्देश्य से विशेष कर, शिवाजी का राज्याभिषेक बड़ी धूमधाम से किया गया। अवश्य ही यह उद्देश्य पूर्ण हुआ; और औरंगज़ेब ने जब जब दक्षिण पर चढ़ाई की, तब तब वहां के सभी मराठे सरदारों ने एकत्रित होकर स्वराज्य की रक्षा करने की भरशक चेष्टा की।

उसी समय से शिवाजी के शासन का चौथा और अंतिम भाग आरंभ हुआ। राज्याभिषेकोत्सव मनाने के कारण चारों ओर आनंद और उत्साह फैल गया; और नये स्थापित किये हुए हिन्दू-साम्राज्य के सम्मानार्थ सह्याद्रि पर्वत और समुद्र तट के प्रत्येक क़िले से तोपें दागी गईं। अपने शासन के इस चौथे भाग में शिवाजी को बहुत कुछ शांति-सुख प्राप्त हुआ। मुग़ल सेना बीजापुर और गोलकुंडा के राज्यों को जीतने में फंसी रही, अतएव उसने शिवाजी को कोई विशेष कष्ट नहीं दिये। गोलकुंडा पर मुग़ल सेनापति ने चढ़ाई की, पर हंबीरराव मोहिते की सहायक सेना समय पर पहुंच गई, अतएव उसे पीछे हट जाना पड़ा। शिवाजी के आश्रय के ही कारण कुछ समय तक गोलकुंडा राज्य की रक्षा हो सकी। शिवाजी ने जब कर्नाटक पर चढ़ाई की, तब गोलकुंडा के राजा ने उनको सहायतार्थ अपनी फ़ौज भेजी। उस चढ़ाई में शिवाजी ठेठ तंजोर तक जा पहुंचे। मार्ग में उन्होंने वेलोर क़िले को भी जीत लिया, जिंजी के क़िले की मरम्मत की; और मैसोर के मार्ग पर अपनी फ़ौज की छावनियां स्थापित कीं। उधर मुग़ल सेना बीजापुर के पास ही डटी हुई थी। जब उसने बीजापुर को घेर लिया, तब वहां के आदिलशाही राजा और उनके मंत्री बड़े घबड़ाये। उन्हें अपनी रक्षा का कोई उपाय नहीं देख पड़ा; और फिर उन्होंने शिवाजी से सहायता चाही। उस समय शिवाजी ने भी, पूर्व-द्वेषभाव को भूल कर, उनकी सहायता के लिये अपनी सेना भेज दी। तदनुसार शिवाजी की सेना ने सूरत से लगा कर बुरहानपुर तक के मुग़ल-प्रदेश को विध्वंस करके पीछे की ओर से और

दाहनी-बाईं ओर से मुग़ल सेना पर आक्रमण किया। इस प्रकार कैंची में पड़ जाने से मुग़ल सेना को, बीजापुर का घेरा हटा कर, औरंगाबाद की ओर चले जाने के लिए बाध्य होना पड़ा। चौथे भाग के येही मुख्य मुख्य युद्ध हैं। महाराज शिवाजी को उस समय थोड़ी सी विश्रांति मिल गई, इसलिये उनको राज्य-प्रबंध की ओर भी ध्यान देने के लिए अवसर मिला। उस अवसर में उन्होंने राज्य-विषयक जो कुछ सुधार किये; और राज्य-प्रबंध की जिस नई शैली का प्रचार किया, उसी के कारण वह भाग अधिक महत्वपूर्ण बन गया है। शिवाजी ने जिन सुधारों या प्रथाओं का प्रचार किया, उनका विस्तारपूर्वक वर्णन अगले परिच्छेद में किया जायगा। हां, यहां पर सिर्फ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि, शिवाजी अपने शासन-काल के पहले भाग के अंत में सिर्फ चाकन से लेकर नीरा नदी तक के छोटे से प्रदेश के स्वामी थे; परन्तु अपने अन्त समय में वे ही शिवाजी ताप्ती नदी के दाक्षिणी प्रदेशों में अत्यन्त बलवान् राजा हो गये थे; और ताप्ती से लगकर कावेरी नदी तक के सभी हिन्दू और मुसलमान राजा, उन्हें सम्राट् मान कर, उनके अधीन हो गये थे।

सातवाँ परिच्छेद ।

शिवाजी का राज्यप्रबंध ।

शिवाजी की सैनिक योग्यता के इतिहास से हमें उनकी श्रेष्ठतर बुद्धि के एक ही भाग का ज्ञान होता है, परन्तु राज्य का सुप्रबंध करने के लिये जो आवश्यक गुण उनमें थे; और जिनके लिए हमारे मन में उनके विषय में अधिक पूज्यभाव उत्पन्न हो जाता है, उनका भी यहां पर विचार करना आवश्यक है। नेपोलियन की तरह शिवाजी भी अपने समय की राजनैतिक संस्थाओं के उत्पादक और रचयिता थे। उन्हीं संस्थाओं के कारण प्रायः उन्हें अपने कार्यों में सफलता मिलती रही; और उनके अनन्तर, महाराष्ट्र पर जितने भयंकर संकट उपस्थित हुए, उनसे अपनी रक्षा करके, और मुग़लों से लगातार बीस वर्ष तक युद्ध करके, महाराष्ट्र फिर से अपनी स्वतंत्रता को प्राप्त कर सका। शिवाजी की स्थापित की हुई राजनैतिक संस्थाएँ, उनके पूर्व की हिन्दू और मुसलमानों की राज्यप्रबंध-शैली से बिलकुल भिन्न थीं। अतएव उनसे उनकी अपूर्व कल्पनाशक्ति और अनुपमेय बुद्धि-चातुर्य का अच्छी तरह से पता चल सकता है। इस लिए हमें उन संस्थाओं का ध्यान-पूर्वक निरीक्षण करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अपने आरंभ किये हुए या संपादित किए हुए कार्य में फूट या कुप्रबंध का प्रवेश न होने देने के लिये भी वे बहुत सावधान रहा करते

थे। परन्तु उन्हीं के उत्तराधिकारियों ने, उनके अनंतर, जब महाराष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए लड़कर फिर से स्वराज्य स्थापित किया, तब उनकी आदर्श शासन-पद्धति का अनुकरण न करके, प्राचीन प्रणाली का अवलंबन किया। फलतः आपस में फूट हो गई; और कुप्रबंध के बीज जम गये। हम पहले ही लिख चुके हैं कि, शिवाजी ने अपने ही अधिकार में, सारे भारत पर, एक ही राज्य के स्थापित करने की इच्छा कभी प्रकट नहीं की थी। किन्तु उनका सारा प्रयत्न इसी उद्देश्य से था कि लोगों को राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करा दी जाय, वे अपनी रक्षा करने और अपना स्वत्व स्थापित करने के योग्य बन जायँ; और राष्ट्र के नाते से उनमें एकता स्थापित हो जाय। अन्य राष्ट्रों का नाश करने की उन्होंने कभी इच्छा नहीं की। गोलकुंडा, बेदनूर और बीजापुर के बादशाह से भी उनकी मित्रता थी; और उनके अधिकार के तैलंगन, मैसोर और कर्नाटक प्रांतों में उन्होंने कभी हस्तक्षेप नहीं किया। उन्होंने द्रविड़ देशकी अपनी पैतृक जागीर भी अपने सौतेले भाई व्यंकोजी को सौंप दी थी। मुग़लों के प्रदेशों से चौथ और सरदेशमुखी के स्वत्व प्राप्त करके ही वे चुप हो गये थे। वे 'स्वराज्य' (अपने अधिकार का प्रदेश) और मुग़लों के प्रदेश को (स्वराज्य के बाहर विदेशियों के अधिकृत प्रदेश को) बिलकुल भिन्न मानते थे। उन्होंने जिन राजनैतिक संस्थाओं की स्थापना की, वे केवल महाराष्ट्र देश के राज्यशासन के ही लिये थीं। फिर भी महाराष्ट्र देश के बिलकुल दक्षिणी प्रदेश के जितने दुर्ग उनके अधिकार में थे, उनके प्रबंध के लिये भी उन्होंने उस प्रथा का अवलंबन किया था। उन्होंने अपने प्रदेश को

प्रांतों (ज़िलों) में विभाजित किया था; और पूना के पास की पैत्रिक जागीर के अतिरिक्त उनके अधिकार में निम्न प्रांत भी थे:—१ मावल प्रांत—वर्तमान मावला, सासवड़, जुन्नर और खेड़ ताल्लुके तथा उनके आस पास के १८ पहाड़ी क़िले; २ वाई, सितारा और कहाड़ प्रांत—वर्तमान सितारे ज़िले का पश्चिमी भाग और उनके आसपास के १५ पहाड़ी क़िले; ३ पन्हाला प्रांत—वर्तमान कोलहापुर रियासत का पश्चिमी भाग और १३ पहाड़ी क़िले; ४ दक्षिण कोकन प्रांत—वर्तमान रत्नागिरि ज़िला और ५८ पहाड़ी क़िले तथा जलदुर्ग; ५ थाना प्रांत—वर्तमान उत्तरीय कोकन प्रदेश और १२ क़िले; ६,७ त्रिंबक और बागलान प्रांत—वर्तमान नासिक ज़िले का पश्चिमी भाग और ६२ पहाड़ी क़िले। इन प्रांतों के अतिरिक्त उनकी सेना की छावनियां अगले प्रांतों में थीं:—८ बनगढ़ प्रांत—वर्तमान धारवाड़ ज़िले का दक्षिणी भाग और २२ क़िले; ९, १०, ११ बेदनूर, कोलहार और श्रीरंगपट्टन-वर्तमान मैसोर प्रदेश और १८ क़िले; १२ कर्नाटक प्रांत—वर्तमान मद्रास अहाते में सम्मिलित कृष्णा नदी का दक्षिणी प्रदेश और १८ क़िले; १३ वेलोर प्रांत-वर्तमान अर्काट ज़िला और २५ क़िले; और १४ तंजोर प्रांत तथा ६ क़िले। सह्याद्रि की सभी श्रेणियाँ पर छोटे-बड़े क़िले बने हुए थे; और पश्चिम में समुद्र तट तक और उन क़िलों के पूर्वीय प्रदेशों तक के बीच के प्रदेश की चौड़ाई ५० मील से लगाकर १०० मील तक की थी।

बखरों में लिखा गया है कि शिवाजी के अधिकार में २८० क़िले थे। पहाड़ी क़िले और उनके आसपास के प्रदेश को अपने राज्य का ही भाग मानना शिवाजी की राज्यप्रणाली

का एक तत्व था। नये क़िले बनाने और पुरानों की मरम्मत करने के लिये भी वे बहुत सा धन खर्च करते थे। उनके क़िलों पर बहुत सी सेना और युद्ध-सामग्री रहती थी। इन क़िलों की खूबी यह थी कि, इनके कारण शत्रुओं को चढ़ाइयों की चिंता न रहती थी; और भीतर सुरक्षित रूप से रह कर बाहर के शत्रुओं पर यथावत् गोलाबारी की जा सकती थी। इन्हीं क़िलों के द्वारा मराठों ने पहले-पहल ऐसे ऐसे शूरता-पूर्ण और साहसयुक्त रणकौशल दिखलाये हैं कि जो उनके इतिहास में अत्यंत मनोरंजक माने जाते हैं। इन्हीं क़िलों की मज़बूत शृङ्खला में सारा महाराष्ट्र प्रदेश एकत्रित रूप से बँधा हुआ था; और संकट के समय इन क़िलों ने उसकी बड़ी रक्षा की। सितारे के क़िले पर जब औरंगज़ेब की असंख्य सेना ने धावा किया, तब मराठे लोग कई मास तक उस क़िले के आश्रय से बड़ी वीरतापूर्वक लड़ते रहे, और यद्यपि अन्त में वह क़िला शत्रुओं के हस्तगत हो गया था, तथापि छत्रपति राजाराम के समय में वर्तमान औंध-नरेश के पूर्वजों ने ही सब से पहले शत्रुओं से उसे ले लिया था। तोरणा और रायगढ़ तो शिवाजी की बाल्यावस्था के ही पराक्रम के फल थे; और शिवनेरी क़िला उनका जन्म-स्थान ही था। बाजी प्रभु की वीरता से पुरंदर क़िला प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। इधर रोहिड़ा और सिंहगढ़ के क़िले अद्वितीय योद्धा तानाजी मालुसरे के पराक्रम का परिचय कराते हैं। सिद्दी जोहार की प्रचंड सेना से टक्कर लेने के लिए पन्हाले का क़िला प्रसिद्ध है। रणशूर बाजी प्रभु ने अपने प्राणों की आहुति देकर रांगणा क़िले की घाटी के मार्ग को बड़ी हिम्मत से रोका था; और इस लिए वह क़िला

भी इतिहास-प्रसिद्ध हो गया है। मालवन का क़िला और कुलाबा की छावनी, ये दोनों समुद्री युद्ध करनेवाली मराठी जलसेना के मुख्य स्थान थे। अफ़ज़लखां के वध के कारण प्रतापगढ़ क़िला प्रसिद्ध है, तथा माहुली और सालेरी में मावले वीरों ने मुग़ल सेनापतियों से सामना करके उन्हें हरा दिया था, इस कारण वे किले भी इतिहास में प्रसिद्ध हैं। शिवाजी के अधीनस्थ इन क़िले की पूर्वीय सीमा कल्याण, भिवंडी, वाई, कहाड़, सूपा, खटाव, बारामती, चाकण, शिरवल, मिरज, तासगांव और कोल्हापुर के क़िलों से घिरी हुई है।

इन क़िलों ने शिवाजी को समय समय पर जो सहायता दी, उनसे यह कहा जा सकता है कि उनके सुप्रबंध और रक्षा करने में उन्होंने जितना परिश्रम किया वह सब सार्थक था। प्रत्येक क़िले पर एक रक्षक नियत था और उसी के अधिकार में उसकी जाति के कुछ सहायक रखे जाते थे। इन्हीं सब के हाथ में क़िले के आस-पास के विभिन्न तटों की रक्षा का कार्य सौंपा जाता था। इसके अतिरिक्त देशस्थ, कोकनस्थ और कहाड़े इन तीनों ब्राह्मण-श्रेणियों में से सूबेदार अथवा सबनीस पद पर एक ब्राह्मण कर्मचारी रखा जाता था। साथ ही कार-खानीस नामक एक प्रभू जाति का भी कर्मचारी रहता था। इन दोनों कर्मचारियों को क़िले पर के रक्षक की कई कार्यों में सहायता देनी पड़ती थी। रक्षक (हवलदार) और उसके नीचे के मराठे कर्मचारियों के हाथ में क़िले की सेना के प्रबंध का कार्य सौंपा जाता था। ब्राह्मण सूबेदार प्रदेश के प्रबंध के कार्य करते थे; और क़िले के आस पास के ग्रामों पर भी उन्हीं

की हुकूमत रहा करती थी। प्रभू कारखानीस के अधिकार में घास-दाना, गोला-बारूद आदि युद्ध-सामग्री के अतिरिक्त क़िले की मरम्मत कराने का भी कार्य था। इस प्रकार उन तीनों जातियों को एक ही स्थान पर विभिन्न कार्य सौंपे गये थे, अतएव उनमें पारस्परिक प्रेम और विश्वास उत्पन्न हो गया था, और द्वेष-भाव उत्पन्न होने के लिये कोई कारण नहीं था। पर्वतों के आसपास के प्रदेशों की बड़ी सावधानी से रक्षा की जाती थी; और क़िले के पास के जंगलों की रक्षा करने का कार्य प्रजा के रामोशी आदि निम्न जातियों के हाथ में सौंपा जाता था। दिन में और रात में पहरा देने और रक्षा करने के कार्य के लिये प्रत्येक सिपाही को आवश्यक सूचनाएँ भी दी जाती थीं। क़िले के छोटे बड़े होने या उसके महत्व की दृष्टि से, वहां पर न्यूनाधिक सेना रखी जाती थी। नौ सिपाहियों के ऊपर एक 'नाइक' नियत किया जाता था। बंदूक, तलवार, तीर, भाले, पट्टे, बर्छी आदि हथियार सैनिकों को दिये जाते थे। वेतन में प्रत्येक सिपाही को, उसके दर्जे के अनुसार, नक़द अथवा अन्य प्रकार का नियत द्रव्य दिया जाता था।

यहां तक हमने केवल पहाड़ी क़िलों और उनके आसपास के प्रदेशों की व्यवस्था का वर्णन किया। अब राज्य के अन्य प्रदेशों की व्यवस्था का वर्णन करना आवश्यक है। जिस प्रकार वर्तमान ब्रिटिश राज्यप्रबन्ध में ताल्लुकों की शैली है, उसी प्रकार उस समय भी राज्य के अन्य प्रदेश महालों (परगनों) और प्रांतों में विभाजित किये गये थे। एक महाल की वार्षिक आय लगभग पौन लाख से लेकर सवा लाख तक

हुआ करती थीं। दो या तीन महालों का एक सूबा और उसका अधिकारी सूबेदार कहलाता था। उसका वार्षिक वेतन चार सौ 'होन', अर्थात् मासिक १०० रुपये होता था। मुगलों की राज्यप्रबंध-प्रणाली में मालगुज़ारी का कार्य गांव के पटेल, कुलकरनी (पटवारी) अथवा ज़िले के देशमुख या देशपांडे को सौंपा गया था। पर शिवाजी ने उस प्रथा का अवलंबन नहीं किया। यद्यपि गांव और ज़िलों के उक्त हक़दारों के हक़ भी पूर्ववत् उन्हीं के हाथ में रखे गये थे; परन्तु मालगुज़ारी की व्यवस्था का सारा कार्य उनके हाथ से निकाल कर सूबेदार और महालदार के हाथ में दे दिया था। ये लोग अपने सूबे या अपने महाल का प्रबंध स्वयं ही करते थे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक दो-तीन गांव के पीछे कमाविसदार नामक एक और कर्मचारी नियत किया जाता था, जो मालगुज़ारी वसूल करने का कार्य करता था। महालों अथवा गावों को ठेके पर देने, अथवा उनकी मालगुज़ारी किसी एक ही ज़मीदार से वसूल करने, की प्रथा महाराज शिवाजी को बिलकुल पसंद नहीं थी।

पैदल और घुड़सवारों की पलटनों के अधिकारियों और अन्य लोगों के अधिकारों की जिस प्रकार व्यवस्था की गई थी उसी प्रकार क़िले पर के सैनिकों और उनके अधिकारियों के पद नियत किये गये थे। दस सिपाहियों पर एक नाइक, पांच नाइकों पर एक हवलदार, दो हवलदारों पर एक जमादार और ऐसे दस जमादारों के अधिकार में एक हज़ार सैनिकों का एक दल रखा जाता था। फिर उस दल पर 'हजारी' नामक एक अधिकारी नियत किया जाता था। इस प्रकार के सात हजारी एक सरनौबत के अधिकार में रहते थे; और इस

प्रकार एक मावलों की पलटन तैयार हो जाती थी। सवारों में 'बारगीर' और 'सिलेदार' नामक दो श्रेणियां थीं। पच्चीस बारगीर अथवा सिलेदार एक हवलदार के अधिकार में रहा करते थे। इस प्रकार के पांच हवलदारों पर एक जुमाला, दस जुमालों पर एक हजारी और पांच हज़ारियों पर एक 'पंचहजारी' नियत था। उन सब पर फिर सवारों के सरनौबत का अधिकार था। पच्चीस सवारों के लिये एक भिस्ती और नालबंद नियत किया जाता था। पैदल और सवारों की प्रत्येक पलटन के मराठा अधिकारी के नीचे एक एक ब्राह्मण सबनीस और प्रभू कारखानीस अथवा ब्राह्मण मुजूमदार और प्रभू जमिनीस होता था। बारगीरों के घोड़ों को, वर्षाकाल में छावनियों में ही बांध रखते थे; और उन स्थानों पर उनके लिए चंदी-घास का अच्छा प्रबंध किया जाता था। सैनिक लोगों के रहने के लिये भी अलग अलग सुविधाजनक कोठरियां बनाई जाती थीं। सेना के अधिकारियों और सैनिकों को नियमित रूप से वेतन दिया जाता था। 'पागा हज़ारी' का वेतन १००० होन और 'पागा पंचहज़ारी' का २००० होन नियत था। पैदल सेना के हजारी को ५०० होन वेतन-स्वरूप दिये जाते थे। पैदल सिपाहियों का वेतन ३ रुपये से लगा कर ६ रुपये तक नियत था और सवारों के बारगीरों का वेतन छै रुपये से लगाकर बीस रुपये तक, योग्यता के अनुसार, दिया जाता था। सेना के लोगों को वर्ष में आठ मास मुल्कगीरी पर रह कर मुग़लों के प्रदेशों से वसूल की हुई चौथ और सरदेशमुखी की आमदनी पर अपना निर्वाह करना पड़ता था। उस समय वे अपने साथ अपने बाल-बच्चों

को कदापि नहीं रख सकते थे। किसी नगर के लूटने पर प्रत्येक सवार अथवा सिपाही को अपनी लूट का हिसाब देना पड़ता था। नये सवार अथवा सिपाही को, सेना में भर्ती होने के पहिले, अपने अच्छे आचरण के विषय में, अपने परिचित सिपाहियों अथवा सवारों की ज़मानत देनी पड़ती थी। सैनिक अधिकारियों को चूंकि चौथ और सरदेशमुखी की वसूली का हिसाब देना पड़ता था, अतएव उन्हें पेशगी वेतन दिया जाता था। उस समय नौकरी के बदले ज़मीन की आय अथवा स्वयं ज़मीन ही नहीं दी जाती थी। शिवाजी के सैनिक नियम यद्यपि बहुत कठोर थे; परन्तु फिर भी लोग उनकी सेना में बड़ी खुशी से भर्ती हो जाया करते थे। विजयादशमी के मुहूर्त पर जब सैनिकों की भरती होने लगती, तब घाटमाथे के मावले, कोकन के हेटकरी, महाराष्ट्र के बारगीर और सिलेदार शिवाजी के राष्ट्रीय झंडे की ओर दौड़ पड़ते थे; और उनके नेतृत्व में शत्रुओं का सामना करने की अपेक्षा अन्य किसी प्रकार की नौकरी करना उन्हें पसंद ही नहीं आता था।

शिवाजी ने अपने राज्य में दो विशेष बातों का प्रचार किया। एक तो नौकरों को नक़द वेतन देना; और दूसरे सरकारी कर्मचारियों के द्वारा स्वयं ही ज़मीन का कर वसूल कराना। उन्होंने उक्त दोनों प्रथाओं में, प्राचीन प्रथाओं की अपेक्षा जो कुछ परिवर्तन किया, उसका वर्णन बखरकारों ने भी दिया है। उक्त दोनों प्रथाओं का प्रचार करने के लिए उन्होंने पूर्ण निश्चय कर लिया था। उनका विश्वास था कि पहले के राज्यप्रबंध में गड़बड़ी होने का मुख्य कारण यही था

कि गावों और ज़िलों के ज़मींदारों को भूमि-कर वसूल करने का अधिकार दिया जाता था। ज़मींदर लोग अपनी प्रजा से आवश्यकता से भी अधिक धन बटोरते थे; पर सरकारी कोष में कभी पूरा धन जमा नहीं किया जाता था। इसके अतिरिक्त वे लोगों में झगड़े फैलाते और सरकारी आज्ञाओं का भी उल्लंघन किया करते थे। अतः प्राचीन प्रणाली के अनुसार ज़मींदारों के हाथ में जो कार्य थे; उन्हें करने के लिये शिवाजी ने वैतनिक कर्मचारी—कमाविसदार, महालकरी और सूबेदार नियत किये थे। खड़ी फसल पर धान्य अथवा नकद रुपयों के रूप में लगान लगाने का कार्य कमाविसदार को सौंपा जाता था। खेतों की जमीन को अच्छी तरह से नापकर, किसानों के नाम के सहित, सरकारी कागज़ों में दर्ज करते थे; और हर साल किसानों की ओर से सरकारी लगान देने के विषय में कबूलियत लिखा ली जाती थी। यदि लगान धान्य के रूप में वसूल करने की शर्त होती, तो कुल उपज पर दो-पंचमांश से अधिक नहीं लिया जाता था। शेष तीन-पंचमांश पैदावार किसान के लिए छोड़ दी जाती थी। अकाल के दिनों में, अथवा कम वर्षा होने पर, कृपकों को तक़ावी के लिये बहुत सा धन भी दिया जाता था; जिसे किसान लोग चार पांच वर्ष तक, नियत किश्तों में, चुका सकते थे। प्रत्येक सूबेदार को फौजदारी और मालगुजारी के कार्य सौंपे जाते थे। दीवानी या लेन-देन के झगड़े विशेष महत्वपूर्ण नहीं गिने जाते थे; और यदि उक्त प्रकार के झगड़े होते तो सूबेदार गांवों के पंचों के द्वारा, और यदि अधिक झगड़े का मामला होता तो अन्य स्थानों के पंचों के द्वारा, उनका फैसला करा दिया करते थे।

ज़िलों के दीवानी कार्यों का प्रबंध राजधानी के मुख्य नगर के बड़े अधिकारियों के हाथ में था। उन अधिकारियों में से दो-पंत अमात्य और पंतसचिव—के हाथ में, वर्तमान राज्य-शासन-प्रणाली के अनुसार, आयव्यय के प्रबंध और हिसाब की जांच करने का कार्य सौंपा गया था। ज़िलों के सब हिसाब-किताब इन्हीं दोनों अधिकारियों के पास भेजे जाते थे। वे लोग सारे राज्य की आय-व्यय का हिसाब रखने, उसकी जांच करके ग़लतियों को दुरुस्त करने और ग़लती करनेवालों को दंड देने का अधिकार रखते थे। वे अधिकारी कभी कभी अपने कर्मचारियों को ज़िलों के अन्य कर्मचारियों के कार्यों की जांच करने के लिए भी भेजा करते थे। पंत-अमात्य और पंत-सचिव के पद, पेशवा पद की अपेक्षा कुछ कम दर्जे के थे। इनके हाथ में राज्य-प्रबंध के अतिरिक्त सैनिक कार्य भी सौंपे जाते थे। आठ विभागों के अधिकारियों को अष्ट-प्रधान कहते थे। इन सब में उपर्युक्त दोनों अधिकारी बड़े महत्व के गिने जाते थे। राजा के नीचे का पद मुख्य प्रधान का था; और उसे पेशवा कहते थे। पेशवा के हाथ में राज्य-प्रबंध और सैनिक प्रबंध आदि के सभी कार्य सौंपे जाते थे। वे सिंहासन के नीचे दाहिनी ओर पहले स्थान पर बैठते थे। सेनापति के हाथ में केवल सैनिक प्रबंध ही सौंपा जाता था; और वे सिंहासन के बाईं ओर प्रथम बैठते थे। अमात्य और सचिव पेशवा की दाहनी ओर क्रमशः बैठते थे; और उनके पास राजा का निजी मंत्री, अर्थात् 'ख़ासगी कर्मचारी' (प्राइवेट सेक्रेटरी) बैठता था। परराष्ट्रीय प्रधान, जिसे सुमंत कहते थे, सेनापति की दाहिनी ओर बैठता था; और उसके अनंतर

धर्माध्यक्ष पंडितराव और मुख्य न्यायाधीश क्रमशः बैठते थे। उक्त वर्णन से ज्ञात हो जायगा कि, भारत के शासन का कार्य करनेवाली वर्तमान ब्रिटिश-शासन-प्रणाली शिवाजी के अष्ट-प्रधानों की छायामात्र है। उस समय के पेशवाओं का पद वर्तमान गवर्नर जनरल अर्थात् वाइसराय (प्रतिनिधि) की तरह था। सेनाध्यक्ष, आय-व्यय के मंत्री और परराष्ट्रीय मंत्री नामक अधिकारी इस समय भी हैं। अंतर केवल इतना ही है कि, वर्तमान विधायक मंत्रि-मंडल में धर्माध्यक्ष, न्यायाधीश और 'खासगी कर्मचारी' का समावेश नहीं किया जाता। पर उनके बदले होम विभाग के सभासद, क़ानून बनानेवाला सभासद और पब्लिक वर्क्स का मुख्य अधिकारी, इत्यादि रहते हैं। निस्संदेह परिस्थिति के बदल जाने ही के कारण उक्त परिवर्तन हुआ है। तथापि उक्त दोनों पद्धतियों की रचना इसी तत्व पर हुई है कि राजा को राज्य-शासन के कार्य में सहायता देने के लिये राजा के भिन्न भिन्न विभागों के उच्च अधिकारियों का एक मंडल रहना चाहिये। अतः यदि शिवाजी की स्थापित और प्रचलित की हुई राज्यशासन-प्रणाली का उनके उत्तराधिकारी भी अवलंबन करते, तो सुव्यवस्थित और बलवान् ब्रिटिश सत्ता की भेट होने के पूर्व ही महाराष्ट्र-साम्राज्य पर जो संकट उपस्थित हुए और जिनके कारण वह साम्राज्य नष्ट हो गया, उनमें से अधिकांश संकटों का सहज ही में निवारण किया जा सकता था।

उस समय अष्टप्रधानों में से पंडितराव और न्यायाधीश के अतिरिक्त सभी को सेनापति के कार्य का ज्ञान होना आवश्यक था, अतएव राज्यशासन का कार्य भी सेना के

अत्यंत पराक्रमी लोगों के ही अधिकार में रहा करता था। इस बात में भी महाराष्ट्र-साम्राज्य के नष्ट हो जाने का बीज मिल सकता है। शिवाजी को यह बात पहले ही से मालूम हो गई थी; इसीसे उन्होंने अष्ट-प्रधानों में किसी के भी अधिकार वंशपरंपरागत रखने का प्रबंध नहीं किया था। उन्होंने अपने ही शासन-काल में माणकोजी दहातोंडे, नेताजी पालकर, प्रतापराव गूजर और हंबीरराव मोहिते नामक चार विभिन्न सेनापति नियत किये थे। पहले पेशवा के अधिकार को लेकर उन्होंने वह अधिकार मोरोपंत पिंगले को दिया था। पंत अमात्य के अधिकार का भी वही हाल था। इसके सिवाय अन्य अधिकार भी किसी एक ही कुटुम्ब में वंशपरम्परा के लिए न रखने का प्रबंध किया था। शाहू महाराज के शासन-काल के आरंभ में भी उक्त बात की ओर ध्यान दिया गया था, पर अंत में पहले तीन पेशवा—बालाजी विश्वनाथ, पहले बाजीराव और बालाजी बाजीराव की बुद्धिमता और कर्तव्य-परायणता के कारण पेशवा का पद उन्हीं के वंश में, आनुवंशिक तौर पर, कायम रहा। परिणाम यह हुआ कि उनके अनंतर के अन्य राजनीतिज्ञ प्रायः अकर्मण्य निकले; और उनका पतन होता गया, तथा राज्य के अधिकार एक से विभाजित न होने के कारण शासन की एकता नष्ट हो गई। पेशवाओं के शासनकाल में अष्टप्रधानों के अधिकार नष्ट हो गये और राज्य-प्रबंध की दशा शिवाजी के आदर्श की तरह न रह सकने के कारण, चारों ओर कुप्रबंध और गड़बड़ी फैल गई, तथा राष्ट्र का जीवन-मरण मुख्य अधिकारी की ही योग्यता पर अवलंबित रहा। इस घातक परिणाम का दोष शिवाजी को

शासन-प्रणाली पर नहीं मढ़ा जा सकता; वरन् हम कह सकते हैं कि, उस प्रथा का उल्लंघन करने ही के कारण आगे चल कर शिवाजी के उद्देशों पर पानी फिर गया।

एक और बात में भी शिवाजी अपने समय में बहुत आगे थे। उन्होंने अपने किसी बड़े से बड़े अधिकारी को भी, उसकी कर्तव्यपरायणता के बदले, अथवा किसी सैनिक कर्मचारी को पराक्रम के बदले, जागीर के रूप में, ज़मीन कभी इनाम में नहीं दी। पेशवा और सेनापति आदि उच्च श्रेणी के अधिकारियों से लेकर छोटे छोटे कर्मचारियों अथवा सिपाहियों तक को उन्होंने उनका नियमित वेतन, फिर चाहे वह द्रव्य के रूप में या अन्य किसी रूप में, सरकारी कोष से देने का प्रबन्ध कर दिया था। सभी कर्मचारियों के वेतन नियत कर दिये गये थे; और वे प्रायः नियमित समय पर मिला करते थे। शिवाजी को ज़मीन देने की प्रणाली पसंद नहीं थी। इसका मुख्य कारण यही था कि, सुदशा और सदुद्देश्य में भी जागीरदार लोगों के हाथ से उस अधिकार का दुरुपयोग हो सकता है। जागीरदारों को अपनी अपनी जागीरों में प्रभाव स्थापित करने की इच्छा होना बिलकुल स्वाभाविक है, और उस जागीर से उनके घराने का वंश-परम्परा-गत संबंध भी हो जाता है। आखिर वह सम्बन्ध तथा प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता ही जाता है। बाद को आगे चल कर यदि कभी उनकी जागीर उनसे ले लेने का कारण उपस्थित होता था, तब उसके लिये बड़े प्रयास करने पड़ते थे। मुख्य राज्यशासन से अलग रह कर स्वतंत्र शासन स्थापित करने की ओर भारत के लोगों की बड़ी प्रवृत्ति थी।

अतएव जागीर देने, अथवा जागीरदार को अपने ही खर्च से सेना रखने की आज्ञा देने, की प्रथा से उक्त प्रवृत्ति का इतना अधिक बल बढ़ता था कि उससे मुख्य राज्यशासन को सुव्यवस्थित रूप से चलाना अत्यंत कठिन कार्य हो जाता था। इसीसे शिवाजी ने ज़िलों के ज़मींदारों को भी अपनी रक्षा के लिये क़िले नहीं बनाने दिये और अन्य प्रजा की तरह सर्वसाधारण घरों में ही रहने के लिये बाध्य किया। शिवाजी के समय में, स्वपराक्रम से प्रसिद्धि पानेवाला कोई भी बड़ा मनुष्य अपने वंशजों के लिये, ज़मीन-ज़ायदाद प्राप्त नहीं कर सका। शाहू महाराज के राज्य के मंत्रियों ने, १८वीं शताब्दी के आरंभ में जिस प्रकार प्राचीन जागीरी घराने स्थापित किये, उस प्रकार मोरोपंत पिंगले, आबाजी सानदेव, राघोबल्लाल, दत्तो अण्णाजी, निराजी रावजी आदि ब्राह्मण सरदारों अथवा मालुसरे और कंक वंश के मावले वीरों या प्रतापराव गूजर, हंबीरराव मोहिते आदि मराठे सरदारों में से कोई भी अपने वंशों के लिए जागीरें स्थापित नहीं कर सका।

शिवाजी ने केवल देवस्थानों और अन्य धार्मिक कामों के खर्च के लिए कुछ ज़मीन दी थी। पर यह भूमिदान सार्वजनिक संपत्ति के रूप में था; और जिनके अधिकार में ऐसी ज़मीन थी, उन लोगों के हाथ में सैनिक अधिकार चूंकि कुछ था ही नहीं, अतएव मुख्य राज्य को उनके द्वारा किसी प्रकार से हानि पहुँचने की संभावना नहीं थी। सब प्रकार के धार्मिक कार्यों में, विद्या-प्रचार के लिए दक्षिणा देने की प्रथा शिवाजी को बहुत पसंद थी। वर्तमान समय में विद्वत्ता की परीक्षा करके पुरस्कार देने की जैसी प्रथा प्रचलित है, कुछ

कुछ उसी प्रकार की प्रथा शिवाजी ने भी प्रचलित की थी। अर्जित की हुई विद्या के महत्व और बाहुल्य को देखकर उस समय पुरस्कार नियत किया जाता था। विद्या पढ़ाने के लिये आजकल की सी सार्वजनिक पाठशालाएँ उस समय नहीं थीं; पर चटशालाओं में अथवा अपने घर पर ही गुरु लोग शिष्यों को पढ़ाया करते थे। गुरु और शिष्यों को सरकार से यथोचित वार्षिक वृत्ति नियत रहती थी। उससे भली भांति उनका निर्वाह होता था। शिवाजी के समय में संस्कृत भाषा के अध्ययन का बिलकुल लोप हो गया था। परन्तु विद्याध्ययन को उत्तेजित करने की जो प्रथा उन्होंने प्रचलित की, उसके कारण दक्षिण के बहुत से विद्यार्थी काशी को अध्ययन के लिए जाया करते थे; और सुविद्य होकर लोगों में सम्मान, तथा राजा से धन प्राप्त करने के अधिकारी बनते थे। इससे महाराष्ट्र विद्या-निपुणता के लिये भी उस समय प्रसिद्ध हो गया था। संभाजी को जब मुसलमानों ने पकड़ लिया, तब तलेगांव के दाभाड़े ने विद्योत्तेजन के लिए दक्षिणा देने का कार्य आरंभ किया। परन्तु जब पेशवा के शासनकाल में दाभाड़े वंश की घटती होने लगी, तब उस कार्य को पेशवा ने अपने हाथ में लिया; और दक्षिणा की रक़म भी प्रति वर्ष बढ़ने लगी। अन्त में उसकी इतनी अधिकता हो गई कि पेशवाओं का राज्य अंगरेज़ों के आधीन हो जाने के समय उसकी संख्या पांच लाख से भी अधिक थी।

उक्त वर्णन से ज्ञात हो जायगा कि, शिवाजी की शासन-प्रणाली उनके पूर्व और अनंतर की प्रणाली से कई महत्व-पूर्ण बातों में बिलकुल विलक्षण थी। उसका भेद इस प्रकार है:—

(१) पहाड़ी क़िले—जिनके आधार पर शिवाजी के राज्य का भवन रचा गया था; और जिन्हें उन्होंने अधिक महत्व प्रदान किया ।

(२) किसी एक ही घराने में राज्य का बड़ा पद वंशपरम्परा के लिये प्रचलित रखने की प्राचीन प्रथा का पालन न करना ।

(३) सैनिक अथवा माली कर्मचारियों को, उनके कार्यों के लिए ज़मीन या जागीरें देने की प्रथा की रोक ।

(४) ज़मीन के कर वसूल करने का कार्य ज़िलों अथवा गांवों के ज़मींदारों को न सौंप कर सरकारी नौकरों से कराने की प्रथा ।

(५) ठेके पर गांव देने की प्रथा की रोक ।

(६) अष्ट-प्रधानों की संस्था नियत करके उनमें राज्य-शासन के विभिन्न कार्यों को बांट देना; और उनमें से प्रत्येक का राज्य से प्रत्यक्ष संबंध बना रखना ।

(७) राज्य-शासन में सैनिक विभाग की अपेक्षा अन्य विभागों को अधिक महत्व प्रदान करना ।

(८) ब्राह्मण, प्रभू और मराठों को राज्य के छोटे-बड़े सब कार्य यथानियम सौंप कर पारस्परिक प्रेम रखने की शैली ।

शिवाजी के पश्चात् महाराष्ट्र-साम्राज्य का विस्तार 'स्वराज्य' की सीमा के बाहर इतना अधिक फैल गया कि पूर्व की ओर कटक तक का प्रदेश, पश्चिम की ओर काठियावाड़, उत्तर में दिल्ली और दक्षिण में तंजोर तक का सारा

प्रदेश उसमें आ गया था। ऐसी दशा में, इसमें कोई संदेह नहीं कि, शिवाजी की शासन-प्रणाली की कुछ बातें पूर्ववत् ही जारी रखना संभव नहीं था। शिवाजी के राज्य में, अर्थात् महाराष्ट्र में, राजा, प्रजा, सैनिक और अधिकारी एक ही जाति के थे। इसके अतिरिक्त वे सभी लोग राजभक्ति के भाव से एक रूप बन गये थे। परन्तु वह दशा फिर उसी प्रकार की नहीं रही; क्योंकि राज्य का विस्तार भारत के अन्य दूर दूर के प्रदेशों में भी हो गया। ऐसी दशा में जित लोग विजेताओं से सभी बातों में भिन्न पड़ गये; और सेना में भी सिर्फ़ वेतन-भोगी लोगों की ही भर्ती विशेष होने लगी। अतएव उनके मन में सैनिक अधिकारी अथवा राजा के प्रतिनिधि के विषय में अधिक प्रेम और पूज्यभाव नहीं रहा। इसीसे, यदि शिवाजी की उक्त प्रणाली का भारत के अन्य प्रदेशों में प्रचार न हुआ, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पहाड़ी प्रदेश और उसके आसपास के अन्य प्रदेशों का महत्व तो केवल महाराष्ट्र ही के लिये था। गुजरात अथवा मालवा के सपाट प्रदेशों में तथा महाराष्ट्र के पूर्वीय भाग में उक्त राज्य-प्रणाली की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं था। इसी प्रकार ज़मीन का कर सरकार के द्वारा ही वसूल करने, तथा ज़मीदार और रैयत का स्वत्व छीन लेने, की प्रथा का भी उन दूर दूर के प्रांतों में प्रचार नहीं हो सकता था; क्योंकि वह प्रथा उन प्रांतों की प्राचीन राज्यशासन-प्रणाली के बिलकुल विरुद्ध थी। अतः इस प्रकार की बातों में शिवाजी की प्रथा का उल्लंघन करने के लिए उनके उत्तराधिकारी शासक दोषी नहीं कहे जा सकते। तो भी, उक्त बातों के अतिरिक्त, अन्य

बातों का अनुकरण न करने की उन्होंने बड़ी भारी भूल की। इसमें सन्देह नहीं। उक्त भूल का मुख्य कारण यही है कि, उनके उत्तराधिकारियों में से किसी को भी शिवाजी की शासनप्रणाली की उपयोगिता नहीं देख पड़ी; और प्रत्येक ने अपने समय की सुविधाओं के अनुसार, राज्यशासन में मनमाने परिवर्त्तन किये, जिससे उस संगठित राष्ट्र में कुप्रबंध और गड़बड़ी फैल गई; और वह इतना अधिक डगमगा गया कि, पहले ही संकट से उसके नष्ट हो जाने के चिन्ह दिखाई देने लगे।

शाहू महाराज के शासन-काल में अष्टप्रधानों के द्वारा राज्यशासन चलाने की प्रथा प्रचलित थी। परन्तु ज्यों ही पेशवाओं ने अन्य कर्मचारियों का प्रभाव कम करके अपना महत्व बढ़ाया, त्यों ही वह प्रथा कम होने लगी; और अंत में पूना में पेशवा की गद्दी स्थापित हो जाने पर वह बिलकुल ही नष्ट हो गई। शाहू महाराज के अनंतर पेशवा पद के नीचे-वाले दो अधिकारियों—पंत-अमात्य और पंत-सचिव—का तो बिलकुल ही लोप होगया और वे केवल मराठी दरबार के जागीरदार ही हो गये। पेशवा ने उनके स्थानों पर अन्य लोगों को भी नियत करने की चिंता नहीं की और न उनमें वैसा करने की हिम्मत ही थी। फलतः वे ही सब कार्यों के अधि-कारी बन बैठे। वे स्वयं ही सेनानायक, आयव्यय के मंत्री और पर-राष्ट्रीय मंत्री के कार्य करने लगे। इस प्रकार सारा शासन-भार जब एक ही व्यक्ति पर आ गया, तब यदि राष्ट्र में शिवाजी की प्रणाली का सा बल न रहा, तो इसमें आश्चर्य मानने की कोई बात नहीं।

शिवाजी के आदर्श का अनुकरण न करके, राज्य के बड़े बड़े कर्मचारियों के पद वंशपरम्परा के लिए क़ायम रखने की प्रथा का अवलंबन करके भी उनके वंशजों ने बड़ी भारी भूल की। पेशवा का ही पद जब वंशपरम्परा के लिए क़ायम हो गया, तब अन्य कर्मचारियों की भी वैसी ही दशा हो जाने में कोई आश्चर्य नहीं है। इसका कोई नियम नहीं कि पिता की कर्तव्य-परायणता और बुद्धि वंशपरम्परागत-रूप से पुत्र में भी पाई जाय। अतएव कई अधिकार कर्तव्यभ्रष्ट और अयोग्य लोगों के हाथ में चले गये। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्र का धीरे धीरे पतन होने लगा। पेशवाओं की चार पीढ़ी तक तो आनुवंशिक स्वत्व के तौर पर उनकी शक्ति क़ायम रही; पर अन्य अधिकारियों में तो यह बात भी नहीं पाई गई। कई छोटे छोटे अधिकारियों ने अपनी कर्तव्य-परायणता के बल पर बड़ी योग्यता प्राप्त की, पर वे प्रधान-मंडल में सम्मिलित नहीं किये गये। उदाहरणार्थ, नाना फड़नवीस केवल फड़नवीसी का कार्य करनेवाले अधिकारी थे; और मुख्य प्रधान बनने की उनकी महत्वाकांक्षा थी। इसी प्रकार महादजी सेंधिया दूसरी श्रेणी के सरदार थे; पर वे अपने पराक्रम के बल पर, अपने सम-सामयिक लोगों में बड़े बलवान् समझे जाते थे; फिर भी उक्त दोनों पुरुषों, और उन्हीं के समान अन्य लोगों, का भी प्रधान-मंडल में प्रवेश नहीं हो सका था। साथ ही वे एक दूसरे को, अपने अधिकार के बल पर, या कपट से, नीचे गिराने का भी प्रयत्न करने लगे थे। सेना के बड़े बड़े अधिकारी सेनापतियों ने भी अपने प्रांतों में ही स्वतंत्र राज्य स्थापित करना आरंभ कर दिया था। यही नहीं, बल्कि

वे अपनी इच्छा के अनुसार अन्यों के साथ सन्धि और विग्रह भी करने लगे थे। अष्टप्रधानों के द्वारा राज्यशासन करने की प्रथा में, समय और परिस्थिति के अनुसार, कुछ परिवर्तन अवश्य किया जा सकता था; परन्तु शिवाजी के अनंतर, दो ही पीढ़ियों के शासन-काल में, जो वंशपरम्परागत प्रथा का अवलंबन किया गया, वह यदि न किया जाता, तो उपर्युक्त अनिष्ट दशा बहुत कुछ बच सकती थी।

शिवाजी का यह सिद्धान्त था कि अपने पराक्रम के बल पर बड़े बड़े प्रदेश जीतनेवालों को भी वे देश जागीर में न दिये जायँ। परन्तु उनके बादवाले शासकों ने इस सिद्धान्त की अवहेलना करके भी बड़ी भारी भूल की। हां, शाहू के राज्यासीन होने के पूर्व जो घटनाएँ हुईं, उनसे वे अवश्य ही उक्त सिद्धान्त का उल्लंघन करने के लिये बाध्य हो गये थे; क्योंकि संभाजी की मृत्यु के अनंतर प्रायः सारा महाराष्ट्र फिर से मुग़लों के अधीन हो गया था; और उनके भाई राजाराम तथा उनके सहायक मंत्रिमंडल को दक्षिण की ओर चल देने के लिये बाध्य होना पड़ा था। अवश्य ही उन्हें स्वराज्य स्थापित करने का कार्य पुनः आरंभ से ही करना था। अतएव उस समय जो लोग अपने पराक्रम के बल पर प्रसिद्ध हुए, उन्हें उनकी इच्छा के अनुसार ही रखना आवश्यक था। अर्थात् इस विषय में राजाराम या उनके मंत्रियों पर उक्त दोष मढ़ना ठीक न होगा। इसके सिवाय, राजाराम के समय की कठिन परिस्थिति शाहू महाराज के शासनकाल के आरंभ तक क़ायम थी। परन्तु जब महाराष्ट्र की राजगद्दी पर शाहू के

आसीन हो जाने पर, राज्य को बढ़ाने के लिये, मराठों ने अन्य प्रदेशों पर चढ़ाइयां करना आरंभ किया, तब जागीर देने की प्रथा के प्रतिबन्ध करने का अच्छा मौक़ा था। परन्तु उस समय भी प्रत्येक शूर सरदार को अपने पराक्रम से प्रदेश जीत कर जागीर प्राप्त करने का अवसर दिया ही गया। इस लिए वास्तव में यह कहने में बिलकुल अत्युक्ति नहीं होगी कि, उक्त भूल इसी समय की गई। पिलाजी और दमाजी गायकवाड़ गुजरात प्रदेश के राजा बन बैठे, नागपुर के भोंसले अपने ही प्रांत में बलवान हो गये, तथा सेंधिया, होलकर और पवारों ने भी मालवा प्रदेश, और उत्तरीय भारत में अपने अपने राज्य स्थापित कर लिये। ये सरदार अपनी जागीरों के बदले में कुछ कर-स्वरूप महाराष्ट्र के मुख्य अधिकारी पेशवा को दे देते थे; और सितारे की गद्दी का प्रधानत्व नाममात्र ही के लिये रह गया था। उक्त जागीरें जब वंशपरंपरा के लिये कायम हो गईं, तब महाराष्ट्र की सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली में पूर्णतया धक्का पहुँचा। जिन लोगों ने अपने पराक्रम से वे जागीरें प्राप्त कीं, वे तो बड़े स्वामि-भक्त बने रहे; पर उनके वंशज अपनी जागीर में पेशवा या सितारेवालों का हस्तक्षेप करना पसंद नहीं करते थे। इस प्रकार, शिवाजी के उपर्युक्त सिद्धान्त का उल्लंघन ही महाराष्ट्र के नाश का मुख्य कारण हो गया।

ज़िले या गांवों के ज़मींदारों की सहायता न लेते हुए भूमिकर वसूल करने की शिवाजी की प्रथा का तो उनके वंशजों ने भी अनुकरण किया था; और पेशवाओं के शासन-

काल, अर्थात् नाना फड़नवीस की मृत्यु तक, ठेके से वसूल करने की प्रथा का अवलंबन नहीं किया गया। परन्तु अंतिम पेशवा बाजीराव के शासन-काल में तो उक्त प्रथा का महाराष्ट्र में भी प्रचार हो गया। मालवा, गुजरात और उत्तरी भारत के मराठों के प्रदेशों में तो ठेके की प्रथा का प्रचार पहले ही था। इसका मुख्य कारण यही था कि उस ओर मराठों के राज्य की जड़ पूर्णतया दृढ़ नहीं हो पाई थी। अस्तु। केवल उक्त प्रणाली में ही शिवाजी के उत्तराधिकारियों ने उनका भली भांति अनुकरण किया। परन्तु मराठे, ब्राह्मण और प्रभु, इन तीन जातियों में राज्य के अधिकार बांटने के विषय में शिवाजी ने जो प्रथा प्रचलित की थी, उसका तो उनके उत्तराधिकारी शासकों ने बिलकुल ही अनुकरण नहीं किया। शिवाजी के शासन-काल में जिस प्रभू जाति के वीरों ने अपूर्व कार्य किये थे, उसके वंशजों का तो बालाजी बाजीराव पेशवा के शासन-काल से बिलकुल ही अभाव हो गया। केवल सखाराम हरि नामक प्रभू जाति का एक ही वीर रघुनाथराव पेशवा की सेना में बड़ा कर्मचारी था; और उसी का नाम उस समय के इतिहास में दिखाई पड़ता है। हां, बड़ौदा और नागपुर के राज्यों में इसी जाति के लोगों को राज्यशासन और सैनिक प्रबंध के कार्य सौंपे गये थे। कहा जाता है कि शिवाजी के समय में कोकणस्थ ब्राह्मणों का नाम भी नहीं सुन पड़ता था; परन्तु बखर-लेखकों का कथन है कि उन्होंने तीनों विभागों के ब्राह्मणों को सूबेदार अथवा क़िले के सेनापति का पद दिया था। शिवाजी, और उनके पुत्र संभाजी तथा राजाराम के शासन-काल में देशस्थ ब्राह्मणों ने बड़े महत्वपूर्ण कार्य किये थे। पर शाहू के शासनकाल में

पेशवा के महत्व प्राप्त कर लेने पर वह स्थिति बिलकुल पलट गई। बाद को जब राघोबा दादा और माधवराव पेशवा के बीच झगड़े होने लगे, तब मुख्यतः देशस्थ जागीरदारों ने ही राघोबा का पक्ष लिया। उस समय से पेशवा के राज्य में देशस्थों का महत्व बिलकुल कम हो गया।

यदि सैनिक पदों के विषय में देखा जावे तो यह नहीं कहा जा सकता कि वे केवल मराठों के ही अधिकार में थे। हां, सेना के अधिकांश कर्मचारी और सैनिक अवश्य ही मराठा जाति के थे। मराठे सरदारों की भांति शिवाजी के ब्राह्मण सरदार बड़े पराक्रमी थे; और पहले पेशवा के शासन-काल तक वही दशा क़ायम रही। मराठों के अत्यंत बलवान सेनापति तो पहले बाजीराव पेशवा के ही निरीक्षण में तैयार हुए थे। बाजीराव के बड़े बड़े मराठे योद्धा सरदारों ने दूर दूर के प्रदेशों में स्वतंत्र राज्य स्थापित किये; और जब सितारे की गद्दी को भी हिला देने योग्य उनका प्रभाव बढ़ गया, तब पेशवा ने, उनसे सामना करने के लिये, दक्षिण में ब्राह्मण सरदार बनाने की राजनैतिक चाल का अवलंबन किया; और उसी समय से पटवर्धन, फड़के, रास्ते, गोखले आदि घरानों के ब्राह्मण वीर प्रसिद्ध हुए; पर वे युद्ध-कला-निपुण संधिया और होलकर की सेना का कभी सामना नहीं कर सके। अवश्य ही इस प्रकार मराठों में पारस्परिक वैमनस्य उत्पन्न हो गया; और अन्य कारणों के साथ महाराष्ट्र-साम्राज्य के नाश होने का यह भी एक कारण हुआ।

उपर्युक्त विवेचन से पाठकों को मालूम हो जायगा कि ब्रिटिश-साम्राज्य-सत्ता से सामना करने के पूर्व मराठी राज्य में जो निर्बलता आ गई थी; और उसका जो पतन होना आरंभ हो गया था, उसका मुख्य कारण यही था कि शिवाजी के उत्तराधिकारी शासकों ने उनकी राज्यपद्धति का अनुकरण नहीं किया। बाद को जब महाराष्ट्र में ब्रिटिश-शासन स्थापित हो गया, तब अँगरेज़ों ने उस समय की प्रचलित शासन-प्रणाली का त्याग ही कर दिया; और बड़ी बुद्धिमानी से, शिवाजी के नियमों का अनुकरण किया। उन्होंने सैनिक विभाग अन्य विभागों से अलग रखा; और अन्य विभागों की तरह सैनिक विभाग के महत्व को नहीं बढ़ाया। साथ ही सैनिक अथवा अन्य किसी कार्य के बदले ज़मीन-ज़ायदाद देने की प्रथा को बन्द कर दिया; और अपने नौकरों को वेतन देने का ही नियम स्वीकार किया। वे छोटी-बड़ी सरकारी नौकरियों के विषय में वंशपरम्परा-प्राप्त अधिकार को बिलकुल नहीं मानते। राज्यशासन का कार्य भी, किसी एक ही पुरुष पर न सौंप कर, मंत्रि-मंडल पर सौंपा गया है। ज़मींदार अथवा किसानों से ज़मीन का कर ठेके की प्रणाली से वसूल न करके सरकारी कर्मचारियों के ही द्वारा लिया जाता है। प्रजा में से प्रायः सभी ज़ातियों के लोगों को, उनकी योग्यता के अनुसार, सरकारी नौकरियां देने की व्यवस्था की गई है। अतः उपर्युक्त राजनैतिक तत्वों का अनुकरण करने ही के कारण इने-गिने अंग्रेज़ इस समय भारत जैसे विस्तृत राष्ट्र का शासन ऐसी उत्तमता-पूर्वक कर रहे हैं कि, उनकी राज्य-शासन-प्रणाली का निरीक्षण करनेवाले देशी और

विदेशी लोग भी उनकी अपूर्व-शासन-पद्धति को देखकर, चकित हो जाते हैं। इस प्रकार शिवाजी की आयोजित शासन-प्रणाली की उपयोगिता केवल उनकी सफलता ही से नहीं, वरन् उन लोगों की सफलता से भी प्रकट होती है कि, जिन्होंने अपनी सत्ता उस साम्राज्य पर स्थापित की है कि जिसे शिवाजी ने संगठित करने का प्रयत्न किया था; और जो उनके आदर्श पर न चल सकने के ही कारण पतनावस्था को प्राप्त हुआ।

आठवाँ परिच्छेद ।

महाराष्ट्र के साधु-महात्मा ।

शिवाजी के धर्म-गुरु श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने एक बार संभाजी को, अपने पिता का अनुकरण करने के लिए, उपदेश दिया था। उस उपदेशामृत का सार उनके केवल दो ही वाक्यों में आ जाता है। स्वामी रामदासजी संभाजी से कहते हैं:—

"मराठा तितुका मेलवावा। महाराष्ट्र धर्म वाढ़वावा।"

अर्थात् जहां तक मराठे हों, उन सब को मिलाओ; और महाराष्ट्र धर्म बढ़ाओ। शिवाजी ने इस विचार को प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध कर दिखाया था। किम्बहुना उनकी राजनैतिक हलचल का मुख्य यही आधार था। श्रीरामदास स्वामी ने कहा है कि, "महाराष्ट्र धर्म बढ़ाओ"—वास्तव में उनके इस वाक्य में उस समय की धार्मिक जागृति का पूरा पूरा चित्र उतर आया है, जो कि उस समय सारे महाराष्ट्र में फैल रही थी; और उस समय की राजनैतिक हलचल भी जिसका एक प्रतिविम्ब मात्र थी। उक्त उपदेश में उन्होंने वैदिक, पौराणिक अथवा हिन्दू-धर्म, के प्रचार करने का प्रतिपादन नहीं किया था; वरन् 'महाराष्ट्र-धर्म' को फैलाने की ही वात कही थी। अतः अब प्रश्न यही है कि उस कथन का क्या रहस्य था? साथ ही उन्होंने वैदिक, पौराणिक आदि धर्मों की अपेक्षा महाराष्ट्र-

धर्म का ही अधिक महत्व क्यों बतलाया; मराठों की धार्मिक कल्पना में क्या विशेषता थी; संभाजी के अत्याचार से मराठों को छुड़ाने के लिए उन्होंने महाराष्ट्र-धर्म का बढ़ाना ही क्यों आवश्यक समझा, आदि अनेक विचार यहां पर उपस्थित हो जाते हैं। महाराष्ट्र के इतिहास में राजनैतिक और धार्मिक उन्नति का मेल बड़ी खूबी के साथ हुआ है। उस मेल का महत्व जब तक ज्ञात नहीं होगा, तब तक मराठों के अभ्युदय क रहस्य भी मालूम नहीं होगा; और लोग यही समझेंगे कि, सचमुच ही महाराष्ट्र-साम्राज्य की नींव उच्च श्रेणी के नैतिक सिद्धान्तों पर नहीं थी; और यह लुटेरों का प्रयत्न-मात्र था। महाराष्ट्र के राजनैतिक और धार्मिक सुधार का उपर्युक्त पारस्परिक संबंध सचमुच ही आज तक किसी भी इतिहास-लेखक को ज्ञात नहीं हुआ है। प्रायः सभी इतिहास-लेखकों ने मराठों के स्वतंत्रता प्राप्त करने के प्रयत्न का एक ही दृष्टि से विचार किया है, जिससे वे मराठों की राजनैतिक उन्नति के साथ ही धार्मिक उन्नति के क्रम का वर्णन नहीं कर सके हैं। हमारा विश्वास है कि, धर्मिक और राजनैतिक सुधार का उक्त संबंध समझ में न आने के कारण ही मराठों के विषय में बहुत से भ्रम उत्पन्न हो गये हैं।

इस प्रकार के भ्रमों का निवारण करने ही के उद्देश से हम अब मराठों की धार्मिक जागृति के इतिहास का कुछ वर्णन करेंगे। यह इतिहास मुख्यतः गत शताब्दी के अंतिम समय में, जब कि महाराष्ट्र में ब्रिटिश शासन का नाम-निशान तक नहीं था, कविवर महीपति-रचित महाराष्ट्रीय साधु-महात्माओं के चरित्रों के ही आधार पर लिखा गया है। जिस

प्रकार मराठों को राजनैतिक स्वतंत्रता किसी एक ही पुरुष के प्रयत्न से, अथवा एक ही शताब्दी में, नहीं मिली, उसी प्रकार मराठों की धर्मोन्नति में भी बहुत सा समय लगा था; और कई साधु-महात्माओं के उपदेशों से उस कार्य की पूर्ति हुई थी। मुसलमानों के द्वारा महाराष्ट्र के हस्तगत किये जाने के पूर्व ही धार्मिक सुधार का कार्य आरम्भ हो गया था। जब देवगिरि में जाधव राजा राज्य करते थे, तभी साधु ज्ञानेश्वर जी ने श्रीभगवद्गीता पर प्रसिद्ध टीका 'ज्ञानेश्वरी' मराठी में लिखी थी। बल्लाल राजा के समय मुकुंदराज नामक प्रसिद्ध कवि हुए; और उसी समय उन्होंने प्रसिद्ध ग्रंथ 'विवेकसिंधु' लिखा। बारहवीं शताब्दी में जितने मराठी ग्रंथ लिखे गये, उन सब में मुकुंदराज का ग्रंथ सर्वोच्च है। जब मुसलमानों की चढ़ाइयां होने लगीं, तब धार्मिक जागृति का कार्य रुक गया; पर कुछ समय बाद महाराष्ट्र-जनों का बुद्धिचातुर्य फिर उत्तेजित हुआ। महाराष्ट्र-साम्राज्य के उदय के समय में तो वहां साधु-परंपरा चारों ओर फैल गई थी। इस प्रकार यह कार्य लगभग २०० वर्ष तक उन्नत ही होता गया, पर धीरे धीरे उसका भी पतन होने लगा; और उसके अंत होने के साथ ही मराठों की राजनैतिक स्वतंत्रता भी नष्ट हो गई। अतः यदि यह कहा जावे तो अत्युक्ति नहीं होगी कि महाराष्ट्र में धर्म-जागृति का कार्य लगभग ५०० वर्ष तक होता रहा। इस अवधि में लगभग ५० साधु पुरुष उत्पन्न हुए; और उन्होंने सारे महाराष्ट्र पर अपना पूर्ण प्रभाव स्थापित कर दिया। अतः यदि उन साधु-महात्माओं के उक्त प्रभाव को देख कर ही महीपति को उनके चरित्र लिखने की स्फूर्ति हुई

हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। उन साधु-महात्माओं की मण्डली में कुछ स्त्रियां, कुछ हिन्दू धर्म को माननेवाले मुसलमान, कुछ मराठे, कुनबी, दर्ज़ी, माली, कसेरे, सुनार, पश्चात्ताप से शुद्ध होनेवाली वेश्याएँ, दासियां, अतिशूद्र, भंगी और लगभग आधे ब्राह्मण थे। इससे ज्ञात हो जावेगा कि, आध्यात्मिक उन्नति का परिणाम केवल किसी एक ही जाति पर नहीं हुआ था; वरन् छोटे से लेकर बड़ों तक, सारे समाज पर, उसका बड़ा प्रभाव स्थापित हो गया था। उच्च-नीच, अज्ञ-विज्ञ, स्त्री-पुरुष, हिन्दू-मुसलमान, आदि सभी उस धार्मिक प्रेम में रँग गये थे। इस प्रकार की धार्मिक जागृति का स्वरूप किसी देश के इतिहास में भी कदापि नहीं मिल सकता है। उसी समय उत्तरीय और पूर्वीय भारत में भी धर्म-जागृति का आरम्भ हो गया था। नानक ने सारे पंजाब को जगा कर हिन्दू-मुसलमानों में एकता करने का प्रयत्न किया और पूर्व की ओर चैतन्य ने शाक्त धर्म को मिटा कर भागवत धर्म का प्रचार किया। रामानंद, कबीर, तुलसीदास, सूरदास, जयदेव, रैदास आदि भी, अपने अपने तौर पर, लोगों को आध्यात्मिक ज्ञानामृत पिला रहे थे। उनके उस कार्य का भी बड़ा भारी स्थायी परिणाम हुआ; पर वह महाराष्ट्रीय साधु-महात्माओं के कार्य की बराबरी नहीं कर सकता। चांगदेव और ज्ञानदेव, निवृत्ति और सोपन, मुक्ताबाई और जनाबाई आकाबाई और वेणूबाई, नामदेव और एकनाथ, रामदास और तुकाराम, शेख मुहम्मद और शांति बहामनी, दामाजी और उद्धव, भानुदास और कूर्मदास, बोधलेबावा और संतोबा पवार, केशव स्वामी और जयराम स्वामी, नृसिंह सरस्वती

और रघुनाथ स्वामी, चोखामेला और दो कुम्हार, नरहरि सुनार और सावंत्या माली, बहिराम भट्ट और गणेशनाथ, जनार्दनपंत और मुधोपंत इत्यादि अनेक साधु-महात्मा थे। इन महात्माओं की मंडली से ही महाराष्ट्र की धार्मिक हलचल की विशेषता का ज्ञान हो जाता है। महाराष्ट्रीय साधु-महात्माओं में ब्राह्मण अधिक थे, किन्तु भारत के अन्य प्रान्तों में ब्राह्मण साधुओं की अपेक्षा क्षत्रियों और वैश्यों की ही संख्या अधिक थी।

यदि संतों के चरित्रों का साधारण तौर पर निरीक्षण किया जाय, तो उनमें मृत मनुष्यों को जीवित करने, रोगियों के रोग हटाने, भूखों को तत्काल अन्न खिला कर संतुष्ट करने, इत्यादि प्रकार के अनेक अघटित कार्य करने का अद्वितीय और अद्भुत सामर्थ्य रहता है। सर्वसाधारण लोगों का उक्त चमत्कारों पर विश्वास भी होता है। महाराष्ट्र के संत-चरित्रों में भी इसी प्रकार की कई करामातें दिखाई देती हैं। लोगों का विश्वास है कि जो लोग परोपकार के व्रत का पालन करते हैं, उन्हें उस कार्य में अमानुषी अथवा दैविक शक्ति से सहायता मिलती है। चाहे उक्त बातें, वर्तमान समय में, जब कि तर्कशास्त्र की कसौटी पर कसे बिना किसी भी बात पर विश्वास नहीं किया जाता, किसी को सत्य मालूम हों या न हों; पर लोगों का ऐसा विश्वास अवश्य है। लेकी साहब ने कहा है कि, जिस समय लोग प्रत्येक बात पर विश्वास करने के लिए तत्पर हो जाते हैं, उस समय उक्त प्रकार के चमत्कारपूर्ण कार्य होते रहते हैं—उस समय लोकमत का ऐसा अनुकूल वायुमंडल ही तैयार हो जाता है कि

ऐसी बातों के कहने या प्रतिपादन करने की ओर लोगों की अभिरुचि होने लगती है; और सब लोग उस पर विश्वास करते हैं। हां, साधु-महात्माओं को यदि देखा जावे, तो वे कभी अपने में किसी अद्भुत शक्ति के होने की बात स्वीकार नहीं करते। वे तो सर्वदा नम्र, सहनशील और ईश्वर पर भरोसा रखनेवाले होते थे। हां, परमात्मा पर उनकी जो अटल भक्ति थी, उसको वे स्वयं मानते थे, और उस भक्ति का परिणाम कभी कभी ऐसा कुछ विलक्षण दिखाई देता था कि, जिस पर स्वयं उनको ही आश्चर्य मालूम होने लगता था। जो हो, नैतिक दृष्टि से उन सारे संत-चरित्रों का महत्व उनके उन विलक्षण कार्यों पर अवलंबित नहीं है; वरन् नैतिक तत्वों की सत्यता को सिद्ध करने के लिये उनके चरित्रों का जो कुछ उपयोग हुआ, वही मुख्य है। उनके चरित्र के उक्त स्मरणीय स्वरूप से ही हमारे इस इतिहास-भाग का सम्बन्ध है; और उन्होंने जो कुछ कार्य किया है, वह सर्वथा अमूल्य और उदात्त था, यही हमें बतलाना है।

यूरोप की धार्मिक-सुधार-विषयक हलचल और महाराष्ट्र के इन साधु-महात्माओं के ग्रन्थों तथा उपदेशों की प्रणाली में बहुत कुछ समता देख पड़ती है। सोलहवीं शताब्दी के यूरोपीय सुधारक लोग, पादरियों और उनके मुख्य गुरु रोम के धर्माध्यक्ष (पोप) के अधिकार को पददलित करने लगे। उन पादरियों और उनके पोप को जो कुछ अधिकार प्राप्त थे, वे प्राचीन काल से ही चले आते थे। पादरियों का कथन था कि उन अधिकारों से ही रोमन राष्ट्र को नष्ट करनेवाले जंगली लोगों का सुधार हुआ; और वे मनुष्य कहलाने योग्य बने,

परन्तु कुछ काल बीत जाने पर वे पादरी अपने को धर्म-सेवक न समझ कर स्वामी, राज्यशासक, ऐहिक और पारमार्थिक शक्तियों के अधिष्ठाता तथा ईश्वर और मनुष्यों के बीच में अपने को मध्यस्थ मानने लगे। उस मध्यस्थता का उन्होंने अनेक धार्मिक व्यवहारों और संस्कारों में उपयोग किया। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ काल बीत जाने पर बहुतसी कुप्रथाओं का प्रचार हो गया; और उनपर लोगों की जो पहले श्रद्धा थी, वह नष्ट हो गयी। कपट-विद्या में चतुर पोप और उनके व्यसनाधीन कार्डिनल्स (मार्गोपदेशकों) के भौतिक प्रभाव की रक्षा के लिये, कर्मचारियों ने कर के रूप में-धर्मादाय के रूप में नहीं-'पीटर्स पेन्स' लेना शुरू किया; और इन्डलजन्सीज़ (दान के आदेशपत्र) प्रकाशित किये। लूथर ने उन अधिकारियों के विरुद्ध जब आवाज़ उठाई थी, उस समय तो उस कुप्रथा का अत्यंत उग्र स्वरूप हो गया था। पश्चिमीय भारत के धार्मिक सुधार भी लूथर के यूरोपीय धार्मिक सुधारों के ही स्वरूप के थे। भारत में प्राचीन अधिकार और प्राचीन संप्रदाय, महत्वाकांक्षी बिशप और क्लर्जियों में नहीं, वरन् ब्राह्मण जातियों में ही दृढ़ता से स्थित हो गये थे; और यहां के साधु-महात्मा बड़े धैर्य से ब्राह्मण जाति की उक्त प्रभुता के विरुद्ध लड़ रहे थे। वे इस बात का प्रतिपादन करते थे कि मनुष्य के आत्मा की उच्चता उसके किसी खास कुल में जन्म लेने या किसी खास सामाजिक स्थिति पर ही अवलंबित नहीं है। उक्त सिद्धांत का अनुभव करने में इन धर्मोपदेशकों को अपने जीवन-क्रम और अपनी शिक्षा से ही सहायता मिली थी।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, उनमें से आधे से भी अधिक साधु ब्रह्मणेतर अर्थात् अन्य जातियों के थे। कोई तो बिलकुल ही नीचे की श्रेणी के थे। ब्राह्मण सुधारकों में से कई लोगों की वंशपरम्परागत शुद्धता कलंकित हो गई थी, जिससे वे कृत्रिम रुकावट का निषेध करने के लिये तैयार हो गये थे। ज्ञानदेव, उनके भाई और बहन मुक्ताबाई का जन्म तो उनके पिता के संन्यासी बन जाने पर हुआ था। जब उनके गुरु रामानंद को मालूम हुआ कि संन्यास-धर्म की दीक्षा लेने के लिए उनकी पत्नी की सम्मति नहीं थी, तब उन्होंने ज्ञानदेव के पिता को, अपने ग्राम में वापस जाकर, पत्नी के पास रहने की आज्ञा दी। इस प्रकार उस संन्यासी की संतति को सभी जाति के लोगों ने बिलकुल ही नीच जाति में समझा, और सब लोग उनसे घृणा करने लगे। ब्राह्मणों ने योग्य समय पर उनके यज्ञोपवीत-संस्कार का भी निषेध किया। वे बालक जीवन भर उस अज्ञात स्थिति में ही रहे, पर लोग उनकी जातिहीनता की ओर ध्यान न देकर उलटे उनका आदर ही करने लगे। दूसरे महात्मा मालोपंत का तो एक नीच जाति की स्त्री के ही साथ विवाह हुआ था। उसके विवाह होने के समय तक तो किसी को भी उसकी जाति का पता नहीं चला; पर पति ने उसका त्याग न करके उसके साथ केवल व्यवहार रखना ही छोड़ दिया और जब, उसकी मृत्यु के अनंतर, वे प्रचलित प्रथा के अनुसार उसका अंतिम संस्कार करने लगे, तब एक अत्यंत अद्भुत चमत्कार दिखाई दिया, जिससे उनके कट्टर शत्रुओं को भी विश्वास हो गया कि वे दोनों जन्मकाल ही से

अत्यंत पवित्र थे। उसी प्रकार जयरामस्वामी के गुरु कृष्णदास का एक नाई की कन्या के साथ विवाह हो गया था; और अनंतर उसकी हीन जाति का पता चला। पर उस साधु पुरुष के पवित्र आचरण का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसका बहुत तिरस्कार होने पर भी, उस समय के श्रीजगद्गुरु शंकराचार्य भी उसके विरुद्ध कोई बात न कह सके। एकनाथ तो जातिभेद को अत्यंत हेय मानते थे। उन्होंने एक भूखे चांडाल को भोजन कराया था; और जब लोगों ने उन्हें जाति-बहिष्कृत किया और वे प्रायश्चित करने के लिये नदी पर गये, तब एक बड़ी चमत्कार-पूर्ण घटना हुई। उससे सिद्ध हो गया कि एक भूखे चांडाल को अन्न देने का पुण्य सहस्र ब्राह्मणों को खिलाने से भी अधिक होता है। एकनाथ जी ने एक चांडाल को भोजन-दान करके उसके प्रताप से एक महा कुष्टरोगी को आराम कर दिया; पर सहस्र भोजन कराने से वह रोगी आराम न हुआ। इसी प्रकार का एक और चमत्कार कई साधु-महात्माओं के नाम पर सुना जाता है; पर यह चमत्कार विशेषतः ज्ञानदेव और एकनाथ का किया हुआ समझना चाहिये। वह घटना इस प्रकार प्रसिद्ध है कि, जब ब्राह्मणों ने, जाति-नियम का भंग करने के कारण, उनके घर श्राद्ध में भोजन करने से इनकार किया, तब उन साधुओं ने उन हठी ब्राह्मणों के मृत पूर्वजों को स्वर्ग से पृथ्वी पर बुलाया; और उन धर्मान्धों के थोथे जाति-अभिमान की निरुपयोगिता सिद्ध कर दी। नामदेव के चरित्र में लिखा है कि एक बार उनके पंढरपुर के देवता ने उनसे ब्राह्मणों को भोजन के लिये निमंत्रित करने को कहा और स्वयं भी उस

साधु के साथ भोजन किया। इस प्रकार जब लोगों ने उन सब को बहिष्कृत किया, तब ज्ञानदेव ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर उन दुष्ट ब्राह्मण को यह उपदेश किया:—"देवता के दरबार में उच्च-नीच का कोई भेद नहीं माना जाता। उसके लिए तो सभी एक से होते हैं। इसलिये यह कहना व्यर्थ है कि मैं उच्च कुल का हूं; और मेरा पड़ोसी नीच जाति का है। उच्च और नीच दोनों गंगाजी में नहाते हैं, पर वह अपवित्र नहीं होती। दोनों वायु में श्वासोच्छ्वास करते हैं; पर वायु भी दूषित नहीं होती। दोनों पृथ्वी पर घूमते हैं; पर वह भी कभी अस्पृश्य नहीं मानी जाती।"

चोखामेला महार को पंढरपुर के देवालय में घुसने के कारण जो कष्ट दिया गया, वह भी एक अत्यंत हृदय-द्रावक घटना है। जब लोगों ने उनसे मंदिर में घुसने का कारण पूंछा, तब उन्होंने कहा कि, मैं स्वयं यहां पर नहीं आया, वरन् देवता स्वयं ही मुझे ढकेलते हुए यहां ले आये हैं। अनंतर उन्होंने देवालय के पुजारी से कहा:—"यदि परमात्मा पर भक्ति और विश्वास नहीं, तो उच्च जाति में जन्म लेने ही से क्या लाभ? अथवा धर्म-विधि और विद्वत्ता भी किस काम की? चाहे मनुष्य नीच जाति का ही क्यों न हो; पर यदि उसका अन्तःकरण पवित्र है, ईश्वर पर भक्ति है, सभी प्राणियों को आत्मवत् मानता है, अपने और दूसरों के बच्चों में कोई भेद नहीं देखता; तथा सत्यभाषी है, तो निस्सन्देह उसकी जाति भी पवित्र ही होगी; और ईश्वर भी उस पर सर्वदा संतुष्ट रहेगा। यदि मनुष्य का ईश्वर पर विश्वास है और सभी मनुष्यों पर प्रेम है तो उसकी जाति के विषय में कोई विचार न करो। ईश्वर की तो

यही इच्छा रहती है कि उस पर प्रीति और भक्ति हो। इतना होने पर वह उसकी जाति के विषय में कोई विचार नहीं करता।" पर इस उच्च ज्ञानोपदेश का उन हठी ब्राह्मणों पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। साधु चोखामेला पर उन्होंने वहां के मुसलमान कर्मचारी के पास नालिश कर दी; और उसने, बाइबल के 'पायलेट' की भांति, चोखामेला को बांध कर बैलों के द्वारा खिंचवाते हुए मार डालने का दंड सुनाया। परन्तु ईश्वर ने बड़ी चमत्कारपूर्ण घटना से उन्हें उस संकट से छुड़ाया; और उन अत्याचारी ब्राह्मणों को निराश किया। बैल अपने स्थान पर से तनिक भी नहीं हट सके। इसी प्रकार बहिराम भट्ट की कथा भी बड़ी आश्चर्य-जनक है। वे शास्त्री थे; पर उन्हें जब सनातनधर्म में शांति न मिली, तब उन्होंने एकेश्वरी मत से अपने अन्तःकरण को संतुष्ट करने के लिए मुसलमान धर्म को स्वीकार किया। पर उस दशा में भी इच्छित शांति न मिल सकने के कारण उन्होंने फिर से सनातन-धर्म में प्रवेश किया। जब ब्राह्मण और मुसलमान दोनों जातियां धार्मिक परिवर्तन के कारण उन्हें दोष देने लगीं, तब उन्होंने अपने को हिन्दू और मुसमलान कहना भी छोड़ दिया। बहिराम भट्ट ने ब्राह्मणों से कहा कि मैं मुसलमान बन गया हूं; और मेरी मुसलमानी भी की गई है; अतः यदि मुझे ब्राह्मण बनाना चाहते हो तो बनाओ। इसी प्रकार मुसलमानों से कहा कि मेरे कान में जो छेद हैं; उन्हें नष्ट कर दो। जब तक वे नष्ट न हो जावें, मैं मुसलमान नहीं हूं; वरन् हिन्दू हूं। हिन्दू-धर्म को स्वीकार किये हुए मुहम्मदी लोग शेख मुहम्मद के अनुयायी कहलाते हैं। वे लोग रमज़ान और एकादशी की

व्रत रखते हैं; और मक्का तथा पंढरपुर की यात्रा भी करते हैं। कबीर, नानक और माणिक-प्रभु जैसे महाप्रसिद्ध साधुओं को भी हिन्दू और मुसलमान जाति के लोग समान भाव से ही पूज्य मानते हैं। इन उदाहरणों से ज्ञात हो जावेगा कि उक्त साधुओं के चरित्रों से मनुष्यों का पारमार्थिक स्वभाव बड़ा ही उदार बन गया है। और जाति-बंधन भी बहुत कुछ ढीले हो गये हैं।

उक्त उदार शिक्षा का यह परिणाम हुआ है कि उससे धर्म-विषयक बातों में जाति-महत्व का बिलकुल ही विचार नहीं रह गया है। हां, सामाजिक विषयों में तो उसका महत्व अवश्य ही है; पर वह भी बहुत ही कम है। दक्षिणीय भारत के ब्राह्मण और उनके जाति-विषयक विचित्र विचारों से यदि महाराष्ट्रीय लोगों के विचारों से तुलना की जावे, तो हमारे उक्त कथन की पुष्टि हो सकती है। दक्षिणी भारत में यदि ब्राह्मण के मार्ग से चांडाल चला जावे, तो उसकी परछाईं से भी वह मार्ग अपवित्र हो जाता है; अतः उसकी परछाईं से भी वहां घृणा की जाती है। पर महाराष्ट्र में यह बात नहीं पाई जाती। वहां बड़ी बड़ी धार्मिक यात्राओं में अन्तिम दिन पर जो 'गोपालकाला' नामक प्रसाद-ग्रहण होता है, उसमें सब जाति के लोग समान रूप से आनन्द-पूर्वक साथ ही प्रसाद ग्रहण करते हैं। यूरप की तरह भारत के इस भाग से भी प्रायः वह विचार जाते रहे कि, ईश्वर और मनुष्य के बीच में पुजारी ही एक मोक्ष-प्राप्ति करा देनेवाला आवश्यक साधन है। अथवा ब्राह्मण जाति की श्रेष्ठता ईश्वर-निर्मित ही है; अतः अन्य जातियों को उसकी सेवा और पूजा करना ही

चाहिए। इन विचारों के न रहने के साथ ही साथ अब सभी श्रेणियों के स्त्री-पुरुषों का प्रायः यह विश्वास हो गया है कि, हीन जाति में जन्म लेने पर भी ईश्वर पर दृढ़ भक्ति और प्रेम रखने से मोक्ष-प्राप्ति में कोई बाधा नहीं पड़ सकती।

इसके अतिरिक्त यूरोप के सुधारकों को यह पसन्द नहीं था कि मठ-स्थापना की जाय; और पादरी लोग अविवाहित रहें, तथा स्त्रियों को, सृष्टि-नियम के विरुद्ध, संसार से अलिप्त रह कर संन्यासी का भेष दिया जाय। ठीक इसी प्रकार महाराष्ट्र के भी सभी साधु-माहात्माओं को व्रत-उपवासादि करके शरीर को कष्टित करने, व्यर्थ तप करने और आजीवन यात्रा करते रहना पसंद नहीं था। इसी प्रकार उनको यह भी पसन्द नहीं था कि, योग-साधन करने से चूंकि योगियों को अद्भुत चमत्कार करने की शक्ति प्राप्त होती है; अतः उसकी प्राप्ति के लिये अत्यंत कठोर नियमों और व्रतों का पालन करके शरीर को कष्टित किया जाय। बल्कि इसके स्थान पर महाराष्ट्र के साधु-महात्माओं ने भक्ति ही को प्रधानता दी है। भक्ति और योग की स्पर्धा का सब से अच्छा उदाहरण तो घमंड में मस्त बने हुए चांगदेव और ज्ञानदेव का मिलाप है। एक बार चांगदेव अपनी योग-शक्ति के बल से व्याघ्र पर बैठ कर और सांपों का कोड़ा अपने हाथ में लेकर ज्ञानदेव से मिलने गये। ज्ञानदेव ने एक दीवार पर बैठ कर उसे चला दिया, अतएव चांगदेव का घमंड चूर हो गया। इसी प्रकार ज्ञानदेव ने, योग-शक्ति के बल पर, छोटा सा शरीर धारण कर के एक गहरे कुएँ का सारा पानी पी लिया, अतएव नामदेव ने अपनी भक्ति के बल पर उस कुएँ में इतना पानी भर दिया कि वह

ऊपर बहने लगा; और मुसाफिरों को अनायास ही खूब पानी मिलने लगा। इन उदाहरणों से महाराष्ट्रीय साधु-महात्माओं की शिक्षा का महत्व बड़ी मनोरंजकता के साथ मालूम हो जाता है।

कान्होबा पाठक की भी एक कथा बड़ी प्रसिद्ध है। उनका अपने पुत्रों पर अत्यंत प्रेम था। काशी के एक ब्राह्मण को उनका यह आचरण अच्छा नहीं मालूम हुआ; और उसने इस विषय में उनका निषेध किया। अतएव कान्होबा ने अपने पुत्र को उठा कर एक कुएँ में डाल दिया; और उन्हें कुछ भी पश्चात्ताप नहीं हुआ। इस घटना को देख कर वह ब्राह्मण अत्यंत आश्चर्य-चकित हुआ। इस उदाहरण से यह मालूम होता है कि कोरा ब्रह्मचर्य व्रत भी व्यर्थ ही है। कोरे ब्रह्मचर्य से मन की समता का अभ्यास नहीं होता; और सुख-दुख के विषय में उदासीनता भी उत्पन्न नहीं होती। एकनाथ तो आजीवन अपने कुटुंबियों में ही रहे। वही दशा तुकाराम और नामदेव की भी थी। हां, यह बात अलग है कि उनके दुर्भाग्य से उन्हें एकनाथजी की धर्मपत्नी के समान स्त्रियां नहीं मिली थीं। इसी प्रकार बोधलेबावा, चोखामेला, दामजीपंत, भानुदास, दोनों कुम्हार साधु और अन्य भी कई साधु अपने कुटुंब ही में रहते थे। ज्ञानदेव के पिता ने अपनी पत्नी के परामर्श के बिना संन्यास लिया था; अतः उनके गुरु रामानंद ने उन्हें फिर से अपने घर को लौट कर अपनी पत्नी के साथ जीवन बिताने की आज्ञा दी थी। उक्त सभी बातों से यह सिद्ध होता है कि उस समय के साधु-महात्माओं को गृहस्थाश्रम की पवित्रता अच्छी तरह से ज्ञात थी। प्रायः लोगों में यह एक भ्रम फैला रहता है

कि गृहस्थी का त्याग कर देने से जगत में दुख अथवा चिन्ता का नाम-निशान तक न रहेगा, इस भ्रम को दूर करके लोगों को सच्चे मार्ग पर लाने का उन सन्त-महात्माओं ने यथाशक्ति खूब प्रयत्न किया। साधु स्त्रियों के चरित्र तो इनसे भी अधिक मनोरंजक हैं। देवताओं में उनकी श्रद्धा और भक्ति बहुत ही अपूर्व थी, अतएव देवता उन्हें, उनके दैनिक कार्यों में भी, सहायता करते थे। जब कभी वे स्त्रियां धार्मिक कार्य के लिए घर से बाहर जातीं, तो देवता स्वयं अनेक भेष धारण करके उनके घर पर उनके कार्य करते थे, जिससे घर के लोगों को उनके बाहर चले जाने के विषय में कोई आशंका न हो। इस प्रकार वे साध्वी स्त्रियां स्वच्छन्दतापूर्वक कथा-कीर्तन और परमात्मा की भक्ति में अपना समय दे सकती थीं। इस प्रकार की अनेक आख्यायिकाएँ साध्वी स्त्रियों के चरित्रों में लिखी हैं। हां, इन कथाओं से कोई यह कह सकता है कि, तब तो परमात्मा की भक्ति बहुत ही सस्ती है, जब कि वह स्वयं आकर हमारे गृह-कार्य भी कर देता है। परन्तु हमारी सम्मति में इन आख्यायिकाओं का उच्च नैतिक भाव ही लेना चाहिए। वास्तव में इन साधु-महात्माओं ने गार्हस्थ्य जीवन की पवित्रता भली भांति सिद्ध कर दी थी। प्राचीन वैराग्य-प्रणाली पर सर्वसाधारण सदाचार और नीति के सिद्धान्तों की यह एक अपूर्व विजय समझना चाहिये।

प्राचीन काल में यूरोप में प्रायः सारे ग्रन्थ लैटिन भाषा में लिखे जाते थे, जिससे उस भाषा का महत्व बढ़ गया और लोगों को भी बड़ी कठिनाई प्रतीत हुई। साथ ही लोग प्राचीन पांडित्य की गुलामी से भी उकता उठे थे। परन्तु

यूरोप के सुधारकों ने उस कष्ट-दायक बड़प्पन और दासता से राष्ट्रीय बुद्धि को मुक्त कर दिया। यूरोप का इतिहास पढ़ने वालों को उन सुधारकों की स्थायी सफलता का भली भांति ज्ञान है। उन सुधारकों की ही सहायता से उच्च नीच लोगों को बाइबल के पढ़ने में कोई असुविधा नहीं रही। उस समय तक विद्यादान का अधिकार केवल धर्माधिकारियों के ही हाथ में था। परन्तु उक्त प्रथा से उनके अधिकार कम हो गये। भारत में भी ठीक उसी प्रकार का परिवर्तन हुआ। जब साधु महात्माओं ने अपनी भाषा में ही ग्रंथ लिख कर, और कथा-कीर्तन करके, लोगों को उपदेश देना आरंभ किया; और स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र, आदि सब लोगों के लिए जब बड़ी उदारता के साथ गुप्त ज्ञान-भांडार खोल दिया गया, तब प्राचीन संस्कृतभाषाविज्ञ पंडितों को अत्यंत आश्चर्य हुआ। परन्तु उन पर विजय प्राप्त करने में उन साधु-संतों को बहुत से कष्ट और दुख उठाने पड़े। सब से पहले ज्ञानदेव ने ही उक्त मार्ग का अवलंबन किया; और फिर एकनाथ, रामदास, नामदेव, तुकाराम, वामन पंडित, मुक्तेश्वर, श्रीधर, मोरोपंत आदि ने भी उन्हीं का अनुकरण किया। अंतिम चार पुरुष धर्मगुरु की अपेक्षा ग्रंथ-लेखक और कवि के ही नाते विशेष प्रसिद्ध हैं, तो भी उनकी कविता-स्फूर्ति का मूल कारण उक्त महात्मा लोग ही हैं।

यद्यपि बाइबल की तरह वेदों और शास्त्रों का अनुवाद उन्हों-ने अपनी भाषा में, नहीं किया, तथापि इसका एक बड़ा ही महत्वपूर्ण कारण है। उनको ज्ञात था कि, बुद्ध की धर्मक्रांति के कारण वेदों और शास्त्रों की अपेक्षा रामायण, महाभारत,

भागवत और गीता के विषय में लोगों का अधिक पूज्यभाव है। इसी कारण उन्होंने उन ग्रंथों के ही अनुवाद करके लोगों के लिए उनको सुगम बना दिया। एकनाथ और तुकाराम इस कार्य में अगुआ बने; और उनको ब्राह्मण-द्वेषाग्नि का ताप सहना पड़ा। यद्यपि यूरोप की तरह उनके ग्रंथ जलाये नहीं गये, तथापि पानी में डुबो देने का तो अवश्य ही प्रयत्न किया गया। कहा जाता है कि, जल-देवताओं को उनका नाश करना अच्छा नहीं लगा; इसी से वे पानी के ऊपर ही तैरते रहे। इससे वे पहले की अपेक्षा और भी अधिक प्रसिद्ध हो गये। वामन पंडित तो संस्कृत भाषा के महान् पंडित ही थे। वे अपने सदृश पंडित के लिये अन्य भाषा बोलना अथवा लिखना हेय कार्य समझते थे। परन्तु रामदास जी से जब उनकी भेट हुई, तब उनका भ्रम नष्ट हो गया। इसी प्रकार रामायण का अनुवाद करनेवाले सालिया रसाल नामक ब्राह्मण को भी अपनी विद्या बुद्धि का बड़ा घमंड था, पर उनके इष्टदेव ने उनसे कहा कि तू अपना ग्रंथ नामदेव दर्जी के पास भेज कर उनसे शुद्ध करा ले। इससे उनके गर्व का खंडन हो गया। ज्ञानदेव ने भी एक ऐसा ही चमत्कारपूर्ण कार्य किया था। उन्होंने एक भैंसे के मुख से वेद का पाठ कराया। वास्तव में जो लोग वेदों का अर्थ न समझ कर उन्हें मुखाग्र कहने का ही घमंड मारते हैं, उनकी मानसिक शक्ति का हास्यकारक चित्र ही उक्त घटना में अंकित किया गया था।

वर्तमान समय में भी यह विवाद सुन पड़ता है कि प्राचीन संस्कृत भाषा का महत्व अधिक है, अथवा आजकल

की देशी भाषा का ? यह विवाद नवीन नहीं है; वरन् प्राचीन काल से ही चला आता है। वास्तव में इस विवाद का निर्णय देशी भाषाओं के ही पक्ष में बहुत पहले किया जा चुका है। चाहे पंडित लोग और प्राचीन-वस्तु-संशोधक उस बात से भले ही सहमत न हों, तथापि जब साधु-महात्माओं ने अपने कार्य में संस्कृत को उपयोगी न मानकर देशी भाषाओं की ही वृद्धि और सुधार पर ज़ोर दिया, तभी उन्हें इसका मुहतोड़ उत्तर दिया जा चुका है। ऐसी दशा में कहा जा सकता है कि भारत में साधु-महात्माओं के परिश्रम ही से देशी भाषाओं की वृद्धि हुई और जिन प्रदेशों के लोग सुधार के पक्षपाती थे; वहां पर बड़ी शीघ्रता से उनकी उन्नति हुई।

यूरोप में प्रोटेस्टंट सुधारकों ने एक और परिवर्तन किया था। उन्होंने रोमन कैथोलिक धर्म-संस्थाओं की मूर्ति-पूजा और संतपूजा के महत्व को घटाने के लिये बहुत कुछ प्रयत्न किये थे। ठीक उसी प्रकार इस ओर भी कार्य किया गया। परन्तु प्रोटेस्टंट सुधारकों का, और विशेष कर उनमें से कट्टर लोगों का, जैसा मूर्तिपूजा-विरोधक पंथ था वैसा महाराष्ट्र में उत्पन्न नहीं हुआ। महाराष्ट्र के साधु-महात्माओं को व्यावहारिक और तात्विक दृष्टि से विविध देवताओं का पूजन करने की प्रथा पसंद नहीं थी, किन्तु साधु-महात्मा ईश्वरीय अवतार के किसी विशिष्ट स्वरूप को ही मानते थे। अन्य देवताओं के विषय में वे उदासीन रहते थे। जैसे समर्थ रामदास जी राम के नाम से ईश्वर का भजन करते थे। एकनाथ और जयरामस्वामी कृष्ण की पूजा करते थे। तुकाराम, चोखामेला और नामदेव विट्ठल की, नरहरी सुनार और

नागनाथ शिव की, जनार्दन स्वामी और नृसिंह सरस्वती दत्तात्रेय की, मोरया गोस्वामी और गणेश नागनाथ गणपति की पूजा किया करते थे। यदि वे साधु-महात्मा किसी दूसरे देवता के देवालय में जाते, तो जिस मूर्ति की वे पूजा नहीं करते, उसके दर्शन भी नहीं करते थे। अतएव वह मूर्ति उनके इष्टदेव का भेष बनाकर उन्हें दर्शन दिया करती थी। इस प्रकार की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ साधु-महात्माओं के चरित्रों में लिखी हुई हैं। इन साधु-महात्माओं में से प्रत्येक का विश्वास था कि सर्वव्यापी ईश्वर एक ही है। परन्तु वे किसी को उक्त सिद्धांत के विषय में आशंकाएँ वा वादविवाद नहीं करने देते थे। परन्तु यूरोप की तरह इस देश में मूर्तियों का भंग कभी नहीं किया गया। हमारे साधुओं का तो यही विश्वास था कि हमारे पूजित ईश्वर के अनेक रूप अंत में एक ही देवाधिदेव ब्रह्म में मिल जाते हैं। लोग बहुत प्राचीन काल से उक्त बात पर विश्वास रखते हैं। यद्यपि वैदिक काल में इन्द्र, वरुण, मरुत् और रुद्र इत्यादि देवताओं की यज्ञ-यागादि में अलग अलग प्रार्थनाएँ की जाती थीं, तथापि वे सब एक ही सृष्टिकर्ता के विविध रूप माने जाते थे। इसी सिद्धान्त के अनुसार साधु-महात्माओं की मूर्तिपूजा का महत्व भी समझना चाहिए। वास्तव में उन साधु-महात्माओं को मूर्तिपूजक कहना मानो उनके विचार और भावों का विपर्यास करना ही होगा। वैदिक काल में मूर्तिपूजा बिलकुल ही प्रचलित नहीं थी, परन्तु जब से अवतारों के विचार का आविर्भाव हुआ, तभी से उक्त प्रथा प्रचलित हुई है। इसके अतिरिक्त जैन और बौद्धों की साधु-पूजा के कारण तो उस

प्रथा की और भी अधिक वृद्धि हुई। अंत में जब यहां के मूल निवासी जंगली लोग आर्यों में सम्मिलित हो गये, तब तो उनकी पत्थरों की पूजा का भी यहां पर प्रचार हो गया; और उन अनार्यों के देवता आर्य देवताओं से भिन्न गिने जाने लगे। परन्तु साधु-महात्मा उक्त जंगली विचारों को कभी नहीं मानते थे। जब उन्हें मूर्तियों में देवताओं के गुण नहीं देख पड़े, तब वे मूर्ति-पूजा का निषेध भी करने लगे थे। तुकाराम और रामदासजी ने भी उन जंगली मूल-निवासियों के देवताओं और उनकी भयंकर पूजा—होम-हवनादि—का बहिष्कार किया था। भानुदास के चरित्र में लिखा है कि, एक बार विद्यानगर का राजा एक देवी की पूजा करता था। अतएव भानुदासजी ने राजा से कहा कि आपकी देवी पंढरपुर में मेरे देवता की सेवा करती है; और झाड़ू लगाती है, तब राजा ने उनके कथनानुसार वहां जाकर देखा तो वह बात सत्य पाई। दो और संतों के चरित्रों में भी लिखा है कि, एक बार काली-देवी को मनुष्यों और पशुओं की बलि दी जाती थी; अतः जब उस झूठ प्रथा को नष्ट करने के लिये संतों ने निषेध किया, तब देवी ने भी भयभीत होकर बलि न देने की आज्ञा दी। इस कथन से ज्ञात हो जावेगा कि हमारे साधु-संतों ने भक्ति का प्रचार करने के लिए मूर्ति-पूजा का किस प्रकार उपयोग किया। सच तो यह है कि जब तक उपर्युक्त विवेक को ध्यान में नहीं रखा जायगा, तब तक इस बात का पता नहीं चलेगा कि हमारे धर्मोपदेशक साधु-महात्माओं का हमारी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय हलचल से क्या सम्बन्ध था।

परन्तु हमारे देश के सुधारक साधु-महात्माओं और यूरोप के तत्कालीन प्रोटेस्टंट सुधारकों में एक बड़ा भारी अंतर देख पड़ता है। वैदिक काल से अब तक आर्यों के देवताओं में प्रीति, तेज, माधुर्य, प्रकाश आदि गुणों की ही कल्पना की गई है। हां, उनके वरुण, रुद्र जैसे प्रभावशाली और भय उत्पन्न करनेवाले देव भी थे; परन्तु साधारणतः ईश्वर के उत्तम गुणों का ही ध्यान और स्मरण करने की ओर लोगों की अभिरुचि थी। अरब के शेमिटिक लोगों की बात अलग है। उनके धर्म का यह भाव था कि, ईश्वर बहुत दूरी पर है, वह बड़ा उग्र स्वरूपवाला है, उसका वैभव सहज ही में नहीं दिखाई दे सकता; और यदि दिखाई भी दे, तो वह अस्पष्ट रूप ही में देख पड़ेगा। साथ ही वह मनुष्य को, उसके पाप के बदले, कठोर दंड देने वाला है। वह एक ऐसा न्यायाधीश है जो प्रसन्न होने के बदले दंड देने ही की ओर विशेष ध्यान रखता है। यदि वह अपने भक्तों पर प्रसन्न भी होता है, तो भी वह उन्हें भयभीत ही रखता है। परन्तु क्रिश्चियन धर्म ने ऐसे धार्मिक विचारों को स्थान नहीं दिया। इनके धर्म में ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर के ईसामसीह का अवतार लिया है; और मानवजाति के हित के लिये अनेक संकट सहकर, उनके पापों का स्वयं ही प्रायश्चित किया। ग्रीस, रोम या भारतवर्ष के आर्यधर्म को ऐसा करने की कभी आवश्यकता नहीं हुई। हमारे यहां तो ईश्वर को न्यायाधीश और शासक की अपेक्षा माता, पिता, भाई और प्राणप्रिय सखा ही के रूप में विशेषकर माना गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि, वह न्याय नहीं

करता या वह शासक नहीं; वरन् न्याय या दंड करते समय उसमें माता-पिता के सदृश प्रेम भी होता है। अर्थात् जिस प्रकार माता-पिता अपने पुत्रों को, अपराध करने और फिर उस पर पश्चात्ताप करने पर, क्षमा प्रदान करते हैं उसी प्रकार ईश्वर भी करता है। इसी से साधु-महात्माओं के उपदेश और चरित्रों में परमेश्वर का जितना दयालु स्वरूप प्रकट किया गया है उतना कर्मठ ब्राह्मणों के विचारों से नहीं देख पड़ता। साधु-महात्मा, लोगों को विश्वास दिलाते हैं कि, हमें ईश्वर दिखाई देता है, हम उसकी बातें सुनते हैं, हम उससे बातचीत करते हैं; और वह हमसे सर्वदा मिलता रहता है। साथ ही वे कभी कभी यह भी कहा करते थे कि, ईश्वर कभी किसी से बातचीत नहीं करता; परन्तु वास्तव में जान पड़ता था कि, जिस प्रकार हमें किसी दृश्य वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान हो जाने पर आनंद होता है, उसी प्रकार ईश्वर के दर्शन से उन्हें भी आनंद हुआ करता था। योगी और वेदांती लोग कहा करते हैं कि समाधि लगाने से उनका ईश्वर से तादात्म्य हो जाता है, परन्तु नामदेव, तुकाराम, एकनाथ और ज्ञानदेव को अनेक प्रयत्न करके ईश्वर का थोड़ी देर तक दर्शन करना पसंद नहीं था; वरन् वे ईश्वर के सदा सर्वदा अपने पास ही रहने का अनुभव करते थे; और इस प्रकार प्रति दिन के दर्शन से उन्हें जो आनंद होता था, उसे वे योगी वेदांती के ब्रह्मानंद से भी अधिक बतलाते थे। उन संतों के चमत्कार-पूर्ण कार्यों पर हमारा विश्वास चाहे भले ही न हो, पर उनके उक्त कथन पर तो हमें विश्वास रखना ही होगा। क्रिश्चियन-मतानुयायी देशों में ईसामसीह के जन्म

और मृत्यु के विषय में जितना प्रेम और आनन्दभाव प्रकट होता है उतनाही, वरन् उससे भी अधिक, आनंद और प्रेम-भाव अन्तःकरण में प्रतिदिन ईश्वर का दर्शन करने से होता है। हमारे साधु-महात्माओं का यही एकमात्र वैभव था; और सभी उच्च-नीच लोग, स्त्री और पुरुष आजन्म शान्ति-प्रदायक एकमात्र इसी अमूल्य वस्तु का संचय करते थे।

ईश्वर और मनुष्य के इस संबंध का यह परिणाम हुआ कि, ईश्वर-विषयक-ज्ञान-प्राप्ति के लिये, लोग भक्ति को ही मुख्य साधन समझने लगे। यहां तक कि वैष्णव लोग तो भक्ति ही को अपने धर्म का मुख्य आधार समझने लगे। महीपति-लिखित सम्पूर्ण सन्त-चरित्रों में वाह्य पूजा और उनके सब विधि-विधान तीर्थ-यात्रा, तीर्थ स्नान, आत्मनिग्रह, उपवास, विद्यार्ज्जन, ध्यान इत्यादि सभी साधनों की अपेक्षा भक्ति-भाव और श्रद्धा को ही अधिक महत्व दिया गया है। उक्त साधनों का तो केवल शरीर और मन से ही सम्बन्ध होता है, पर भक्ति का सम्बन्ध ठेठ ईश्वर से ही होता है। परमात्मा भाव का भूखा है। जिस प्रकार भोजन, पान, निद्रा इत्यादि कार्य स्वाभाविक होने के कारण, अनायास हुआ करते हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त सब विधि-विधान भी सहज ही हो सकते हैं। अर्थात् आत्मा का उनसे कोई संबंध नहीं है। परन्तु जब हमारी सारी इन्द्रियां, हमारे सारे शरीर को भीतर और बाहर से व्याप लेनेवाले ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव करके उस ब्रह्मानन्द के समुद्र में स्नान करती हैं, तभी हमारा श्रेष्ठ तीर्थ-स्नान होता है। ईश्वर की इच्छा के हम पालने वाले हैं, हम सर्वथा ईश्वर के ही अधीन हैं, हमारा अपना

कुछ भी नहीं है। यही निष्काम भक्ति हमारा सच्चा यज्ञयाग और दान है। ईश्वर के सम्मुख आत्म-निवेदन करना ही हमारा आत्मनिग्रह है; और उसके वैभव का गुण-गान करना ही हमारा सच्चा चिंतन है। ज्ञानार्जन, योगशक्ति, शारीरिक स्वास्थ्य, द्रव्य, बालबच्चे, ज़मीन-जायदाद इत्यादि इसके सामने कोई चीज़ नहीं—यहां तक कि मोक्षसुख का भी इसके सामने कोई महत्व नहीं है। ईश्वर और उसकी सृष्टि, अर्थात् प्राणिमात्र, पर प्रेम रखना ही आवश्यक है। एक बार नामदेव कुल्हाड़ी से एक वृक्ष की छाल निकाल रहे थे, पर जब उन्होंने कुल्हाड़ी मारने पर उस वृक्ष से रक्त बहते हुए देखा, तब वे बड़े दुःखित हुए और उस कुठाराघात के कारण वृक्ष को जो दुख हुआ था, उसका अनुभव करने के लिये स्वयं उन्होंने अपने ही कंधे पर कुल्हाड़ी से घाव कर लिया। इसी प्रकार जब शेख़मुहम्मद के पिता ने उनसे कसाई का व्यवसाय करने के लिये कहा, तब उन्होंने पहले अपनी उँगली ही को छुरी से काट लिया, जिससे प्राणिहिंसा के कष्ट का स्वयं उनको अनुभव हो। आखिर उस दुख का अनुभव हो जाने पर उन्होंने अपना व्यवसाय छोड़ दिया; और जिस संसार में अपने पेट-पालन के लिये औरों को सताना पड़ता है, उस संसार से वे विरक्त हो गये। एक बार तुकारामजी को पक्षियों से खेत की रक्षा करने के लिये कहा गया, अतएव उन्हें देख कर पक्षी उड़ गये। उस समय तुकारामजी ने सोचा कि मेरे किसी दोष ही के कारण वे पक्षी उड़ गये हैं! शायद कुछ लोगों को इन महात्माओं के मन की उदारता और स्वार्थत्याग पर विश्वास नहीं होगा, पर उसकी सत्यता के विषय में सचमुच ही कोई आशंका नहीं है; और

ऐसे ही आदर्शों से पारमार्थिक श्रेष्ठता की राष्ट्रीय उच्च भावना उस समय लोगों में जागृत हुई थी। चाहे वर्तमान समय में उतनी नम्रता और स्वार्थत्याग, शिथिलता और सहनशीलता उपयोगी न समझी जाय; पर इन साधु-महात्माओं को हुए चूंकि दो सौ से भी अधिक वर्ष बीत गये हैं; अतएव उनका वर्णन करते समय हमें अपनी आवश्यकताओं और इच्छित वस्तुओं का ही विचार करना समुचित न होगा।

हमारे साधु-महात्माओं के आचार-विचार और संभाषण की शैली क्या थी; और मुसलमान-धर्म के सदृश युद्ध-प्रधान धर्म का सामना करते हुए, आये हुए संकट को टाल कर, उन्होंने किस प्रकार विजय प्राप्त किया, इसका वर्णन भी बहुत ही मनोरंजक है। नामदेव, एकनाथ, रामदास आदि के चरित्रों में तो ऐसी घटनाओं की ख़ूब ही भरमार है। यह बात भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि, कई मुसलमानों ने भी हिन्दू-धर्म को स्वीकार किया था, जिससे वे इतने प्रसिद्ध हुए कि उस समय के ग्रंथ-लेखकों ने हिन्दू महात्माओं की तरह मुसलमान संतों का भी यश गाया है। उस समय के हिन्दुओं ने मुसलमान संतों का सम्मान करने में बड़ी उदारता दिखलाई थी। उदाहरण-स्वरूप शेखमुहम्मद और कबीर के नाम ही पर्याप्त हैं। इसी प्रकार तुकाराम और एकनाथ पर भी मुसलमान-धर्म का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने उर्दू भाषा में भी काव्य-रचना की। उन कविताओं के उच्चतत्व कट्टर मुसलमानों को भी मान्य हैं। जब समर्थ रामदासजी के शिष्य उद्धव पर बेदर में एक संकट उपस्थित हुआ, तब रामदासजी ने भी उक्त मार्ग का ही अनुकरण किया था। बेदर के बादशाह

के सेवक दामाजीपंत की कथा तो बहुत ही प्रसिद्ध है। एक बार जब अकाल पड़ा, तब उन्होंने सरकारी धान गरीब लोगों को बांट दिया। इस अपराध के लिए जब उन्हे दंड मिलने का समय आ पहुँचा, तब एक विचित्र प्रकार से उस धान का मूल्य सरकारी कोष में जमा हो गया; और दामाजी संकट से मुक्त हो गये। पर-धर्मीय राजाओं के झगड़ों में अंत में साधु-महात्मा ही विजयी हुए। उनकी विजय युद्ध या विरोध से नहीं, वरन् ईश्वर पर पूर्ण विश्वास रखने से ही हुई। उस समय मुसलमानों के अल्ला और हिन्दुओं के राम को लोग एक ही मानने लगे थे; और पारस्परिक द्वेष को त्याग कर एकता की प्रवृत्ति बढ़ चली थी। इसके बाद जब शिवाजी रंगभूमि पर उपस्थित हुए उस समय तो वह एकता अपना पूरा पूरा काम कर रही थी। परन्तु फिर भी मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता पूर्णतया नष्ट नहीं हुई थी; और यदा कदा वह ज़ोर पकड़ती ही थी।

इस प्रकार धार्मिक हलचल के मुख्य भागों का हमने वर्णन किया। उक्त हलचल का ज़ोर पन्द्रहवीं शताब्दी, अर्थात् ज्ञानदेव के जन्मकाल से लेकर गत शताब्दी के अन्त तक, एकसा बना रहा, जिससे धीरे धीरे पारमार्थिक सद्गुणों की उन्नति होती गई। इसी हलचल के कारण हमें देशी भाषा का अमूल्य साहित्य मिला है; और जाति-पांति के भ्रमपूर्ण विचारों का बल भी उसी हलचल के कारण कम हो गया है। शूद्र-जाति को पारमार्थिक शिक्षा देकर और समाज में उसका महत्व बढ़ा कर ब्राह्मणों की श्रेणी में, उसी हलचल ने, बिठाया है। इसी हलचल से कुटुम्ब-विषयक पवित्रता बढ़ी; और स्त्रियों

की योग्यता में भी वृद्धि हुई; और पारस्परिक एकता की शिक्षा मिली। इसी हलचल से हिन्दू-मुसलमानों में मेल होने का विचार पैदा हुआ; और आंशिक रूप से उसकी पूर्ति भी हुई। इसी हलचल ने पूजा-अर्चा, व्रत-नियम, अध्ययन, तीर्थयात्रा, इत्यादि की अपेक्षा ईश्वर-भक्ति और भजन-भाव का महत्व विशेष रूप से सिद्ध किया; अनेक देवताओं और मतमतान्तरों की बुराइयों को घटाया। इस प्रकार राष्ट्र की आचारशक्ति और विचारशक्ति को श्रेष्ठ बनाने में इस हलचल का बहुत उपयोग हुआ। इसी धार्मिक हलचल ने विदेशी शासन के स्थान पर एकता का 'स्वराज्य' स्थापित करने के उस महान् कार्य में महाराष्ट्र को आगे बढ़ाया जिसको करने के लिए भारत की और कोई जाति तैयार न हो सकी थी। 'महाराष्ट्र धर्म' के यही मुख्य विचार हमें दिखाई देते हैं; और इन्हीं विचारों को लेकर श्रीसमर्थ रामदास स्वामी ने छत्रपति शिवाजी के पुत्र सम्भाजी को, अपने पिता का अनुकरण करते हुए, इस धर्म के आचार और प्रचार का उपदेश किया था, कि जो उदारता और सहिष्णुता से परिपूर्ण है; और पूर्ण आध्यात्मिक होते हुए भी मूर्तिपूजा का विरोधी नहीं है।

नवम परिच्छेद ।

जिंजी ।

मराठा इतिहास के दूसरे महान् सङ्कट को, जो शिवाजी की असामयिक मृत्यु के पश्चात् दक्षिण में दिखलाई पड़ा, उनके समय के बहुत ही कम लोगों ने अनुभव किया था। पहला सङ्कट तो उस समय प्रतीत हुआ था, जब कि शिवाजी ने, बिना किसी शर्त के, राजा जयसिंह के अधीन होकर दिल्ली को जाना स्वीकार किया था; और वहां वे क़ैद कर लिये गये थे। उस समय वे अपनी चतुरता और सौभाग्य से न सिर्फ़ बच ही निकले थे, बल्कि स्वयम् औरङ्गज़ेब से यह भी स्वीकार करवा लिया था कि देश में शिवाजी एक ऐसा शक्तिशाली व्यक्ति है कि जिससे उस समय तक सन्धि रखना ही उचित है, जब तक उसको बिलकुल मटियामेट न कर दिया जावे। शिवाजी दक्षिण के सम्बन्ध में औरङ्गज़ेब के दांव-घातों से खूब परिचित थे। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम बारह वर्ष में देश को औरङ्गज़ेब के आक्रमणों को सहन करने के लिए ही तैयार किया था। दक्षिण की मुसलमानी रियासतों के भीतरी झगड़ों को भुलाकर शिवाजी ने गोलकुंडा और बीजापुर के सुलतानों से ऐसी सन्धि कर ली थी कि जिससे वे दूसरों पर आक्रमण करने और बाहरी आक्रमणों को रोकने में एक दूसरे के सहायक रहें। इन दोनों राज्यों

ने मुग़ल आक्रमणों से बचने में उपर्युक्त सन्धि से लाभ भी उठाया था; और शिवाजी की इस सहायता के लिये कुछ रुपया भी बतौर नज़राने के देना स्वीकार कर लिया था। शिवाजी ने भविष्य का अनुमान कर अपनी विजय और सन्धि के द्वारा दक्षिणी भारत के भीतर कावेरी की घाटी में एक नवीन मोर्चा बांध रखा था कि जिससे आवश्यकता पड़ने पर उससे लाभ उठा सकें। सह्याद्रि घाट के पार्वतीय दुर्गों और अन्य पर्वत-श्रेणियों की मरम्मत करा दी थी; और सरदारों की अधीनता में सामुद्रिक नाविक शक्ति भी अपनी रक्षा करने के लिए बढ़ायी जा रही थी। इससे बढ़ कर उन लोगों की शक्ति थी, जिनको उन्होंने बहुत समय तक रणकौशल सिखलाया था; और वे उनके साथ प्रत्येक जगह जाने के लिए तैयार रहते थे, एवम् विश्वासपात्रता और पूरी सफलता के साथ उनकी इच्छाओं को, ज़रासा संकेत पाने पर, पूरा करते थे। इसके सिवाय स्वतंत्रता के विचार भी शिवाजी ने सर्वसाधारण के हृदयों में पैदा कर दिये थे। ये सब बातें उस शक्ति की मुख्य अवलम्ब थीं, जिसको शत्रु और मित्र प्रायः सभी प्रकार के लोग दक्षिणीय भारत में सब से बढ़कर मानते थे। चूंकि शिवाजी की मृत्यु असामयिक और अचानक होगई, इसलिए वे अपने उत्तराधिकारी के लिए पूरा प्रबन्ध न कर सके। उनका ज्येष्ठ पुत्र उनसे बड़ी धृष्टता के साथ पेश आया था और वह उनकी आज्ञा न मान कर मुग़ल सरदारों की शरण में चला गया था। मुग़ल कैम्प से वापस आने पर शम्भाजी को पन्हाला के किले में नज़रबन्द रक्खा गया। रायगढ़ के मंत्रिगण जानते थे कि शम्भाजी अपने

आचरण और स्वभाव के कारण शिवाजी के आरम्भ किये हुए कार्य को सम्पादन करने में अयोग्य है। इसलिए उन्होंने उसे अलग करके छोटे लड़के राजाराम को राज्यसिंहासन पर बैठाना चाहा। इस अवसर पर बड़ी भूल यह हुई कि रायगढ़ के मंत्रियों ने शीघ्रता में आकर फौज की सम्मति न ली। चूंकि सेनापति हम्बीरराव मोहिते उनकी गुप्त मंत्रणा में सम्मिलित नहीं हो सके, इस लिए मंत्रियों को असफल होना पड़ा। शम्भा जी फौज की सहायता से पन्हाला से निकल आया और रायगढ़ के मंत्रियों के विरोध को दबाकर राजगद्दी पर अपना आसन जमा लिया। इस सफलता पर उसने जिस कूटनीति का अवलम्बन किया, उससे पता लगता है कि वह आनेवाली विपत्ति के समय में राष्ट्र का नेता होने की योग्यता न रखता था। उसने अपनी सौतेली मां को भूखों मार डाला, पुराने पेशवा, सामन्त और सचिव को क़ैद किया और शिवाजी के समय के मंत्री को मरवा डाला। अस्तु; इसके शासन-काल में ऐसे अत्याचार बराबर होते रहे और इसने शीघ्र ही अपने पिता के समकालीन बड़े बड़े महान् पुरुषों को स्नेह से विमुख कर दिया। शम्भाजी स्वभावतः वीर था और इस लिए यह भी ख़्याल होता था कि इन अत्याचारों के होते हुए भी, वह अपने पड़ोसियों के सामने युद्ध में मराठों की प्रतिष्ठा को बनाये रक्खेगा; किन्तु ये आशाएँ पूरी न हुईं। उसकी शराबख़ोरी और विलासिता की आदत ने शीघ्र ही उसको कमज़ोर कर दिया और अपने कृपापात्र 'कलुशा' नामक एक व्यक्ति के उपदेशों के कारण वह जादू-टोना और भूत-प्रेत का बहुत बड़ा अन्ध-विश्वासी बन गया। अतएव,

शम्भाजी के शासनकाल का वर्णन करना व्यर्थ है। उसको देश का शासक कहने के लिए हम तैयार नहीं हैं। चूंकि उसने अष्ट प्रधानों को तोड़ दिया था, इस लिए वह कौंसिल तो किसी काम की ज़िम्मेदार रही नहीं थी। फौजी और मुल्की मामलों में भी नीति को भुला दिया था। सिपाहियों को नियमानुकूल तनख्वाह न दी गई, पहाड़ी क़िलों में न तो फौज ठीक रक्खी गई; और न रसद का सामान ही प्रस्तुत किया गया। ज़िलों की मालगुज़ारी वसूल करने का काम अधिक रुपया अदा करनेवाले ठेकेदारों को सौंपा गया। प्रत्येक प्रान्त में राज्यविद्रोह फैल गया और उसी समय औरंगज़ेब ने दक्षिण की हिन्दू-मुसलमान रियासतों को अधीन करके, अपने जीवन के सब से बड़े कार्य को पूरा करने की इच्छा से, तीन लाख सशस्त्र सैनिकों को लेकर हमला किया। भारतवर्ष की धन-शक्ति और जन-शक्ति, काबुल-कन्धार से लेकर बङ्गाल तक, इस काम के लिए लगा दी गई और उनसे सर्वोच्च श्रेणी के हिन्दू-मुसलमान जनरैलों (सरदारों) की अधीनता में काम लिया गया। जब शम्भाजी के यहां बादशाह के एक लड़के ने भाग कर शरण ली, तो उसने उसको अपने यहां से कुशल-समेत निकल जाने का अवसर देकर इस नये संकट के दूर करने का साधन अपने हाथों से खो दिया। पुराने मंत्रियों ने उसको इस संकट से सचेत किया, लेकिन उसने उनकी एक न सुनी। औरंगज़ेब की फौज ने दक्षिण में आकर तीन वर्ष के भीतर ही गोलकुंडा और बीजापुर को विजय कर लिया और शम्भाजी को अत्यन्त असहाय अवस्था में सुगमता के साथ गिरफ़ार कर लिया, एवम् निर्दयता के साथ उसे मार डाला।

समस्त मैदानों को विध्वंस करके, बिना युद्ध के ही, सब पहाड़ी क़िलों पर अपना अधिकार जमा लिया; क्योंकि उनकी रक्षा के लिए कोई उपाय सोचा ही न गया था। अन्त में रायगढ़ पर क़ब्ज़ा हो गया और शम्भाजी की स्त्री और बच्चे, औरङ्गज़ेब के कैम्प में रक्खे गए। इस तरह, औरङ्गज़ेब अपने समस्त जीवन भर जिस बात का स्वप्न देखता रहा था, वह केवल पांच वर्ष के भीतर ही प्रत्यक्ष हो गया। नर्मदा से लेकर तुङ्गभद्रा तक सारा देश उसके चरणों के सामने अपना सिर झुकाता था। ऐसा मालूम पड़ता था कि शिवाजी और उनके सहकारी व्यर्थ ही में अब तक अपनी जान लड़ाते रहे थे। यह बड़ा तूफ़ान, जिसकी रोक-थाम के लिए शहाजी और शिवाजी ने साठ वर्ष तक प्रयत्न किया था, अन्त में देश की समस्त वस्तुओं को बहा कर ले ही गया; और उसके रुकने के कोई लक्षण न दिखलाई पड़े। बीजापुर और गोलकुंडा के पुराने शासक बड़ी बड़ी दूर पर क़ैद थे और शम्भाजी का कम-उम्र लड़का औरङ्गज़ेब के कैम्प में गिरफ़्तार था।

परन्तु, जिस समय देश का भाग्य अत्यन्त हीनावस्था को पहुँच गया था और सब कुछ हाथ से जाता रहा था, वस्तुतः कोई आशा भी शेष न रह गई थी, उस समय, इन्हीं आपदाओं के कारण, शिवाजी की शिक्षा पाये हुए देशभक्तों के दल ने धन-जन-विहीन, अर्थात् किसी प्रकार के साधन न होने पर भी, औरङ्गज़ेब को फ़ौज-समेत देश से बाहर निकालने और राष्ट्रीय स्वतंत्रता को पुनर्वार प्राप्त करने का पूरा निश्चय कर लिया था। इस दल का सरदार शम्भाजी का

छोटा भाई राजाराम था, जिसको शम्भाजी ने रायगढ़ के क़िले में क़ैद कर रक्खा था; और जिसने अपने भाई के क़तल के बाद रायगढ़ विजय होने के पूर्व ही छुटकारा पा लिया था। राजाराम की अवस्था उस समय बीस वर्ष की थी, परन्तु उसके अन्दर उसके पिता के समस्त गुण—साहस और चतुरता, विलास-हीनता, नम्रता, हृदय की विशालता, और सब से बढ़ कर लोगों में विश्वास उत्पन्न करने का बल, आदि गुण मौजूद थे। उसने जीवन-पर्य्यन्त अपने को शाहू का, जो उस समय औरङ्गज़ेब की क़ैद में था, राज-प्रतिनिधि ही ज़ाहिर किया; और शाहू के अधिकार को स्थिर रखने के लिए उसने कभी राजसिंहासन पर पैर भी नहीं रक्खा। शिवाजी के बनाये हुए न्यायाधीश नीराजी रावजी का बड़ा लड़का प्रह्लाद नीराजी ऐसे समय में उसका प्रधान मंत्री था। यद्यपि शम्भाजी के शासनकाल में वह अपने पद से अलग था; और राजकार्य में किसी प्रकार का योग न देता था; केवल चुपचाप सब मामलों को देखता रहता था, तथापि बुद्धिमान होने के कारण मराठों में उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। मि० ग्रांट डफ, जो ब्राह्मणों के प्रशंसा करने वालों में नहीं हैं, वह भी प्रह्लाद को एक असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति मानते हैं। ब्राह्मण राजनीतिज्ञों की पंक्ति में यह पुरुष भी स्वार्थत्याग का एक बहुत ही उत्तम आदर्श रखने वाला था। राजाराम की तरह प्रह्लाद भी अपने राष्ट्रीय कार्य को अधूरा ही छोड़ कर इस असार संसार से चल बसा था। परन्तु दोनों को अपने जीवनकाल में इस बात पर सन्तोष था कि उन्होंने अपनी आंखों से उस सङ्कट को, जो बादल की भांति

देश पर छाया हुआ था, बहुत कुछ दूर कर दिया था और अन्तिम विजय पाने के लिए केवल समय की देर थी। इन देश-हितैषियों में से रघुनाथपन्त हनुमन्ते भी था। वह शहाजी की करनाटकवाली जागीर के सब से पुराने ब्राह्मण कारकुन का लड़का था और अपने स्वार्थत्याग तथा विचार-स्वातंत्र्य के लिए मशहूर था। इसने वेङ्कोजी को तंजौर में और शम्भाजी को रायगढ़ में, चालचलन की दुरुस्ती के लिए, बहुत कुछ शिक्षाएं दीं और जब सङ्कट का सामना आ पड़ा, तो उसने प्रह्लाद नीराजी का साथ दिया और राजाराम तथा उसके साथियों की रक्षा के लिए जिंजी के क़िले को, जो शहाजी की तंजौरवाली जागीर के अन्तर्गत था, मरम्मत कराके तैयार किया। प्रथम पेशवा मोरोपन्त पिंगले के पुत्र मोरेश्वर को पहले ही से जिंजी के क़िले को प्रत्येक रीति से ठीक रखने के लिए रवाना किया गया। इन ब्राह्मण नेताओं में से, जिनको दक्षिण में इधर-उधर गनीमी कावे की लड़ाइयों के लिए रखा गया था, सब से अधिक सुयोग्य और प्रसिद्ध कोल्हापुर के वर्तमान पन्त-अमात्य घराने का पूर्वज रामचन्द्रपन्त अमात्य था। रामचन्द्रपन्त, आबाजी सोनदेव का लड़का था, जो शिवाजी के समय में मोरोपंत पिंगले के साथ शिवाजी का प्रधान मंत्री और फ़ौज का सरदार था। उस पर इतना बड़ा विश्वास था कि उसको समयानुकूल प्रत्येक कार्य करने का अधिकार दिया गया था और राजाराम तथा अन्य मराठे सरदार, जिनको राजाराम के साथ दक्षिण की ओर जाना पड़ा, अपने बालबच्चों को उसके ही निरीक्षण में विशालगढ़ में छोड़ गये।

मराठा राज्य का एक यही प्रतिनिधि वहां रह गया था, जिसने मुग़ल सम्राट की अधीनता स्वीकार न की थी। दूसरा ब्राह्मण नेता, शङ्कराजी मल्हार का नाम भी उल्लेखनीय है, जिसको शम्भाजी ने 'सचिव' के पद पर नियत किया था। इसने जिंजी को प्रस्थान करनेवाले सरदारों का साथ दिया और थोड़े समय के पश्चात् बनारस को चला गया। जब शाहू को राज्याधिकार मिला, तब उसने सैयदों और मराठों के बीच सन्धि कराने में विशेष रूप से सेवा की थी। इस सङ्कट के समय जो प्रसिद्ध ब्राह्मण नेता हुए, उनमें सितारा ज़िले की औंध रियासत के पन्त-प्रतिनिधि घराने के पूर्वज परशुराम त्र्यम्बक, किन्हई के कुलकर्णी और भोर के पंत-सचिव घराने के पूर्वज शङ्कराजी नारायण भी थे। ये लोग रामचन्द्रपन्त के मुख्य सहायकों में से थे और इन्होंने अपने देशवासियों के विश्वास को बड़ी खूबी के साथ निभाया। मराठा जाति के नेताओं में मुख्य उत्तरदायित्व सन्ताजी घोरपड़े और धनाजी यादव का समझा जाता था। इन्होंने सन् १६७४ ई० में पन्हाला के समीप हम्मीरराव मोहते की अधीनता में एक पराजय को विजय में परिणत करके प्रथम वार नामवरी पैदा की थी और तीस वर्ष तक बराबर इन्होंने मराठों की प्रतिष्ठा को बनाये रक्खा; और तमाम मुग़ल सेनाओं का साहसपूर्वक सामना करते रहे। यद्यपि ये दोनों राजाराम और प्रह्लाद नीराजी के साथ जिंजी को चले गये थे, परन्तु शत्रु का सामना करने को यह आपस में तय हो चुका था कि ये दोनों दक्षिण ही में आकर मुग़लों का मुक़ाबला करें और उनको कर्नाटक पर आक्रमण करने से रोकें, जिससे वे जिञ्जी पर दबाव न डाल

सकें। निःस्सन्देह वे बिना रुपया पैसा, और किसी प्रकार की आमदनी का आश्रय लिये बिना ही लड़ते थे। उनको सिपाही, घुड़सवार, रसद, गोला-बारूद और खर्च के लिए द्रव्य इत्यादि जमा करने की खुद ही फिक्र करनी पड़ती थी और इसलिए उन्होंने बहुत कुछ ज़ियादती से भी काम लिया। वे लोग समस्त मुग़ल शक्ति के मुक़ाबिले युद्ध करते थे। इन्होंने मुग़ल सेना पर ऐसा आतंक जमा दिया था कि शताब्दी ख़तम होने के पहले ही मराठा लश्कर अपने देश में आकर गुजरात, मालवा, खानदेश तथा बरार पर हमला करने के योग्य हो गया; और मुग़ल सम्राट की फौज को बहुत कुछ कमज़ोर कर दिया। इस स्वाधीनता के संग्राम के समाप्त होने के पूर्व ही सन्ताजी घोर-पड़े को, एक उसके निजी शत्रु ने, धोखे से मार डाला, परन्तु उसके अन्य तीन भाइयों ने मुग़लों के मुकाबला करने का काम अपने उत्तरदायित्व पर जारी रक्खा और गुत्ती तथा सूंद नामक रियासतों की नींव डाली। हां, धनाजी यादव अवश्य ही तब तक जीवित रहा, जब तक कि उसने शाहू को अपने देश में आकर गद्दी पर बैठा हुआ न देख लिया।

अन्य मराठा सरदारों में खण्डेराव दाभाड़े का दर्जा भी श्रेष्ठ है। इसका पिता शिवाजी की नौकरी में तलेगांव का पटेल था। वह भी राजाराम के साथ जिञ्जी को चला गया था। यही पहला मराठा सरदार था, जिसने दक्षिण से बाहर गुजरात और खानदेश जैसे बादशाही सूबों पर आक्रमण किया। उसके साथियों में से एक ने, जो धार और देवास के पवार वंश का अधिष्ठाता हुआ है, मालवे में प्रवेश किया। खंडेराव दीर्घकाल तक जीवित रहा; और बालाजी विश्वनाथ के साथ

देहली के सम्राट से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' की सनद भी लेने गया था। अन्य मराठा सरदारों में, जिन्होंने उस समय जी तोड़ कर काम किया, आठवले, सीधोजी नायक, निम्बालकर, परसोजी भोंसले, (नागपुर के राजाओं के पूर्वज), नेमाजी शिन्दे के नाम उल्लेखनीय हैं। इस दीर्घकालीन युद्ध के समय में थोरात, घाटगे, थोके, महार्णव, पांढरे, काकडे, पाटनकर, बांगर, कदू और अन्य सरदारों ने भी बड़ी अच्छी शिक्षा प्राप्त की; और भविष्य में देश के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए। राजाराम के मंत्रियों ने इन सरदारों को मुग़ल इलाके से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार दे दिया था। इस लिए परसोजी भोंसले ने गोंड़वाना और बरार से चौथ वसूल करने की सनद प्राप्त कर ली थी। निम्बालकर घराने को गंगथड़ी का सूबा मिल गया था। दाभाड़े लोगों को गुजरात और खानदेश पर अधिकार था और अन्य सरदार कर्नाटक तथा तत्कालीन अन्य विजित मुग़ल सूबों में नियत किये गये थे।

प्रभू सरदारों में दो आदमी मुख्यतया उल्लेखनीय हैं, जिनमें से पहला खंडो बल्लाल चिटनीस है। यह शिवाजी के मुख्य मंत्री बालाजी आवजी का लड़का था। इसके पिता और चाचा को यद्यपि शम्भाजी ने बड़ी निर्दयता से मरवा डाला था, तथापि वह सदैव शम्भाजी के साथ विश्वासपात्रता और राजभक्ति का बर्ताव करता रहा। यही नहीं, बल्कि पोर्चगीज़ों की लड़ाई में उसने बहुत बड़ी वीरता दिखलाई। इस लिए शम्भाजी का वह बहुत बड़ा कृपापात्र बन गया। शम्भाजी की मृत्यु के पश्चात् वह राजाराम के साथ जिञ्जी को गया, परन्तु

जब बेलारी नामक स्थान में मुग़ल सूबेदार ने उन सब छद्म-वेषधारी लोगों को घेर लिया, तब खण्डो बल्लाल, बड़े आत्मोत्सर्ग के साथ, अपने तमाम साथियों को आगे भेज कर, स्वयम् उस स्थान पर डटा रहा। उसको मुग़लशासक ने पकड़ कर बड़ी निर्दयता से सताया; किन्तु वह उसकी राज-भक्ति को ज़रा भी डिगा न सका। उसने मुग़ल फ़ौज के मराठे सरदारों को कोकन प्रान्त की अपनी जागीर देने की प्रतिज्ञा करके, उनके द्वारा राजाराम को जिंजी से कुशलपूर्वक निकाल लाने की चेष्टा की। वह शाहू के दिल्ली से सतारा वापस आने और उसके पूर्वजों की राजगद्दी पर आसीन होने के समय तक जीवित रहा। दूसरा प्रभू सरदार प्रयागजी नामक था। स्वयं औरंगज़ेब ने जब एक वार बहुत सी सेना के साथ कई महीने तक सितारा शहर को घेर रखा था, तब इसी सरदार ने बड़ी वीरता के साथ शहर की रक्षा की थी।

यही वे देशभक्त ब्राह्मण, मराठा और प्रभू सरदार थे, जिन्होंने विपत्ति के तूफ़ान से न डगमगा कर जीवन-पर्यन्त राष्ट्रीय स्वतंत्रता को स्थापित रखने का पूरा निश्चय कर लिया था और दक्षिण में बचाव का कोई आश्रय न पाकर जिंजी के क़िले में चले गये थे। राजाराम ने वहां अपनी अष्टप्रधान-समिति स्थापित की, कचहरियां खोलीं, और सुयोग्य कर्म-चारियों को इनाम और जागीरें दीं। इस प्रकार उसने सेना-पतियों को मुग़लों के मुकाबले युद्ध करने की आज्ञाएं उसी प्रकार दीं, कि जैसे वह अब तक अपने समस्त देश का अधि-पति हो। उसने अपने उक्त सरदारों को, अपनी तमाम शक्ति एकत्रित करके, सिर्फ़ दक्षिण के छै सूबों में ही नहीं, वरन्

प्राचीन मुग़ल राज्य के सूबों में भी चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने के आज्ञापत्र जारी कर दिये थे। औरङ्गज़ेब को शीघ्र ही इस बात का पता लग गया कि उसका दक्षिण को विजय करना उस समय तक व्यर्थ है, जब तक वह मराठा सरदारों को सुरक्षित रखनेवाले केन्द्र-स्थान को विनष्ट न कर दे। इस लिए उसने शीघ्र ही अपने दक्षिण के विजयी सरदार ज़ुल्फिकारख़ां को जिञ्जी में घेरा डालने के लिए हुक्म दिया। ज़ुल्फिकारख़ां ने सन् १६६१ में जिञ्जी को पहुँच कर उसे घेर लिया। परन्तु उस स्थान की क़िलेबन्दी ऐसी दृढ़ता के साथ की गई थी और सन्ताजी घोरपड़े तथा धनाजी जादव ने, जिनको मुग़ल सेना के प्रतिरोध करने का कार्य सौंपा गया था, ऐसी मुस्तैदी और दिलेरी से अपने कर्तव्यों का पूरा किया कि मुग़ल सरदार सन् १६६८ से पूर्व उस पर कब्ज़ा न कर सका; और जब कब्ज़ा किया, तब उसको पता लगा कि राजाराम और उसके अनुयायी क़िले से कुशलपूर्वक चले गये। इस सात वर्ष के समय ने मराठों को दम लेने की फुरसत दी, जिसकी उनको अत्यन्त आवश्यकता थी; और मुग़लों के मुक़ाबले लगातार अपनी शक्ति को बढ़ाने के उपाय भी बतलाये। औरंगज़ेब की सेना का भय शीघ्र ही दूर हो गया; और जब मराठों की सेना का एक भाग जिञ्जी के क़िले की रक्षा करने में लगा हुआ था, धनाजी जाधव और सन्ताजी घोरपड़े ने दक्षिण में वापस आकर शिवाजी के 'सिलदार' और 'बारगीर' नामक सुशिक्षित घुड़सवारों को राष्ट्रीय झण्डे के नीचे एकत्रित किया। 'घास-दाना' ऐसे ढङ्ग पर वसूल किया गया, जो 'अवैतनिक' और 'स्वयम्सेवक' सेना

को ख़र्च का काम देने लगा। सन् १६६१ ई० में ही मराठों के दल ने नासिक और बेदर को लूटा। सन् १६६२ ई० में रामचन्द्रपन्त ने विशालगढ़ से चल कर सतारा को अपना निवासस्थान बनाया, और घाटमाथा के प्रदेश पर शासन करने लगा। उसने एक दस्ता फ़ौज का भेज कर मुग़ल फ़ौज का सम्बन्ध इधर-उधर से विच्छिन्न कर दिया। इस प्रकार वाई, रायगढ़, पन्हाला और मिरज पर कब्ज़ा करके फिर जगह जगह मराठों के थाने बैठा दिये गये।

पवार, चवान, थोरात और आठवले सरदारों ने दलबन्दी की लड़ाइयों में सफलता प्राप्त करके जिञ्जी के दरबार से ख़िताबात प्राप्त किये। सन् १६६३ ई० में औरंगज़ेब ने अपनी छावनी को भीमा नदी पर स्थित करने की आवश्यकता समझी और अपने पुत्र तथा मुख्य मंत्री असदखां को जिञ्जी की ओर रवाना किया।

सन् १६६४ ई० में मराठों ने सन्ताजी घोरपड़े की अधीनता में औरंगज़ेब की छावनी की ओर उत्तरी मुल्क को खूब लूटा और रामचन्द्रपन्त, पश्चिम में शोलापुर तक, लड़ता चला गया। सन् १६६५ ई० में सन्ताजी ने परसोजी भोंसले और हैबतराव निम्बालकर को बरार और गङ्गथड़ी में दिल्ली से आनेवाली बादशाही फ़ौज पर हमला करने को छोड़ दिया; और स्वयम् कर्नाटक की ओर घेरा डालनेवालों पर जाकर आक्रमण किया; और उन्हें भगा दिया। इधर धनाजी ने भी एक ओर से आक्रमण करके सन्ताजी के कार्य को पूरा करने में हाथ बँटाया। अब घेरा डालनेवालों को कोई उपाय न देख पड़ा, इसलिये असदखां ने सन्ताजी से

सुलह कर ली। अतएव कुछ शर्तों पर मुग़ल फ़ौज को वापस जाने का मौक़ा दिया गया। औरंगज़ेब ने अपने मंत्री के इस कार्य को नापसन्द किया; और अपने पुत्र को वापस बुला कर ज़ुलफ़िक़ारख़ां को अधीनता में एक नयी फ़ौज रवाना की। परन्तु इस फ़ौज के द्वारा घेरे का काम शीघ्र नहीं हो सका; अतएव सन्ताजी इसी बीच में वहां से मुक्त होकर शीघ्र ही बीजापुर में शाही फ़ौज पर मँडराने लगा और सूबेदार क़ासिमख़ां को दोडेरी नामक स्थान पर पराजित करके अपने अधीन कर लिया।

इसी प्रकार सरदार हिम्मतख़ां को घेर कर पराजित किया। आख़िरकार सन् १६९७ ई० में फिर घेरा डाला गया; और जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है, राजाराम के कुशल-समेत निकल जाने के बाद जनवरी सन् १६९८ ई० में क़िले पर बादशाह का अधिकार हो गया। राजाराम शीघ्र ही सतारा में रामचन्द्रपन्त से जा मिला। परसोजी भोंसले, हैबतराव निम्बालकर, नेमाजी शिन्दे, आठवले, और शमशेर-बहादुर इत्यादि समस्त सरदार एक एक करके अपने देश में वापस आ गये। यद्यपि उस समय धनाजी जाधव दक्षिण में मराठों के अधिकृत स्थानों की रक्षा करने के लिए था, परन्तु लड़ाई का रुख कर्नाटक और द्राविड़ी देश से हट कर दक्षिण की ओर फिर गया था। समुद्री किनारों के क़िले मराठों के पक्षपाती बने रहे; और कान्हाजी आंगरे की अधीनता में मराठे बराबर ट्रावनकोर से बम्बई तक के किनारों पर लूट-मार करते और समुद्र का बहुत सा सामान अपने कब्ज़े में लेते रहे। सावन्त लोग भी राजभक्ति से नहीं डिगे।

सन् १६९९ ई० में राजाराम अपनी तमाम फ़ौज के साथ खानदेश, गङ्गथड़ी, बरार और बागलान में दाखिल हुआ; और उन भागों में चौथ और सरदेशमुखी का कर नियत किया। सतारा वापस आने पर उसने अपने चार सरदारों को, अर्थात् दाभाड़े को बागलान में, शिन्दे को खानदेश में, भोंसले को बरार में और निम्बालकर को गङ्गथड़ी में स्थायी तौर पर नियत किया।

सन् १७०० ई० में औरङ्गज़ेब ने उन समस्त क़िलों को, जो मराठों के लिए उपयोगी सिद्ध हुए थे, बरबाद करने का निश्चय किया। इस काम के लिए एक दस्ता फ़ौज अलग करके अपनी अधीनता में रक्खा; और ज़ुलफ़िकारखां को राजाराम की फ़ौज़ से मैदान में दो दो हाथ करने की आज्ञा दी। एक-एक करके क़िले विजय किये गये; और अन्त में उसने सतारा पर घेरा डाल दिया। यद्यपि प्रयागजी प्रभू ने चिरकाल तक बड़ी ख़ूबी के साथ क़िले की रक्षा की, किन्तु अन्त में मुग़ल सम्राट ने उसको जीत ही लिया। इसी समय राजाराम सिंहगढ़ में मर गया; और चूंकि शाहू उस वक़्त मुग़लों की ही क़ैद में था, इसलिये उसके दस वर्ष के बालक को गद्दी पर बैठा कर रामचन्द्रपन्त पूर्व की तरह कार्य संचालित करता रहा। धनाजी को कर्नाटक से वापस बुला लिया गया; और रामचन्द्रपंत तथा धनाजी के अनुशासन में मराठे सरदार, बड़े जोश के साथ, समस्त देश से चौथ, सरदेशमुखी और घास-दाना वसूल करते हुए लड़ते रहे। दूसरी ओर औरङ्गज़ेब ने भी अपना कार्य जारी रक्खा; और आगामी चार वर्ष तक एक के बाद दूसरा क़िला विजय

करता रहा। यह एक प्रकार का विचित्र परिवर्तन था। क़िलों से निकाले जाने पर मराठे खानदेश, बरार और गुजरात के मैदानों पर आक्रमण करते हुए फैलते चले गये, बल्कि एक दल ने नर्मदा को पार कर के मालवा पर डेरा-डण्डा जमा दिया। अन्त में सन् १७०५ ई० में औरङ्गज़ेब के सैनिक और मुल्की मंत्रियों ने मराठों से सुलह करने की सम्मति दी और औरङ्गज़ेब को यहां तक राज़ी कर लिया कि उसने मराठों के दक्षिण के छै सूबों में सरदेशमुखी वसूल करने की आज्ञा इस शर्त पर दे दी कि वे उन समस्त सूबों में शान्ति रखने के जिम्मेदार हों। उसने शाहू के साथ उच्च मराठा, शिन्दे और जाधव, घराने की दो लड़कियों से, जिनके पिता बादशाही नौकरी में थे, विवाह करने का प्रबन्ध करा दिया; और अक्कलकोट, इन्दापुर-निवासें तथा बारामती नामक जागीरें को दहेज में दिया। चूंकि मराठों ने इससे भी अधिक लेने की इच्छा प्रकट की, इसलिए यह समस्त बातें व्यर्थ सिद्ध हुईं। मुग़लों की ओर से लड़ाई सुस्त पड़ गई और मराठों ने पिमला को पुनर्वार विजय करके अपने राजा शिवाजी और उसकी मां ताराबाई का निवासस्थान बना दिया। पावनगढ़, वसन्तगढ़, सिंहगढ़ और रायगढ़ तथा सतारा पर दुबारा कब्ज़ा कर लिया और तत्पश्चात् धनाजी ने पूना और चाकन को सन् १७०७ ई० में वापस ले लिया। इस तरह औरङ्गज़ेब ने अपनी समस्त चेष्टाओं में असफल होकर शाहू से एक पत्र, मराठों के राजा की हैसियत से, मराठा सरदारों के नाम लिखवाया। इसमें बादशाह से सुलह करने की शिक्षा दी गई थी। यह औरङ्गज़ेब की अन्तिम चेष्टा थी; और यह भी व्यर्थ सिद्ध हुई।

औरङ्गज़ेब के जीवन में शाहू की स्वतंत्रता के लिए कुछ भी न किया गया। सन्धि की लालसा, और शाहू का उसकी इच्छा से पत्र लिखना, दोनों इस बात के प्रमाण हैं कि औरङ्गज़ेब इस बीस वर्ष के युद्ध को, जहां तक मराठों का इससे सम्बन्ध था, अपनी ही भूल का कारण समझता था। उसकी शानदार फौज अयोग्य प्रमाणित हुई; अथवा मारी गई। उसका ख़ेमा तक लूटा गया और वह स्वयम् क़ैद हो जाने के डर से भयभीत रहता था। जब औरङ्गज़ेब अहमदनगर में मरने लगा, तो उस समय उसने अपने जीवन की असफलता पर जो पश्चात्ताप किया, वह निष्कारण नहीं था। बेचारा औरङ्गज़ेब उस समय उदासहृदय अपनी समस्त आशाओं तथा अभिलाषाओं की समाप्ति पर शोच करता हुआ काल का ग्रास हुआ।

औरङ्गज़ेब की मृत्यु के कुछ समय पश्चात् उसके लड़के आज़िमशाह ने, ज़ुलफ़िकारख़ां की सम्मति से, शाहू को इस शर्त पर स्वतंत्र किया कि अगर मराठा उसको अपना राजा स्वीकार कर लेवें तो उसके पितामह शिवाजी का स्वराज्य, अर्थात् सुलतान-बीजापुर से फ़तह किया हुआ देश, उसको दे दिया जावेगा। इसके अतिरिक्त भीमा तथा गोदावरी के बीच की जागीर दे दी जावेगी। मराठा सरदारों ने शाहू को राजा स्वीकार किया; और सन् १७०८ ई० में सतारा में उसको राजतिलक किया गया। बस, उस समय से कुछ वर्षों के भीतर ही, समस्त मराठों के पुराने अधिकृत स्थानों पर, कोल्हापुर ज़िले को छोड़ कर, जो राजाराम की सन्तान के अधीन था, शाहू का अधिकार हो गया। दक्षिण के मुग़ल शासक ने छै सूबों में शाहू की चौथ और सरदेशमुखी वसूल

करने के हक़ को मान लिया और दस वर्ष के भीतर ही भीतर बालाजी विश्वनाथ पेशवा और खण्डेराव दाभाड़े ने चौथ और सरदेशमुखी एवम् स्वराज्य की नियमानुकूल सनद प्राप्त कर ली।

इस प्रकार बीस वर्ष का यह स्वाधीनता का युद्ध अन्त में बड़ी खुशी के साथ समाप्त हुआ। इन परिणामों पर दृष्टि डालते हुए यह मानना पड़ता है कि यह बीस वर्ष का समय मराठा इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यतीत हुआ। शिवाजी को साम्राज्य की समस्त सेना से कभी नहीं लड़ना पड़ा था। वास्तव में जब मुग़लों के सरदार जयसिंह ने शिवाजी पर बड़ा दबाव डाला, तो बड़े आत्मत्याग के साथ उन्होंने सम्राट् की अधीनता स्वीकार की, इसके अतिरिक्त उनको दक्षिण की दो मुसलमानी राज्यों की सहायता प्राप्त थी; और वे उनको मुग़लों के विरुद्ध लड़ा सकते थे। इन सब में एक बात और भी थी, और वह यह कि, वे अपने पहाड़ी क़िलों के भीतर ही रहते हुए लड़ा करते थे। इन सब बातों पर विचार करते हुए यह कहना पड़ता है कि वे मराठे देशभक्त, जिन्होंने स्वाधीनता के संग्राम को संचालन करने में सफलता दिखलाई, बहुत कम सुविधा रखते थे। उनका कोई भी, शिवाजी की तरह, ऐसा नेता न था जो अपने व्यक्तिगत वर्ताव और साहस से बहुत बड़ी अजेय शक्ति रखता हो। उनको सारी बादशाही फौज के साथ, जो स्वयम् सम्राट् औरङ्गज़ेब की ही अधीनता में थी, और जिसके लिए समस्त भारतवर्ष के साधन प्रस्तुत थे, लड़ना पड़ा। शम्भाजी की निर्दयता के कारण मराठों के अत्यंत उपयोगी सरदार मारे जा चुके थे; और समस्त क़िले बचाव की दृष्टि से निकम्मे थे। उनका राजा मुग़लों के हाथों

में क़ैद था; और उनको घर से निकल कर दूरस्थित स्थानों में शरण लेनी पड़ी थी। बिना कर, बिना फ़ौज, और बिना किसी प्रकार की आमदनी के साधनों के, इन्होंने फौज भरती करने का प्रबन्ध किया, क़िलों को वापस लिया और विजय प्राप्त करने की चेष्टाएँ कीं। फल यह हुआ कि इन्होंने, न केवल स्वराज्य ही प्राप्त किया, वरन् दक्षिण और कर्नाटक में चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार भी प्राप्त कर लिया। बहुत से लोग, जैसे राजाराम, प्रह्लाद नीराजी, सन्ताजी घोरपड़े इत्यादि, जिन्होंने इस युद्ध की नींव डाली थी, बीच ही में परलोकवासी हो गये थे; परन्तु उनके स्थान में दूसरे मनुष्यों ने वैसी ही निष्ठा और सफलता के साथ कार्य का सम्पादन किया। अगर औरंगज़ेब दक्षिण पर आक्रमण करके मराठों को इस युद्ध के लिए विवश न करता, तो सम्भव है कि एक साधारण सी रियासत पश्चिमीय महाराष्ट्र में तंजोर की तरह स्थापित हो जाती और मुग़ल सम्राट् उसके सरदार को अपने उमरावों में सम्मिलित करने में सफल हो जाता। शिवाजी की युद्धप्रियता का ज़ोर दूसरी ही पीढ़ी में ठंढा पड़ जाता और भिन्नता का भाव, जो इस क़दर ज़ोरों से है, अपना काम फिर आरम्भ कर देता और मराठा राष्ट्र की रचना बिलकुल असम्भव हो जाती।

इन समस्त सङ्कटों को दूर करने, और लोगों में एक नवीन शक्ति उत्पन्न करने का श्रेय औरंगज़ेब की महत्वाकांक्षा को ही देना चाहिये। उसने महाराष्ट्र के लोगों को खूब उत्तेजित किया। इस बीस वर्ष के युद्ध ने ही मराठों की राष्ट्रीयता और देशभक्ति को संगठित कर दिया; और उनकी आगामी

सन्तानों को भी भारतवर्ष के दूरस्थित स्थानों में विजेताओं के रूप में ले गया। इस लिए इस युद्ध ने शिवाजी के प्रारम्भिक प्रयत्नों और उनकी कारगुज़ारियों से भी बढ़ कर काम किया। केवल लुटेरे और डाकू ऐसे युद्ध में, इस प्रकार के शत्रु के विरुद्ध, कभी भी सफलता प्राप्त न कर सकते थे। यह उच्च कोटि की नैतिक शक्ति ही थी, जिससे उत्तम वर्ग के लोगों की शूर-वीरता, कष्टसहिष्णुता, शासनदक्षता, आशावादिता और आकांक्षाएँ दिन दूनी रात चौगुनी होती गईं। वह विश्वास-पात्रता, जिसमें बाल-बराबर भी अन्तर कभी नहीं आने पाया; वह उच्च आदर्श, जो समय, स्थान अथवा व्यक्तिगत स्वार्थों से मुक्त था, वह भ्रातृभाव, जो सार्वजनिक सङ्कट के समय उत्पन्न होता था; और वह आत्मत्याग का बल, सर्वसाधारण के हितों की आकांक्षा, तथा अन्तिम विजय की सच्ची कामना, इस लिए होती थी कि, यह एक स्वराज्य-स्थापना का धार्मिक कार्य्य था। इन्हीं सद्गुणों के कारण देश के शुभचिन्तकों ने अपने देश को ऐसे संकट से बचा लिया, जिसका भारतवर्ष में कोई दूसरी जाति मुक़ाबला न कर सकती। वह स्वतंत्रता का युद्ध क्या था—मानों उपर्युक्त सद्गुणों को सिखाने के लिये एक महाविद्यालय था, जिसमें कठोर, किन्तु उपादेय, शासन के साथ शिक्षा मिली। इस दृष्टि से मराठा-इतिहास में सदैव यह "स्वाधीनता का संग्राम" बड़े मार्के का समझा जावेगा।

दसवां परिच्छेद।

अशान्ति में शान्ति की स्थापना।

बीस वर्ष के स्वाधीनता के युद्ध की समाप्ति पर, जैसा पिछले परिच्छेद में वर्णन किया गया है, शाहू को स्वतंत्रता मिली और वह मराठों के माननीय नेता की हैसियत से, अपने दादा शिवाजी की प्रतिज्ञा, जो महाराष्ट्र को संगठित करने की थी, पूरी करने के लिए दक्षिण में वापस आया। यद्यपि जिस उद्देश्य से यह युद्ध मुग़ल सेना के विरुद्ध छेड़ा गया था, वह सिद्ध हो गया। परन्तु भिन्न भिन्न दलों के मुखिया, जिनमें से प्रत्येक स्वयं ही लड़ने को तैयार हुआ था, अपनी अपनी स्वतंत्रता को हाथ से खोना नहीं चाहते थे। इसलिए देश में उस समय एक प्रकार की गड़बड़ी मच गई थी और लगातार कई वर्षों तक शान्ति को स्थापित रखना असम्भव मालूम पड़ता था। औरङ्ग़ज़ेब की मृत्यु के अनन्तर मराठों का सङ्गठित रूप में काम करने का विचार भी जाता रहा था; और बादशाही फ़ौज की विश्रृङ्खलता ने स्वाधीनता के पश्चात् मराठा देशभक्तों की एकता को दूर कर दिया था। ऐसा मालूम होता है कि मुग़ल सम्राट् के मंत्रियों ने मराठा सरदारों में शान्ति और सुशासन के नाम पर फूट पैदा करने के लिए शाहू को स्वतंत्र किया था। शाहू के लौटने पर इन दलबन्द नेताओं ने, जो राजाराम के साथ काम कर चुके थे;

और ताराबाई तथा उसके पुत्र के पक्षपाती थे, उसको अच्छी दृष्टि से न देखा। पन्त-सचिव और पन्त-अमात्य शाहू से विरुद्ध रहे। अकेला सरदार धनाजी जादव, जिसको शाहू के प्रतिरोध के लिए रवाना किया था, परन्तु जो उसके स्वत्व को न्यायोचित समझ कर उसके पक्ष में गया, उसका सहायक था। धनाजी के प्रतियोगी सन्ताजी घोरपड़े को म्हसवड़ के माने देशमुख ने मार डाला था और उसके तीन पुत्र कर्नाटक में मुग़लों के विरुद्ध अपने हित के लिए लड़ाई कर रहे थे। शाहू के अधिकार पाने के बाद धनाजी जादव की शीघ्र ही मृत्यु हो गई और उसका लड़का चन्द्रसेन जादव दुराग्रही होने के कारण उन उच्च विचारों से वंचित था, जिनके कारण उसका पिता इस स्वाधीनता के संग्राम में नेता के पद पर पहुँच गया था। एक बार शिकार खेलते समय उसने भावी पेशवा बालाजी विश्वनाथ से किसी क्षुद्र कारण पर वैर करके अपने स्वामी की नौकरी को छोड़ दिया। और प्रथमतः कोल्हापुर तदनन्तर हैदराबाद के निज़ाम का पूर्णतया सेवक होगया। इस तरह उसकी सेवाओं से राष्ट्र को कुछ लाभ न पहुँचा। दूसरे सरदारों में से खण्डेराव दाभाड़े तो खानदेश में गुजरात पर आक्रमण करने की तैयारियां कर रहा था। नेमाजी शिन्दे, जो राजाराम के खास मातहतों में से था, मालूम होता है कि बाद में मुग़लों से जा मिला था। परसोजी भोंसला, दाभाड़े की तरह बरार और गोंड़वाना में भाग्य की परीक्षा कर रहा था। परन्तु, हां, दाभाड़े और भोंसले ने, अपनी स्वतंत्रता को न छोड़ते हुए भी, ताराबाई के मुक़ाबले पर शाहू का पक्ष लिया। हैबतराव निम्बालकर,

जो गंगथड़ी में विशेषतया अपना प्रभाव जमा चुका था, कभी इधर और कभी उधर हो जाता था। वह अपने पद से अलग किये जाने के थोड़े ही दिन बाद निज़ाम से जा मिला। इस तरह प्रथम श्रेणी के मराठे सरदार शाहू, ताराबाई और निज़ाम की सेवा में बँट गये थे। दूसरी श्रेणी के सरदारों में कान्होजी आङ्ग्रे, ताराबाई का पक्षपाती रहा और कोंकण पर अधिकार जमाये रक्खा। थोरात, चवान और आठवले अपने लिए अलग ही स्वतंत्र रियासतें बना रहे थे। इनमें से पहिले दो तो जिस समय शाहू ने अपने दादा के सिंहासन को सुशोभित किया, उस समय अत्यन्त दुखदायी सिद्ध हुए। इन्होंने प्रत्येक ओर लूटमार शुरू कर दी और शाहू की सरकार को तङ्ग करने के लिए स्वयं ही चौथ, सरदेशमुखी और घासदाना वसूल करना आरम्भ कर दिया। एक ब्राह्मण लुटेरे को मुग़ल सूबेदार ने राजा का पद दे दिया था। उसने खटाव नामक स्थान में, जो सतारा से २० मील की दूरी पर था, अपना निवासस्थान बनाया: और इस तरह शाहू के शासन को केवल राजधानी और कुछ पहाड़ी किलों में ही, जो कि उसके सेनाध्यक्षों के अधीन थे, परिमित कर दिया था।

शाहू के मंत्रियों को, उसके सिंहासनारूढ़ होने के समय, उपर्युक्त स्थिति का सामना करना पड़ा। उस युद्ध के चिन्ह, जिसकी समाप्ति पूरी सफलता के साथ हुई, पश्चात्कालीन गड़बड़ी और अशान्ति में भी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते थे। पहले का बल और शक्ति तो अब भी ज्यों की त्यों मौजूद थी, परन्तु वह सार्वजनिक कार्य कराने की जीवनी-शक्ति, जिसने कि युद्ध के समय सबको ऐक्य-सूत्र में बांध

रक्खा था, लोगों में से जाती रही थी। शाहू के जीवन का सर्वोत्कृष्ट भाग क़ैदी की दशा में व्यतीत हुआ था। और यद्यपि पीछे से उसकी क़ैद उतनी कष्टदायक नहीं था, परन्तु उसने मुसलमान सरदारों की, जिनके बीच में वह सयाना हुआ था, विलास-प्रियता को अङ्गीकृत कर लिया था। उसको यह आशा न थी कि वह अपने पूर्वजों की भांति मुग़लों की उपेक्षा करते रहने में सफलमनोरथ हो सकेगा। अतएव वह मुग़ल साम्राज्य के रईसों में गणना होने की शर्त पर सन्धि करने को राज़ी था। उसमें शूरवीरता एवम् हृदय और मस्तिष्क की ख़ूबियां बहुत सी थीं, परन्तु अपने पिता और पितामह की भांति सङ्गठन करने की शक्ति और कार्य में लगे रहने का बल, जिसके बिना अशान्ति की दशा में शान्ति स्थापन करना असम्भव था, उसके अन्दर न था। मुग़ल शासक कुछ पहाड़ी क़िलों को छोड़ कर समस्त दक्षिण पर शासन करते थे और उनकी सेना, यद्यपि वह शक्तिहीन थी, परन्तु मैदान में फिर भी सामना करने के लिए आ सकती थी। इस दशा में स्वाभाविक, अथवा बाहरी साधनों से भी, शाहू स्वयम् इस योग्य न था कि अपनी चेष्टा से काम करने का कोई उपाय निकाल सकता; और न कोई उसके सेनाध्यक्षों ही में ऐसा दूरदर्शी था कि जो उस समय उसके लिए उपयोगी सिद्ध होता। पहले कुछ वर्षों तक तो यही मालूम पड़ता था कि ज़ुलफ़िक़ारख़ां की चेष्टाएं ही सफल होंगी। मराठा लोग फूट, ईर्ष्या और अनेकानेक भ्रान्तियों के कारण संगठित रूप में कोई प्रयत्न ही न कर सकते थे। यह अवसर, जो हाथ लग चुका था, अगर कुछ विशाल बुद्धि के महान् पुरुष आगे

न बढ़ते, तो व्यर्थ ही जाता रहता। परन्तु शाहू के भाग्य से उसके सिंहासनारूढ़ होने के आरम्भिक काल में ही उस ओर लोगों का ध्यान जाने लगा था। उस समय केवल साहस और बल की ही आवश्यकता न थी; क्योंकि वह काफ़ी से ज़्यादा मौजूद था। उस समय तो उस संगठन की आवश्यकता थी, जो लोगों को प्रचण्ड देशभक्ति से प्रेरित करके अनैक्य दूर रखता; और सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत स्वार्थों से दूर कर उन उद्देश्यों की ओर ले जाता, जिनको पचास वर्ष पूर्व शिवाजी ने कार्य में परिणत कर आगामी सन्तानों को वसीयत के तौर पर छोड़ रखा था। उन लोगों में, जो उस समय आगे बढ़े थे, बालाजी विश्वनाथ ने सर्वसम्मति से अपने लिए वह स्थान प्राप्त किया। उसके अन्दर वे समस्त गुण मौजूद थे, जिनकी उस समय महाराष्ट्र को आवश्यकता थी। उसको आबाजी पुरन्दरे ने, जो पुरन्दरे वंश का अधिष्ठाता था, धनाजी पन्त की सेवा में अपनी तरह कारकुन नियत करा दिया था। यही दोनों धनाजी जाधव के प्रबंध-सम्बन्धी कार्यों के मुख्य मंत्री थे। इनमें एक देशस्थ और दूसरा कोंकणस्थ ब्राह्मण था। दक्षिण के ब्राह्मणों ने पूर्व ही से शिवाजी के राज्य और बल को संगठित करने में विशेष भाग लिया था; और हनमन्ते, पिंगले, आबाजी सोनदेव तथा प्रह्लाद नीराजी इत्यादि ने रणक्षेत्र में बड़ी योग्यता प्रदर्शित की थी। मराठा राज्य के आरम्भिक साठ वर्षों में कोंकण के ब्राह्मणों ने कोई बड़ा कार्य न किया था; परन्तु इस समय बुद्धि और चतुरता दिखलाने का सुअवसर देख कर उनमें से कुछ योग्य पुरुष, देशसेवा के निमित्त, अपनी भाग्य की परीक्षा के लिए आगे

बढ़े। इन लोगों में एक बालाजी विश्वनाथ और दूसरा उसका एक मित्र, भानुवंश का अधिष्ठाता, था। यह जंजीरे के सिद्दियों के उपद्रवों से तङ्ग आकर अपना देश छोड़ कर भाग निकला था। जब ताराबाई ने शाहू को दक्षिण में आने से रोकने के लिए धनाजी जाधव को रवाना किया, तब बालाजी विश्वनाथ और आबाजी पुरन्दरे अपने स्वामी के साथ थे। धनाजी ने मरने के पूर्व ही अपने दोनों विश्वस्त मंत्रियों की सिफारश अपने नये स्वामी शाहू से कर दी थी; और बालाजी ने अपने आप को शाहू के लिए अत्यंत उपयोगी मंत्री सिद्ध किया। फलतः वह थोड़े ही समय में महामंत्री हो गया। तत्पश्चात् जब पुराना पेशवा बहिरोपन्त पिंगले अपने स्वामी को संतुष्ट न रख सका, तो उसके स्थान में बालाजी पेशवा नियत किया गया। यही वह व्यक्ति है, जिसने अपनी चतुरता और देशभक्ति से उस कार्य को पूरा किया, जो उसके बिना असम्भव था। प्रथम तो बालाजी विश्वनाथ ने जनता में शान्ति स्थापित करने की चेष्टा की और लुटेरे तथा उच्छृङ्खल व्यक्तियों का, जो उस समय बहुत अधिक बढ़ गये थे, एवम् देश के लिए बड़े दुखदायी थे, दमन किया। खटाव के ब्राह्मण डाकू को, परशुराम त्र्यंबक के पुत्र ने, जो शाहू का नया प्रतिनिधि था, पराजित किया। उस समय ताराबाई के पक्षपाती, पुराने सचिव शङ्कराजी की मृत्यु हो गयी थी; और नाबालिग सचिव की माता, जो उस समय सारा कारबार देखती थी, उसको बालाजी विश्वनाथ ने उस सेना में भाग लेने को तैयार कर लिया, जिसको वह देश की रक्षा के लिए संगठित कर रहा था। थोरात नामक डाकुओं के सरदार पर बालाजी

विश्वनाथ ने स्वयम् आक्रमण किया; लेकिन अभाग्यवश वह क़ैद होगया और शाहू ने रुपया देकर उसको छुड़ाया। इसके बाद सचिव की सेना को थोरात के मुक़ाबले रवाना किया गया, मगर उसने भी हार खाई। किन्तु अन्त में बालाजी, लुटेरे को पराजित करने में सफल हो ही गया; और उसका क़िला विध्वंस कर दिया। चवान सरदार को कुछ सुविधा देकर मिला लिया। कान्होजी आङ्गरे से पुराने पेशवा बहिरो पन्त ने कुछ लिखा-पढ़ी की थी; परन्तु उसका कुछ उपयोग न हुआ; इसलिए बालाजी को उस काम में सफलता प्राप्त करने के निमित्त जाना पड़ा। उसने देशभक्ति के नाम पर प्रभावशाली भाषण करके आङ्गरे को ताराबाई के पक्ष से अलग किया। इसी समय के लगभग कोल्हापुर का राजा भी मर गया; और राजाराम की छोटी स्त्री के नाबालिग लड़के को राज्य-सिंहासन पर बैठाया गया। यह परिवर्तन बिना क्रांति के कार्य में परिणित न हुआ; और पुराने पन्त-अमात्य रामचन्द्र पन्त ने ताराबाई को राज्य से अलग करके क़ैद कर दिया। इन समस्त बातों में शाहू ने अपने मंत्रियों की सम्मतियों को, विशेषतया बालाजी और उसके सहकारी लोगों की सम्मतियों को, बहुत कुछ उपयोगी पाया। क्रमशः राष्ट्र में शान्ति ही स्थापित होती गई।

इस प्रकार छोटी छोटी कठिनाइयों को दूर करने के पश्चात् बालाजी ने अपने स्वामी शाहू के साथ बड़े बड़े मराठा सरदारों से सम्बन्ध स्थापित करने के उपाय रचे। युद्ध अथवा चतुरता से वे अधीन न हो सकते थे। अतएव उनके सामने वे तजवीज़ें रक्खी गईं, जो उनके उच्च भावों को

प्रदीप्त करनेवाली थीं। उनको समझा दिया गया कि तुम्हारा सब का हित एक मराठा-मंडल की संगठित-स्थापना में ही है। उनसे कहा गया कि अगर तुम संगठित रहोगे, तो बड़े शक्तिशाली होगे; परन्तु अगर तुम अपने साथियों से अलग हो गये, तो नष्ट हो जाओगे। सचमुच ही उन मराठे सरदारों की देशभक्ति प्रशंसनीय है कि उन्होंने उक्त कथन को स्वीकार किया। निस्संदेह, चंद्रसेन, यादवराव और निम्बालकर तो मुग़लों से मेल करके इस मंडल से अलग हो गये थे; परन्तु खण्डेराव दाभाड़े, उदाजीराव पवार, परसोजी भोंसले और अन्य नेताओं ने शाहू का साथ दिया। इन पर उपर्युक्त कथन का ख़ासा प्रभाव पड़ा। और भी ऐसे उपाय सोचे गये कि जिनके कारण, सिर्फ़ ये ही नहीं, वरन् पन्तसचिव और पन्तप्रतिनिधि, जो प्राचीन अष्टप्रधान-समिति के सदस्य थे, उनको भी यही बात ठीक मालूम पड़ी कि सर्वसाधारण के मेल से ही उनका हित है। खण्डेराव दाभाड़े को, उसकी उन सेनाओं के निमित्त, जो उसने बीस वर्ष के युद्ध और शाहू के आरम्भिक शासनकाल में की थीं, सेनापति बनाया गया। इसी प्रकार परसोजी भोंसले को "सेना-साहब-सूबा" बनाया गया। जो स्थान इन नेताओं ने खानदेश और बरार में प्राप्त किये थे, वे उन्हीं को दे दिये गये, और भविष्य के लिए पश्चिम में गुजरात और पूर्व में गोंड़वाना तक बढ़ने की आज्ञा दे दी गई। इसी प्रकार उदाजी पवार को मालवा में अधिष्ठित किया गया। इन नेताओं से वादा किया गया था कि अगर वे केन्द्रित राज्य से मिल कर कार्य करेंगे, तो उनको शीघ्र ही दिल्ली के सम्राट् से, उनके इच्छानुसार, नियमानुकूल

फरमान मिल जायगा। अक्कलकोट के फतहसिंह भोंसले को कर्नाटक विजय करने के लिए शाहू की फ़ौज का सरदार नियत किया था। दो प्रतिनिधियों, (जिनमें से पिता ने युद्ध के समय और पुत्र ने कोल्हापुर के झगड़े के मौक़े पर सेवाएं की थीं) खटाव महाराज, और कोंकण के सिदियों को राजा की पुरानी रियासत पर, जो कि वरना और नीरा नदी के बीच थी, शासक नियत किया गया। कान्होजी आङ्ग्रे को मराठा राज्य की सेवाओं के बदले जहाजी बेड़े के मुख्याध्यक्ष का पद दिया गया: और कोंकण के क़िले पहले की भांति उसी के अधिकार में रखे गये। इसी प्रकार गोविन्दराव चिटनीस को, जिसने युद्ध के समय बड़ी सेवा की थी, एक बड़े फ़ौजी पद पर प्रतिष्ठित किया गया। इस भांति बड़े बड़े सरदारों को सत्ता और अधिकार दिये गये; और बालाजी स्वयं अपने को, शाहू के मुल्की कामों का मंत्री, और राजा के स्वत्वों को स्थिर रखनेवाला, खानदेश तथा बालाघाट की फ़ौज का अफ़सर बनाकर ही सन्तुष्ट रह गया। इसमें न तो उसे किसी विशेष प्रकार का अधिकार ही था और न कुछ आमदनी ही थी। यह एक ख़ास बात है कि इस तरह का उसने स्वार्थत्याग किया; और इस आत्मोत्सर्ग के कारण ही उसने बड़े बड़े नेताओं को ऐक्य-सूत्र में बांधने की नीति में बहुत कुछ सफलता प्राप्त की। इन देशभक्ति-गर्भित उपायों का फल अवश्य ही यह हुआ कि बालाजी ने, शाहू की नौकरी में प्रवेश करने के दस वर्ष के भीतर ही भीतर, राष्ट्र को संयुक्त कर दिया; और फूट के समस्त कारणों को, जो कि मराठा राज्य को नष्ट करते हुए दिखाई देते थे, दूर कर दिया। इस

लिए अगर मुग़ल सूबेदार और देहली के मंत्रियों ने, जो अपने अपने स्वार्थों के लिए लड़ते थे, राजा शाहू का सम्मान करना आरम्भ किया; और कुछ ही समय पश्चात् देहली से असन्तुष्ट होकर प्रत्येक व्यक्ति ने अपने स्वार्थों के लिए शाहू से सहायता की याचना की, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

मराठों की इस उन्नति ने देश के प्रबन्ध-सम्बन्धी बहुत से नियमों में, जो शिवाजी ने अपने सिंहासनारूढ़ होने के समय प्रचलित किये थे, परिवर्तन कर दिया था। अष्ट-प्रधान-समिति की मुख्य मुख्य बातों का वर्णन पिछले एक अध्याय में कर ही चुके हैं। शम्भाजी की अव्यवस्था और औरङ्गज़ेब की दक्षिण-विजय ने इस शासन-प्रणाली को हटा कर एक ओर कर दिया था। राजाराम ने जिंजी के क़िले के भीतर अपने दरबार में इसके स्थापित करने की चेष्टा की, परन्तु युद्ध के विपत्ति-काल में ऐसी समिति-द्वारा, प्राचीन ढंग पर, कार्य करने की आशा नहीं की जा सकती थी। समयानुकूल आवश्यकता तो यह थी कि राज्य का कार्य मज़बूत हाथों में रहे, चाहे फिर वह फ़ौजी हो अथवा मुल्की हो। जिंजी के आक्रमण के समय तो प्रह्लाद नीराजी मराठा फ़ौज की कौंसिल का संचालक था, किन्तु जब उसकी मृत्यु हो गई; और राजाराम दक्षिण को आया, तो वह युद्ध-सम्बन्धी चिन्ताओं से इतना दब गया था कि अष्ट-प्रधान-समिति वास्तव में युद्ध के उपरान्त नष्ट ही हो गई थी। जब शाहू सतारा में राजगद्दी पर बैठा, तो अष्ट-प्रधान-समिति को फिर नये सिरे से रचने की चेष्टा की गई थी, परन्तु स्थिति में हेर-फेर होने के कारण ऐसा करना उचित न था। निःसन्देह अष्ट-प्रधान-समिति की स्थापना,

शिवाजी की दूरदर्शिता का फल-स्वरूप थी, लेकिन यह सुसंगठित किसी केन्द्रित सरकार के ही अधीन रह सकती थी; और ऐसी सरकार के न होते हुए इसका प्राचीन ढङ्ग पर क़ायम रहना असम्भव था। शाहू में शिवाजी के गुणों की मात्रा भी कम थी, और न उस पर सर्वसाधारण का विश्वास ही था। इसके अतिरिक्त यह समिति एक छोटी सी परिमित सीमा की रियासत में ही भली भांति काम कर सकती थी। परन्तु अब इस युद्ध में मराठा लोग नर्मदा से लेकर कावेरी तक समस्त देश भर में फैल गये और उनके सरदारों ने देश के दूर-स्थित स्थानों में, जो चारों ओर मुग़ल शक्तियों से परिवेष्टित थे, अधिकार जमा लिया। ऐसी दशा में उक्त व्यवस्था यथेष्ट न थी। इसलिए स्वाभाविक ही अष्ट-प्रधान समिति नष्ट हो गई। बालाजी विश्वनाथ इस मामले को खूब समझता था: और उसने समयानुकूल ही कार्य किया। सतारे में शाहू के दरबार में तो प्रधानमंडल को बड़े बड़े रुतबे प्राप्त थे; लेकिन जब उन्हें दाभाड़े की सेना को खानदेश में और भोंसले की विजयों को बरार में सम्हालना पड़ा: तथा मराठों के मुल्क से बाहर मुग़लों से दक्षिण और पश्चिम में युद्ध जारी करना पड़ा, तब उनके हाथ में इन भिन्न भिन्न कामों के लिए कुछ भी बल न पाया गया। यों ही मराठों में भिन्नता का विचार बड़ा ज़बर्दस्त था: और बीस वर्ष के युद्ध ने उसको और भी अधिक बढ़ा दिया था, एवम् केन्द्रित राज्य की खूबियां कमज़ोर पड़ गई थीं, इसलिए बालाजी विश्वनाथ ने बाहरी शक्तियों का सामना करने के लिए, शिवाजी के सिद्धान्तों पर, मराठा सरदारों का एक संघ बनाना ही उचित समझा। परन्तु उनको

अपने अपने अधिकृत स्थानों में भीतरी शासन, और प्रबन्ध, करने के लिए एक दूसरे के समतुल्य और स्वतंत्र रहने दिया। यही एकमात्र उपाय था, जिससे उन बड़े बड़े सरदारों को, जिन्होंने सैकड़ों कोस की दूरी पर अपनी शक्ति और उत्तरदायित्व के बल पर रियासत स्थापित की थीं, अपने साथ मिलाये रक्खा जा सकता था। मराठों की असली भूमि तो चारों ओर से सावनूर हैदराबाद, गुजरात और मालवा के मुग़ल सूबेदारों से घिरी हुई थी; और पश्चिमी किनारे की ओर सिद्दी, पोर्चगीज़ और अंगरेज़ों ने घेर रखा था। ऐसी दशा में भिन्न भिन्न छावनियों को ऐक्य-सूत्र में बांधकर, और उनमें योग्य व्यक्तियों को केवल निरीक्षण ही के लिए छोड़ कर, शत्रुओं के सामने स्थित रहना सम्भव था। उसी दशा में सार्वजनिक हितकर कार्यों में वे एक दूसरे का हाथ बँटा सकते थे; और अपने भीतरी मामलातों की स्वतंत्रता को रखते हुए वे एक दूसरे का साथ देते भी थे। जहां तक पुरानी बातों से उनका सम्बन्ध था, वहां तक इसी तरह के मेल में उनकी कुशल थी। अस्तु। बालाजी विश्वनाथ तथा उसके साथियों ने इसी उपाय का अवलम्बन किया; और उन्होंने पुरानी अष्ट-प्रधान-समिति के बदले उपर्युक्त मराठा-मंडल को स्थापित किया। यही मंडल समस्त भारतवर्ष में आगामी एक शताब्दी तक सम्पूर्ण राजकीय कार्यों के सूत्र हिलाता रहा।

ये समस्त उपाय बड़ी खूबी के साथ सम्पादित किये गये। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि उक्त मंडल ने केवल तत्कालीन स्थिति में ही सफलता नहीं प्राप्त की, वरन् वह अत्यन्त कठिन अवसरों में, सौ वर्षों से भी अधिक समय तक, बुद्धिमत्ता के

साथ कार्य करता रहा। परिणाम यह हुआ कि इसके कारण मराठों के गुजरात, मालवा, बुंदेलखण्ड, उड़ीसा, गोड़वाना, नीमाड़ और तुङ्गभद्रा नदी तक कर्नाटक को विजय कर लिया। इसी कारण राजपूताने की समस्त रियासतों और देहली के दरबार में भी इनका सिक्का जम गया; और यही लोग राष्ट्र-हित की दृष्टि से बादशाहों को तख्त पर बैठाते और उतारते थे। इसी कारण मराठे पश्चिम में सिन्धु नदी के किनारे तक, उत्तर और पूर्व में अवध तथा बङ्गाल के नवाबों के राज्य से लेकर उड़ीसा तक और दक्षिण में निज़ाम हैदराबाद, सावनूर और कर्नाटक तक, एवम् तत्पश्चात हैदर और टीपू के राज्यों की सीमा तक विस्तृत हो रहे थे। इसी के भरोसे पर उन्होंने पुर्तगीज़ों को बसई से निकाल दिया और अङ्गरेज़ों से दो बराबर की लड़ाइयां लड़ी। इसके बल पर, मराठों ने पानीपत की गहरी हार खाकर भी, दिल्ली और उत्तरीय भारत में फिर से अपना शासन जमा लिया, और अगर सौ वर्ष की परीक्षा के बाद उसकी असफलता हुई तो उसका कारण यह है कि उस मंडल के सरदारों ने पुराने सिद्धान्तों पर दृष्टि रखने की अपेक्षा व्यक्तिगत लाभ को अपना आदर्श समझा। इस मंडल की जीवनीशक्ति तो इन सौ वर्षों की लड़ाइयों और विजयों की सफलता से प्रगट है। सचमुच ही पुरानी अष्टप्रधान-प्रणाली को ऐसी उत्तम सफलता इस समय न प्राप्त हो सकती थी।

वास्तव में, इस शक्ति में एक क्षीणता का बीज भी मौजूद था; और बालाजी विश्वनाथ तथा उसके सलाहकार और उनके उत्तराधिकारियों से बढ़ कर और कोई इस बात से

परिचित न था। अगर इस मंडल में सार्वजनिक प्राचीन विचार और देशभक्ति न होती तो यह बालू की भीति की भांति होता। बालाजी विश्वनाथ की बुद्धिमत्ता यह थी कि जहां उसने इस मंडल को बनाया था, वहां वह उसकी त्रुटियों को भी नहीं भूला था। चूंकि अष्ट-प्रधान-समिति तो स्थापित न हो सकती थी, इसलिए उसने उसके बदले अन्य प्रकार की ऐक्य-शृङ्खला तैयार की, जिससे उस अनिवार्य परिवर्त्तन-काल की त्रुटियां दूर की जासकें। इस नई नीति का मुख्य स्वरूप इस प्रकार था:—(१) शिवाजी की प्राचीन रीति-नीति और उनके पौत्र शाहू के व्यक्तिगत सम्मान के कारण उक्त मंडल स्थापित रहा और चालीस वर्ष तक बराबर, जबतक शाहू जीवित रहा, यह मंडल राज्य का मुखिया बना रहा। प्रत्येक सरदारउससे प्रेम और भक्ति के साथ बर्ताव करता रहा। बालाजी विश्वनाथ ने इस संघ के संगठित करनेवाले बन्धनों को दृढ़ किया। प्रत्येक मुल्की और फ़ौजी हाकिम को शाहू के नाम पर सनद दी जाती थी; और उसी की आज्ञा से सब प्रकार की पदवियां वितरण होती थीं। उसने सिक्का चलाया, प्रत्येक प्रकार की सन्धि उसी के नाम से होती थी; और प्रत्येक आक्रमण की उसको सूचना दी जाती थी। (२) शाहू की इस केन्द्रित-शक्ति के अतिरिक्त मंडल के सरदारों को आपस में जकड़ने वाली दूसरी बात यह थी कि, शाहू के प्रभाव में प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति परिमित रूप में रक्खी जाती थी, शाहू के मुक़ाबिले में किसी सरदार को भी न्यूनाधिक अधिकार न था। बालाजी के समय में पेशवा यद्यपि शाहू के नाम पर समस्त प्रबन्ध किया करता था, तथापि उसको बहुत ही

क्रम फौजी अधिकार प्राप्त थे। तत्पश्चात् जब दो पेशवाओं के समय में अन्य सरदारों से फ़ौजी अधिकारों को लेकर पेशवा की प्रभुता बढ़ाने का विचार पैदा हुआ, उस समय शाहू के ही बीच में पड़ने के कारण एक ओर पेशवा और दूसरी ओर पश्चिमी किनारे पर दाभाड़े तथा गायकवाड़, और नागपुर के भोंसले के बीच, बङ्गाल तथा गङ्गा की घाटियों की लड़ाइयों में, झगड़ा होने से रुक गया। इसके बाद जब सेंधिया और होलकर के आपसी झगड़े हुए, अथवा जब पेशवा, भोंसले और गायकवाड़ से मनोमालिन्य हुआ, उस समय भी इसी प्रकार की चेष्टायें काम में लाई गईं। दाभाड़े और उनके उत्तराधिकारी गायकवाड़, पेशवा और उनके सरदार सेंधिया और होलकर, तत्पश्चात् बुंदेले, विञ्चूरकर और पटवर्धन लोगों ने सौ वर्ष तक इसी अटल विश्वास पर बराबर काम किया कि समस्त शक्तियां मिलकर एक दूसरे के स्वत्वों की रक्षा करेंगी; और उनमें से किसी एक के बढ़ जाने से दूसरे की क्षति न हो सकेगी। मराठा-इतिहास के इस सौ वर्ष के समय में परस्पर सहयोग और एक दूसरे की प्रतिष्ठा को बनाये रखने का विचार ही एक महत्वपूर्ण बात है। भिन्न भिन्न सरदारों की समतुल्यता सनदों और सन्धि-पत्रों के द्वारा रक्खी जाती थी। जो सन्धि बालाजी बाजीराव के समय में दिल्ली के सम्राट् के साथ हुई थी, उसमें पेशवा के दो सहकारी कार्यकर्ता, ज़मानत के तौर पर, उसके दरबार में रहे थे; और उन्होंने सम्राट को यह विश्वास दिलाया था कि अगर उनके स्वामी ने प्रतिज्ञा भङ्ग की, तो वे उसका साथ छोड़ देवेंगे। इस प्रकार उस मंडल का मुख्य तात्पर्य यह था

कि उसके समस्त सरदारों के हितों की दृष्टि से सब की शक्तियों को परिमित रक्खा जावे। इसी कारण इतनी पीढ़ियों तक यह मराठा-मंडल बराबर बना रहा। (३) उपर्युक्त दोनों बातों के अतिरिक्त, कि जिन्होंने देशभक्ति और पारस्परिक मेल-मिलाप द्वारा मंडल की रक्षा की, बालाजी विश्वनाथ ने सरदारों के साम्पत्तिक लाभों को भी सार्वजनिक हितों के सम्पादन-कार्य से खूब जकड़ दिया था। जब दिल्ली के सम्राट् से दक्षिण में सरदेशमुखी और चौथ वसूल करने का अधिकार प्राप्त किया गया, तब तो यह निश्चय हुआ था कि राजा के उक्त कर वसूल करने का स्वत्व पेशवा और शाहू के अन्य दो मंत्रियों के हाथ में रहेगा। उस समय इस कार्य को इस सुचारु रूप से बांट दिया कि कोई भीतरी झगड़ा पैदा न हुआ। पेशवा, प्रतिनिधि और पन्तसचिव, ये तीनों अपने अधिकृत स्थानों के बाहर राजकीय कर वसूल करते थे। जब चौथ और सरदेशमुखी दक्षिणी राज्य से बाहर नियत की गई, तब भी कम से कम सिद्धान्तानुसार यही बात स्थिर रक्खी गई। राज्याधिकार इस तरह विभाजित किया गया कि सार्वजनिक हित में किसी प्रकार का धक्का नहीं लग सकता था। (४) बड़े बड़े सेनाध्यक्षों को स्वयं महाराष्ट्र में ही 'इनाम' और 'वतन' की भूमि मिलती थी, अतएव वे दूर-स्थित स्थानों में छावनी रखनेवाले सरदार, अपनी पैतृक जायदादों के कारण, बराबर विश्वासपात्र बने रहते थे। (५) इन साम्पत्तिक लाभों के अतिरिक्त सब पर एक प्रकार का आवश्यकीय कर्तव्य रक्खा जाता था। अर्थात् प्रत्येक सेनाध्यक्ष को देश के अपने भाग का हिसाब-किताब

सरकारी खजाने को भेजना पड़ता था। एक 'फड़नवीस' का दफ़्तर स्थापित किया गया था, जहां उन हिसाबों की जांच की जाती थी। (६) सदर खज़ाना और दफ़्तर के अतिरिक्त प्रत्येक मराठा फौज़ और क़िले में, प्रत्येक छोटे बड़े सरदार के साथ, कुछ ऐसे कर्मचारी नियत थे जो उन सरदारों के हिसाब-किताब का निरीक्षण करते थे; और अगर हिसाब में कुछ गड़बड़ होती थी तो आखिरी जांच के समय उसी को प्रधान सरकार के अधिकारियों के सामने उत्तरदाता होना पड़ता था। मतलब यह कि इस तरह प्रत्येक सरदार के साथ उसकी शिकायतों और त्रुटियों की रिपोर्ट करनेवाले कर्मचारी नियत थे। इन कर्मचारियों को 'दरकदार' कहते थे और बड़े सरदारों के साथ रहनेवालों को दीवान, मजूमदार, फड़नीस और क़िलों के छोटे मोटे सरदारों के साथ रहनेवालों को सबनीस, चिटनीस, जमीदार, कारखाननीस कहते थे। इनका काम सिर्फ़ जांच करना और हिसाब रखना होता था। प्रान्तीय सरदारों के हिसाब-किताब की जांच-पड़ताल का अधिकार इन्हीं को था; और प्रधान सरकार की आज्ञा के बिना वे पदच्युत नहीं किये जा सकते थे।

इन छै भिन्न भिन्न उपायों से बालाजी ने शाहू के स्थापित किये हुए नवीन मंडल के दोषों को दूर करने की चेष्टा की; और जब ये उपाय ठीक तौर पर कार्य में परिणत होगये तब प्रधान सरदार अपना सम्पूर्ण राज्य-प्रबन्ध भली भांति करने में समर्थ हुई। निःसन्देह इस प्रणाली में भी और कुप्रबंध के परमाणु मौजूद थे; परन्तु सौ वर्ष तक उनकी बखूबी रोक-थाम होती रही। हमारे इस कथन का समर्थन

मिस्टर माउन्ट स्टुअर्ट एलफिन्स्टन और उनके साथियों के इस विचार से होता है कि यद्यपि इस प्रणाली में विचार की दृष्टि से त्रुटियां बहुत कुछ थीं, परन्तु वास्तव में इस प्रणाली के ही कारण राज्य में सुख और शान्ति स्थापित रही तथा समस्त पड़ोसियों की दृष्टि में मराठा राज्य सम्मानित, प्रभावशाली और भयप्रद बना रहा। उपर्युक्त प्रतिबन्धक उपाय, जिनकी योजना उस समय की गई थी, उनसे यह भली भांति सिद्ध होता है कि प्रधान सरकार सर्वमान्य थी, क्योंकि इसके बिना वे इस प्रकार प्रयोग में नहीं लाये जा सकते थे। बालाजी विश्वनाथ के जीवन के अन्तिम वर्ष दिल्ली के सम्राट् से समस्त देश के लिए 'स्वराज्य' चौथ और सरदेशमुखी का अधिकार प्राप्त करने ही में व्यतीत हुए। क्योंकि इसी से मराठों को वह नियमानुकूल स्वत्व प्राप्त होगये थे कि जिनके बिना वास्तविक सत्ता और केवल धींगाधींगी की सत्ता में भेद नहीं किया जा सकता था। यह बालाजी विश्वनाथ की संगठनशक्ति और उसकी बुद्धिमता का सब से बढ़कर प्रमाण है। यद्यपि इस में अन्य कुछ लोगों की भी सहकारिता थी; परन्तु वास्तव में छत्रपति शिवाजी के बाद महाराष्ट्रशक्ति को संगठित करने का अधिकांश श्रेय बालाजी विश्वनाथ को ही प्राप्त है।

ग्यारहवां परिच्छेद ।

चौथ और सरदेशमुखी ।

पहले पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने अपनी दृढ़ बुद्धिमत्ता, अनुपम धैर्य और श्रेष्ठ चातुर्य के बल पर किस प्रकार उस अशान्ति के समय में शान्ति की स्थापना की, इसका वर्णन पिछले परिच्छेद में किया गया। अब हम यहां पर जो कुछ लिखना चाहते हैं, उसका बहुत कुछ अंश, उस महत्वपूर्ण परिवर्त्तन के विचार की दृष्टि से, पहले ही लिखा जा चुका है कि, जो शिवाजी की छोटी सी रियासत को विस्तृत करके बड़ी बड़ी रियासतों के रूप में परिणत किया गया; और सार्वजनिक रीतिनीति तथा सार्वजनिक हितों की वृद्धि विशेष रूप से की गई। शाहू के सिंहासनारूढ़ होने के बाद परिस्थिति में जो परिवर्तन हुआ, उसके कारण मराठे वीरों ने जो जो अधिकार मांगे, वे सब अब उनको न्यायानुकूल प्राप्त होगये; और इस सफलता का सम्पूर्ण श्रेय सम्पादन करके ही सन् १७२० ई० में बालाजी मृत्यु को प्राप्त हुए। प्राचीन मुसलमान शासकों के हाथों से निकल कर मराठा संघ के हाथ में राज्य का आ जाना एक ऐसी बात है जिसकी तुलना भारतवर्ष के इतिहास में बहुत कम मिलती है। हां, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मारक्विस आफ़ वेलेज़ली ने देशी रजवाड़ों से सहा-

यक सेना रखने की सन्धि करके भारत में ब्रिटिश कम्पनी की सार्वभौम प्रभुता को दृढ़ अवश्य बनाया। वेलेज़ली की यह प्रणाली, और कुछ नहीं, मराठों की उस प्रणाली का सुसंगठित अनुकरण मात्र थी कि जो उन्होंने सौ वर्ष पहले दिल्ली के बादशाह से चौथ और सरदेशमुखी के अधिकार प्राप्त करके जारी कर दी थी। अस्तु। चौथ और सरदेशमुखी के अधिकार का वास्तविक रूप, जिसको दिल्ली के सम्राट् ने सन् १७१९ ई० में स्वीकृत किया, उस समय तक ठीक ठीक समझ में नहीं आ सकता, जब तक ऐतिहासिक वृत्तान्त के रूप में संक्षेपतया यह न बतलाया जावेगा कि इस अधिकार का दावा मराठा राज्य के निर्माणकर्ता ने पचास वर्ष पूर्व अपने प्रारम्भिक काल में किस तरह उपस्थित किया था। वास्तव में यह दावा पहले पहल सन् १६५० ई० में पेश किया गया था। उस समय तक शिवाजी की रियासत उनकी पूना और सूपा वाली पैतृक जागीर और कुछ थोड़े से क़िलों के अतिरिक्त अधिक नहीं बढ़ी थी। शिवाजी की लालसा महाराष्ट्र में 'सरदेशमुखी' का 'वतन' वसूल करने की थी। यद्यपि उनका वंश उस समय भी दो पीढ़ियों से प्रतिष्ठित और शक्तिशाली गिना जाता था, तथापि उनके पितामह और पिता ने प्राचीन देशमुख घरानों से, जिनमें से कुछ के साथ उनकी रिश्तेदारी होचुकी थी—जैसे मलवाड़ी के घाटगे, फलटन के निम्बालकर, जत के डफले और सावन्तवाड़ी के भोंसले इत्यादि—बराबरी का दावा न किया था। ये देशमुख घराने आदिलशाही और निज़ामशाही राज्यों के स्थापित होने के समय से ही 'वतन' प्राप्त करने का अधिकार रखते थे।

देशमुख की हैसियत से देश में शान्ति स्थापित रखना और मालगुज़ारी वसूल करना इसका कर्तव्य था। इनको मालगुज़ारी में दस फ़ी सदी—जिसमें ५ फ़ी सदी नक़द रुपया अथवा गल्ला और ५ फ़ीसदी के भीतर की मज़रुआ ज़मीन—का भाग मिलता था। अतएव शिवाजी स्वाभाविक ही यह सरदेशमुखी का वतन प्राप्त करने के इच्छुक थे। सन् १६५० ई० में सम्राट शाहजहां से उन्होंने जुन्नर और अहमदनगर प्रान्त की सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार मांगा; और वहां के 'वतन' के लिए अपना पैतृक अधिकार सूचित किया। शिवाजी ने ५,००० सवारों को मुग़लों की नौकरी के लिए भेजा। परन्तु शाहजहां ने उस समय तक के लिए इस प्रार्थना को स्थगित कर दिया, जब तक शिवाजी स्वयम् दिल्ली में आकर इस मन्तव्य को पेश न करें। सन् १६५७ ई० में जब औरङ्गज़ेब अपने पिता के निरीक्षण में दक्षिण का शासक बना उस समय शिवाजी ने फिर अपना मन्तव्य उपस्थित किया। इस बार यह तय हुआ कि औरङ्गज़ेब अपने पिता से आज्ञा लेकर शिवाजी को फ़ौज भरती करने और दाभोल तथा अन्य किनारों पर की रियासतों को छीन लेने की आज्ञा दे; और औरङ्गज़ेब की अनुपस्थिति में, जब कि वह अपने भाइयों से युद्ध करने के लिए जावे, शिवाजी दक्षिण में शान्ति स्थापित रक्खें। रघुनाथपन्त और कृष्णाजी को राजदूत बना कर औरङ्गज़ेब के पास रवाना किया गया; और उनसे सरदेशमुखी की आज्ञा मांगने को कह दिया गया। औरङ्गज़ेब ने कोंकण विजय करने की आज्ञा तो दे दी थी; और सरदेशमुखी के लिए शिवाजी के विश्वस्त सलाहकार आबाजी सोनदेव के

दिल्ली आने पर, विचार करके, फैसला करने का वादा कर दिया था।

तीसरे अवसर पर इसका ज़िक्र हमको उस लिखा-पढ़ी में मिलता है जो कि सन् १६६६ ई० में शिवाजी और राजा जयसिंह के बीच पुरन्दर की सन्धि पर हुई थी, जिसके अनुसार शिवाजी अपने किलों को नज़र करने और अधीनता स्वीकार करने के लिए दिल्ली जाने पर राज़ी हो गये थे। इस सन्धि के समय शिवाजी ने प्रार्थना की थी कि निज़ामशाही राज्य का जो भाग विजय करके बीजापुर की रियासत में शामिल कर लिया है, उस पर निज़ामशाही राज्य के समय, जो हमारा पैतृक अधिकार था, उसकी सनद सम्राट की ओर से मिलनी चाहिए। इस सन्धि में सरदेशमुखी के अतिरिक्त प्रथम बार ही चौथ का भी उल्लेख मिलता है। चौथ का मतलब यह है कि कुछ ज़िलों में २५ फ़ी सदी मालगुज़ारी वसूल करने का अधिकार दिया जाय। चौथ और सरदेशमुखी के अधिकार पाने के बदले में शिवाजी ने सम्राट को चालीस लाख रुपया, तीन लाख सालाना की क़िश्त पर, अदा करने और अपने खर्च पर साम्राज्य की सेवा के लिए एक फ़ौज रखने की भी प्रतिज्ञा की थी। जब जयसिंह ने इस सन्धि की शर्तों को मंजूरी के लिए भेजा तब औरङ्गज़ेब ने सरदेशमुखी और चौथ के विषय में साफ़ साफ़ उत्तर नहीं दिया। हां, शिवाजी के दिल्ली जाकर 'पेशकश' भेट करने के समय इस विषय में निर्णय करने का वचन दिया। परन्तु दिल्ली जाने पर कुछ भी फल न हुआ वरन् जब मुग़ल सम्राट ने शिवाजी को क़ैद कर लिया तब उनकी समस्त आशाओं पर पानी फिर गया। तत्पश्चात् जब वे क़ैद

से भाग निकले और फिर युद्ध करने पर तैयार हो गये, तब औरङ्गज़ेब ने पश्चात्ताप किया, और सन् १६६७ ई० में बरार की जागीर के साथ उनको 'राजा' की पदवी दी; और उनके पुत्र शम्भाजी को 'मनसबदार' बनाया। जान पड़ता है कि बादशाह की यह स्वीकृति शिवाजी के पुराने दावों (चौथ और सरदेशमुखी) को पूरा करने के लिए थी; परन्तु ऐसी छोटी छोटी रियासतों से अब भला शिवाजी कब सन्तुष्ट होनेवाले थे—उन्होंने अपने दावे ज्यों के त्यों क़ायम रक्खे; और गोलकुण्डा तथा बीजापुर के सुलतानों पर चौथ एवं सरदेशमुखी नियत कर दी। सन् १६६८ ई० में बीजापुर के आदिलशाही राजा ने चौथ और सरदेशमुखी के लिए तीन लाख रुपया देना स्वीकार किया; और उसी समय के लगभग गोलकुंडा के शासक ने भी पांच लाख रुपया देना स्वीकार किया। सन् १६७१ ई० में मुग़लों के सूबे खानदेश से चौथ और सरदेशमुखी वसूल की गई; और सन् १६७४ ई० में कोंकण के अधिकृत स्थानों पर पुर्तगीज़ों ने भी चौथ और सरदेशमुखी देना स्वीकार कर लिया। इस 'कर' के बदले में, जो कि गोलकुंडा और बीजापुर के सुलतानों ने दिया, शिवाजी ने मुग़लों के आक्रमण पर उनकी रक्षा करना स्वीकार किया; और उस समय जो युद्ध होते रहे, उनमें शिवाजी की सहायता उक्त सुलतानों को अत्यन्त लाभजनक सिद्ध हुई। बेदनूर के राजा और सुन्द के शासक ने भी 'कर' देना स्वीकार किया। सन् १६७६ ई० में शिवाजी ने कर्नाटक पर चढ़ाई करके उस दूर-स्थित प्रान्त पर भी चौथ और सरदेशमुखी को जारी किया। इस तरह सन् १६८० ई० में, जब कि उनकी मृत्यु हुई, उसके

पहले ही शिवाजी ने दक्षिण के हिन्दू और मुसलमान शासकों की सम्मति से, उनकी रक्षा का भार अपने ऊपर लिया था; और कर लेकर सहायता और संरक्षा करने की पद्धति को जारी कर दिया था। कुछ मुगल सूबों से भी उन्होंने अपना हक़ वसूल किया था। सरदेशमुखी तो मालगुज़ारी वसूल करने की ज़िम्मेदारी पर पैतृक अधिकार के रूप में थी। किन्तु उसके पीछे 'चौथ' का स्वत्व उन राज्यों की सलाह से नियत किया गया, जिनको बाहरी आक्रमणों से सुरक्षित रखने की शर्त पर फ़ौज रखने के लिए एक निश्चित रूप में रुपया देना स्वीकार था। यही मुख्य सिद्धान्त था जिसके आधार पर शिवाजी ने काम करना आरम्भ किया; और जो आगे चलकर सवा सौ वर्ष के बाद मारकीस आव् वेलेज़ली के लिए बहुत ही लाभदायक सिद्ध हुआ।

जब स्वाधीनता का युद्ध समाप्त होगया; और मराठे सरदार कर्नाटक, गङ्गथड़ी, बरार, खानदेश और गुजरात तथा मालवा की सीमाओं पर जा डटे, तब उपर्युक्त पद्धति का विचार भी स्वाभाविक ही अधिक विस्तृत होगया; और जो लिखा-पढ़ी मुग़ल सूबेदारों से हुई, उसमें बालाजी विश्वनाथ और शाहू के अन्य मंत्रियों को सुधार की बहुत कुछ आवश्यकता मालूम हुई। युद्ध के दौरान में चौथ और सरदेशमुखी के विषय में बातचीत ही क्या हो सकती थी; और युद्ध की समाप्ति पर प्रथम तो स्वराज्य को प्राप्त करना, अर्थात् शाहू के लिए देश का वह भाग अपने अधिकार में लाना, जिस पर उनके पितामह शिवाजी रायगढ़ में राज्याभिषेक के समय सन् १६७४ ई० में अधिष्ठित थे, आवश्यक था। राजाराम की मृत्यु के बाद

औरङ्गज़ेब ने स्वराज्य के कुछ हिस्से पर शाहू का स्वत्व स्वीकार किया था और विवाह के समय दहेज के रूप में सूपा और इन्दापुर की पुरानी जागीर एवम् अक्कलकोट तथा नेवासा के महाल दे दिये थे। तत्पश्चात् औरङ्गज़ेब ने शाहू से, मराठे सरदारों के नाम, युद्ध को रोकने और सम्राट् की अधीनता स्वीकार करने के विषय में पत्र लिखवाये। शाहू के द्वारा इस कार्य का सम्पादन कराना इस बात का प्रमाण है कि वह शाहू को समस्त मराठे सरदारों का, जो मुग़लों के विरुद्ध उस समय युद्ध कर रहे थे, नायक मान चुका था। सन् १७०५ ई० में इस युद्ध का अन्त करने की इच्छा से औरङ्गज़ेब ने दक्षिण के छै सूबों में सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार समर्पित किया और इस पर मराठे सरदार एक काफी तादाद में सवारों को रख कर शान्ति स्थापित करने के लिए राज़ी हुए। यह पहला अवसर था जब कि औरङ्गज़ेब ने प्रत्यक्ष, नियमानुकूल रूप से, सरदेशमुखी को, जिसे शिवाजी ने ५० वर्ष पूर्व उपस्थित किया था, स्वीकार किया। किन्तु इस स्वीकृति से कुछ भी लाभ नहीं हुआ; क्योंकि मराठे सरदारों ने अपनी शर्तों को बढ़ा दिया; और परिणाम यह हुआ कि युद्ध जारी रहा। औरङ्गज़ेब की मृत्यु के अनन्तर, पारस्परिक कलह के कारण, उसके लड़कों ने शाहू को स्वतंत्र करके उनकी मातृभूमि में ही भेज देना उचित समझा; और उनसे कह दिया कि अगर दक्षिण में उन्होंने अधिकार प्राप्त कर लिया तो सम्राट का पुत्र आज़िमशाह और मुग़ल सेना का अध्यक्ष जुलफिकार खां—दोनों भीमा और गोदावरी के बीच का सम्पूर्ण इलाका, जिसको शिवाजी ने विजय कर लिया था, उनको अर्पित कर

देखेंगे। जब शाहू सतारा में गद्दी पर बैठे तो दक्षिण के मुग़ल सूबेदार दाऊदखां ने मराठे सरदारों से सन्धि कर ली; और उनको बहुत से सूबों में चौथ वसूल करने का अधिकार दे दिया। यह चौथ शाहू के ही आदमी वसूल करते थे। यह व्यवस्था सन् १७०८ ई० से लेकर सन् १७१३ ई० तक चार वर्ष जारी रही। इसके बाद दाऊदखां को अलग करके निज़ामुल-मुल्क को सूबेदार नियत किया। निज़ाम ने दाऊदखां के प्रबन्ध को तोड़ कर चौथ देना अस्वीकार किया। इससे फिर युद्ध छिड़ गया, जो सन् १७१५ तक होता रहा। अन्त में सन्धि हो गई; और शाहू को मुग़लों की तरफ से दसहजारी सरदार का पद दिया गया। निज़ाम को दक्षिण से बुलाकर उसके स्थान में एक सैयद को मुग़ल बादशाह ने सूबेदार नियत किया। इस सैयद सूबेदार ने अपना प्रभाव जमाने के लिए शङ्कराजी नामक एक अनुभवी महाराष्ट्र ब्राह्मण को, जो युद्ध के समय जिंजी के क़िले में बहुत बड़ा काम करके बनारस चला गया था, अपने यहां नौकर रक्खा; और शाहू के पास अपना वकील बना कर भेजा। उस समय एक ओर से शङ्कराजी और दूसरी ओर से बालाजी ने मिल कर यह निश्चित किया कि, 'स्वराज्य' शाहू को लौटा दिया जाय और छै सूबों की चौथ और सरदेशमुखी का अधिकार भी मराठों को रहे। कर्नाटक की पुरानी जागीर भी मराठों को वापस दी गई और नागपुर के भोंसले की बरार में विजय की हुई भूमि पर भी उनका अधिकार माना गया। शाहू ने सम्राट को दस लाख रुपये का पेशकश देने, और प्रत्येक ओर शान्ति रखने तथा पन्द्रह हज़ार ऐसे घुड़सवारों के रखने का वचन दिया जो

बादशाही सेवा के लिए सूबेदार, फ़ौजदार तथा अन्य शाही अधिकारियों के हुक्म पर तैयार रह सकते थे। उपर्युक्त सब शर्तों को बालाजी विश्वनाथ ने अपने स्वामी की ओर से उपस्थित किया; और शङ्कराजी के द्वारा सैयद सूबेदार तक पहुंचाया, सूबेदार उन पर राज़ी होगया। एक सन्धि-पत्र तैयार किया गया। उसमें सैयद ने एक यह शर्त रख दी कि देश का जो भाग उसके अधिकार में नहीं, वरन् मैसूर, त्रिचनापल्ली और तन्जोर के इलाके में है, उसको शाहू यदि चाहें तो अपनी फौज और खर्च से वापस ले लेवें। शाहू ने शीघ्र ही दस हज़ार सवार सैयद की फ़ौज में रवाना कर दिये। प्रसिद्ध मराठा सरदार सन्ताजी भोंसले, सेना साहब सूबा का एक रिश्तेदार, और ऊदाजी पवार तथा विश्वासराव आठवले इत्यादि बड़े बड़े सरदार इस फ़ौज के साथ गये। सैयद की स्वीकृत की हुई शर्तें बादशाह के पास भेजी गईं; परन्तु वहां वे मंजूर न हुईं; क्योंकि बादशाह सैयद की सम्मति पर कार्य करने को राज़ी न हुआ। इस पर सैयद ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया; और पन्द्रह हज़ार मराठा पलटन, जिसमें खण्डेराव दाभाड़े, बालाजी विश्वनाथ, महादजी भानु तथा अन्य मराठे सरदार थे, सैयद के साथ रवाना हुई। थोड़ी दूर पर एक हलकी सी लड़ाई होने के बाद, जिसमें सन्ताजी भोंसले और महाद जी भानु वीरगति को प्राप्त हुए, बादशाह मारा गया। उसके उत्तराधिकारी मुहम्मदशाह ने स्वराज्य, चौथ और सरदेशमुखी की तीन सनदें बालाजी विश्वनाथ को शाहू के नाम पर अर्पण कीं।

इस प्रकार लगातार पचहत्तर वर्षों तक लड़ने-झगड़ने के बाद जिस उद्देश्य से शिवाजी ने सन् १६५० ई० में अपने

स्वत्व उपस्थित किये थे, वह उद्देश्य शाहू के मंत्रियों ने सफल कर दिखलाया। स्वराज्य में अब केवल पुराना इलाका ही नहीं शामिल था, वरन् जितनी भूमि उस समय तक जीती जा चुकी थी, वह सब की सब उसके अन्तर्गत थी, भविष्य में उससे भी अधिक बढ़ने की गुंजायश थी। स्वराज्य की सनद में घाट के ऊपर के हिस्से, दक्षिण में हिरण्यकशी और उत्तर में इन्द्रायणी नदी के बीच का शिवाजी का जीता हुआ प्रदेश सतारा और कोल्हापुर तथा पूना के पश्चिमी मावल सम्मिलित थे। इसमें पूना, सूपा, बारामती, मावल, इन्दापुर, जुन्नार, वाई, सतारा, कराड़, खटाव, मांड, फलटन, तारला, मलकापुर, आजरें, पन्हाला और कोल्हापुर इत्यादि प्रान्त थे। पूर्व की ओर भीमा और नीरा नदी की घाटियों में बहुत कुछ इलाका था।

घाटों के नीचे स्वराज्य में उत्तरी और दक्षिण कोंकण, रामनगर, जवार, चौल, भिवंडी, कल्याण, राजापुर, दाभोल, राजापुरी, फोण्डा, उत्तरी कनाड़े का एक भाग, अकोला और कुडाल भी सम्मिलित थे। खास दक्षिण में शिवाजी ने, तञ्जौर और जिंजी से सम्बन्ध रखने के लिये गदग, हल्याल, बेलारी और कोपल प्रान्तों को अपने अधिकार में रक्खा था। उत्तर और पूर्व की ओर शिवाजी के अधिकृत स्थान सङ्गमनेर, बागलान, खानदेश और बरार थे। स्वराज्य का यह तङ्ग और ऊंचा-नीचा प्रदेश शाहू को दिया गया जिसमें खानदेश शामिल न था। परन्तु खानदेश के बदले भीमानदी की घाटी में पण्ढरपुर की ओर कुछ अंश बढ़ा दिया गया। वे छः सूबे, जिन पर चौथ का स्वत्व मराठों

को मिला था, बरार, खानदेश, औरङ्गाबाद, बेदर, हैदराबाद और बीजापुर थे। साम्राज्य के हिसाब में इन छै सूबों से अठारह करोड़ मालगुज़ारी वसूल होती थी, इसमें दसवां भाग सरदेशमुखी का और एक चतुर्थांश भाग चौथ का होता था। चूंकि इस कार्रवाई को छोड़कर देश में अन्य किसी प्रकार शान्ति स्थापित होना असम्भव था, इसीलिए बालाजी विश्वनाथ ने मुगल सम्राट पर इन स्वत्वों की स्वीकृति का दबाव डाला था। भिन्न भिन्न सरदारों ने दक्षिण के भिन्न भिन्न भागों में जो अधिकार कर लिया था, उसमें कुछ भी स्थायित्व न था। प्रत्येक नेता यह भली भांति जानता था कि प्राचीन और नवीन सम्बन्ध, अर्थात् मुगल सूबेदारों और फ़ौजदारों तथा अन्य मुल्की शासकों और मराठे सरदारों में पारस्परिक मेल रहना, सार्वजनिक हित के लिये अत्यन्त आवश्यक है। चौथ की सनद में यह शर्त थी कि शाहू को पन्द्रह हज़ार सवार बादशाहत की सेवा के लिए रखने पड़ेंगे। वे सवार भिन्न भिन्न ज़िलों में मुगल शासकों की अधीनता में रखे जायँगे। सरदेशमुखी की भांति चौथ का कर कोई 'वेतन' नहीं था, वरन् वह देश में शान्ति स्थापित रखने और बाहरी आक्रमणों को रोकने के लिए एक प्रकार का वेतन था। जो कुछ सनद में लिखा हुआ था उसके अनुसार यदि पूरा पूरा रुपया छै सूबों से वसूल होता तो साढ़े चार करोड़ की रकम मराठों को मिलती। परन्तु औरङ्गज़ेब के युद्धों और आक्रमणों से देश ऐसा बरबाद होरहा था कि वास्तव में पूरी रकम का एक चतुर्थांश भी न वसूल होता था। २५ फ़ीसदी चौथ इसी कारण से नियत की गई थी कि स्थानीय सरकार के शासन खर्च में उतनी रकम

खर्च ही हो जाती थी। यह चौथ वसूल करने का स्वत्व यद्यपि मराठे सरदारों को दे दिया गया था, तथापि दिल्ली के राज्य को इससे कोई हानि नहीं होती थी। क्योंकि पूरी आमदनी का ७५ फ़ी सदी भाग प्रधान सरकार के कोष में पहुँचही जाता था। परन्तु देश की अत्यन्त हीनावस्था के कारण सरदेशमुखी और चौथ ही समस्त आमदनी को डकार जाती थी। और बादशाही खजाने में केवल नाममात्र के लिए ही कुछ जाता था। यही कारण है कि चौथ और सरदेशमुखी की सनदों के होते हुए भी झगड़ा बना रहा। जहां मराठा फ़ौज काफी होती थी वहां मराठों की सरदेशमुखी और चौथ सख्ती से वसूल कर ली जाती थी; और तीन-चौथाई अंश मुग़ल शासकों के वसूल करने को शेष रह जाता था। अवश्य ही वे लोग उसके वसूल करने में असमर्थ रहा करते थे। इसलिए सम्पूर्ण सत्ता धीरे धीरे मराठों के ही हाथ में चली गई।

मराठों के हाथ में सम्पूर्ण सत्ता आगई, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु यह परिवर्तन भी कुछ कम कष्टदायक न हुआ। बादशाह ने सनदें तो दे दी थीं, किन्तु उसके सूबेदारों से अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कराना टेढ़ी खीर थी। निज़ामुल्मुल्क, जो सैयदों के पश्चात् दक्षिण का सूबेदार हुआ, इन रियायतों के देने में, जो उसके स्वामी ने दबाव से मराठों को दी थीं, राज़ी न था; इसलिए आगामी बीस वर्ष तक बराबर मराठे सरदारों को निज़ाम से झगड़ना पड़ा। इस सुदीर्घ झगड़े में बालाजी के पुत्र बाजीराव, (दूसरे पेशवा) ने बड़ा नाम पैदा किया। पहले तो निज़ाम कुछ राज़ी सा हो गया; और शाह की पाई हुई उक्त रियायतों को मंज़ूर कर लिया। परन्तु

सैयदों के पदच्युत होने के बाद निज़ाम ने कोल्हापुर के राजा को अपने हाथ में लिया; और उसका पक्ष लेकर शाहू के कर वसूल करनेवालों को रोकने की चेष्टा की। परन्तु इस विरोध को भी दूर करने में बाजीराव को सफलता मिली, और सन् १७२२ ई० में उन्होंने दूसरा नया फरमान प्राप्त कर लिया। तत्पश्चात् निज़ाम ने शाहू के हक़ सरदेशमुखी और चौथ पर इस कारण से आपत्ति की कि, उन्होंने दक्षिण में शान्ति स्थापित रखने का भार लेकर उसमें सफलता प्राप्त नहीं की। फिर दोनों में झगड़ा मचा; और उसको दूर करने के लिए शक्ति का उपयोग करना पड़ा। परन्तु अन्त में हैदराबाद के समीपवर्ती इलाक़े में चौथ और सरदेशमुखी का स्वत्व छोड़कर अन्य इलाक़ों में यथायोग्य परिवर्तन करके, निज़ाम को बादशाह के द्वारा स्वीकृत की हुई रियायतों को मान लेने पर राज़ी कर ही लिया। परन्तु निज़ाम ने सन् १७३० ई० में राजा कोल्हापुर का पक्ष लेकर फिर इस सरदेशमुखी और चौथ के हक़ पर झगड़ा आरम्भ किया। परन्तु पेशवा की विलक्षण बुद्धिमत्ता के कारण निज़ाम को फिर नीचा देखना पड़ा। और जो सहायता उसने राजा कोल्हापुर को देना स्वीकार किया था, वह उसको बन्द कर देनी पड़ी। कोल्हापुर के राजा को शाहू के सेनाध्यक्ष प्रतिनिधि ने पराजित किया; और कोल्हापुर तथा सतारा के राजाओं के बीच नई सन्धि स्थिर हुई, जिसके अनुसार समस्त स्वराज्य और दक्षिण के छै सूबों पर सरदेशमुखी और चौथ वसूल करने का अधिकार शाहू का ही बना रहा, और राजा-कोल्हापुर को दक्षिण में वारना और तुङ्गभद्रा नदी के बीच के प्रदेश पर ही

सन्तोष करना पड़ा। इस प्रकार तीन लड़ाइयों और दो इकरारनामों के बाद सन् १७३२ ई० के लगभग मुग़ल सम्राट् की दी हुई उन सनदों की पूरी पूरी पुष्टि हुई; और तब से फिर सभी विरोधी शक्तियां मराठों की सत्ता मानने के लिए बाध्य हुईं। यद्यपि झगड़े के कारण बिलकुल निर्मूल नहीं हुए; परन्तु इसके बाद फिर निज़ाम और पेशवा के उत्तराधिकारियों में सम्राट् के द्वारा मिले हुए उक्त स्वत्वों के उचित और अनुचित होने का प्रश्न नहीं उठा।

सन् १७४३ ई० में मराठे सरदारों और तत्कालीन निज़ाम सलावतजङ्ग में लड़ाई हुई। निज़ाम पराजित हुआ; और सन्धि होने पर खानदेश और नासिक का सम्पूर्ण इलाक़ा मराठों को मिल गया। सन् १७६० ई० में फिर एक झगड़ा हुआ; और उसमें भी मराठा फ़ौज ही सफल-मनोरथ हुई, जिससे अहमदनगर की ओर का इलाक़ा और अहमदनगर का क़िला पेशवा के राज्य में सम्मिलित हो गया। सन् १७९० ई० में इसी प्रकार फिर झगड़ा हुआ और शोलापुर तथा बीजापुर के ज़िले पेशवा को मिले। मराठों को जो युद्ध करनाटक में करना पड़ा, वह निज़ाम के साथ न होकर सावनूर के नवाबों से हुआ। यह युद्ध पेशवा बाजीराव और उनके पुत्र बालाजी बाजीराव ने बराबर जारी रक्खा। तीन बार युद्ध होने पर बीजापुर, धारवाड़ और बेलगांव के प्रान्त क्रमशः पेशवा के राज्य में सम्मिलित होते गये। यह कर्नाटक युद्ध सावनूर के नवाबों के पतन हो जाने पर भी, हैदर और टीपू से, जो कि मैसूर में सन् १७६० से १७९० ई० तक राज्य करते रहे, जारी रहा। अन्त में परिणाम यह हुआ कि मैसूर के शासकों

ने हार खाई; और मराठों का राज्य तुङ्गभद्रा नदी तक पहुंच गया। पुर्तगीजों और जँजीरे के सिद्दियों से बाजीराव पेशवा के भाई चिमणाजी अप्पा और तीसरे पेशवा बालाजी बाजीराव की जो लड़ाइयां हुईं उनमें भी सफलता प्राप्त हुई। इन समस्त उपायों से एक ही शताब्दी के भीतर सम्पूर्ण महाराष्ट्र देश मराठा-मंडल के अधीन होगया। राज्य की यह वृद्धि यद्यपि अनेक लड़ाइयों की विजय का फल थी; परन्तु इसकी नींव वास्तव में चौथ और सरदेशमुखी का स्वत्व ही था। इन झगड़ों के कारण 'स्वराज्य' ने धीरे धीरे खूब उन्नति की; और प्राचीन सनद के अनुसार वह जितना था उससे कहीं अधिक बढ़ गया। इसके सिवाय चौथ तथा सरदेशमुखी वसूल करने का स्वत्व जो पहले इस सनद के अनुसार ताप्ती नदी के दक्षिणीय छै सूबों तक परिमित था, बीस वर्ष के उपरान्त इन्हीं शर्तों पर समस्त राज्य में फैल गया। उत्तर का समस्त इलाका गुजरात, काठियावाड़, मालवा, राजपूताना, बुन्देलखण्ड, दुआब, नीमच, गोंडवाना, सम्भलपुर, उड़ीसा, आगरा, दिल्ली, अवध और बङ्गाल इत्यादि प्रान्त भी उसके अन्तर्गत आ गये। राज्य के इस विस्तार और प्रभाव पर एक परिच्छेद अन्यत्र लिखा जावेगा, परन्तु जो कुछ आवश्यक विषय था, उसका वर्णन ऊपर हो चुका है। सरदेशमुखी और चौथ के स्वत्व ने मराठे सरदारों को राज्य के विस्तीर्ण और स्थापित करने में वह काम दिया, जो कि गत शताब्दी में कर लेकर सेना रखवाने की सन्धि-प्रणाली और भिन्न भिन्न विजयों ने बृटिश गवर्नमेंट को दिया है। इस उन्नति की रामकहानी में सब से बढ़कर मनो-

रंजक बात यह है कि उपर्युक्त अनेक विजय जो मराठे सरदारों ने प्राप्त किये, सो भिन्न भिन्न रह कर नहीं; किन्तु सब ने एक होकर ही प्राप्त किये। वे कोल्हापुर और तञ्जौर के भिन्न रहने की चाल के बिलकुल विरोधी थे, क्योंकि ये रियासतें उन लाभों से बिलकुल ही वंचित थीं जो चौथ और सरदेशमुखी के कारण पेशवा, गायकवाड़, सेंधिया, होलकर, भोंसले, विञ्चूरकर, पटवर्धन, बुंदेले और मराठा-मंडल के अन्यान्य सरदारों को प्राप्त थे। शाहू के मंत्रियों ने एक मुख्य अवसर पर अत्यन्त गम्भीरता के साथ इस प्रश्न पर विचार किया कि पेशवा की राज्य-विस्तार की नीति पर काम किया जाय या प्रतिनिधि की सम्मति के अनुसार जो राज्य मिल चुका है, उसकी रक्षा करने की ही नीति काम में लाई जावे। शाहू ने पेशवा की ओजस्विनी वक्तृता से प्रभावान्वित होकर उनका पक्ष लिया; और राज्य बढ़ाने के प्रस्ताव का ही समर्थन किया। आखिर संगठित होकर काम करने से जो कुछ फल-निष्पत्ति हुई, उससे इतिहास के पृष्ठ रँगे हुए हैं। इसके विरुद्ध अनैक्य की नीति से सदैव जो हानि होती है, उसका उदाहरण भी दक्षिणी भारत में मराठों के पहले पहल जीते हुए राज्य की दशा से भली भांति मिल जाता है। इसलिए अगले परिच्छेद में हम यह दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि संगठित शक्ति से मराठों के राज्य का जो उपर्युक्त विस्तार हुआ, उसमें, और तंजौर की गद्दी पर बैठे हुए शिवाजी के भाई के वंशजों के राज्य में, क्या भेद है।

बारहवां परिच्छेद ।

दक्षिणी भारत में मराठे ।

भारतवर्ष के दक्षिण में तंजौर नामक एक और मराठा राज्य है। यहां का राजघराना भारत के अन्य राजघरानों से बहुत प्राचीन है। लगभग दो सौ वर्ष (सन् १६७५-१८५५) तक उस घराने से पश्चिमी भारत के 'मराठा साम्राज्य' के संस्थापकों का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। परन्तु ग्रांट डफ साहब अथवा अन्य किसी मराठी-'बखर'-कार ने, जान पड़ता है, उसका कहीं भी वर्णन नहीं दिया। इस दूर-स्थित और अभागे राज्य की विचित्र कथा से हमारे इस कथन की भलीभांति पुष्टि होती है कि मराठा राज्य का बल संघ की सुसंगठित शक्ति पर ही निर्भर था; क्योंकि जो सरदार इस संगठन की राष्ट्रीय सहानुभूति के साथ हाथ मिलाने से अलग थे, उनको देशी और विदेशी लेखकों ने मराठा इतिहास में स्थान तक नहीं दिया। अलग रहने की यह प्रवृत्ति सृष्टिक्रम के विरुद्ध है; और उससे यद्यपि जो उपदेश मिलता है, वह खेदजनक ही है, परन्तु फिर भी वह उपेक्षा योग्य नहीं है। अस्तु। कावेरी नदी के किनारे यह मराठों का एक सैनिक उपनिवेश था। इस उपनिवेश से उस ओर जो एक स्थायी प्रभाव हुआ, उसका महत्व सन् १८८१ ई० की मर्दुमशुमारी से भली भांति मालूम पडता है। क्योंकि

इससे प्रगट होता है कि मदरास प्रान्त में मराठा आवादी २,३०,००० थी। इसमें अगर हम मैसूर को चीन तथा ट्रावनकोर की २०,००० मनुष्यसंख्या मराठों की सम्मिलित करलें, तो सब मिलकर अढ़ाई लाख २,५०,००० होती है। इसका विवरण नीचे दिया जाता है:—

(१)	गञ्जाम	२०५
(२)	विजगापट्टम	३६४
(३)	गोदावरी	६३४
(४)	कृष्णा	१४१४
(५)	नीलोर	८०७
(६)	कुड़ापा	३९७३
(७)	करनूल	४०८१
(८)	बेलारी	१४१६४
(९)	चिङ्गलपट्ट	१६३५
(१०)	उत्तरी अरकाट	११६६२
(११)	दक्षिणी अरकाट	१९५७
(१२)	तञ्जौर	१४४२१
(१३)	त्रिचनापली	१७६६
(१४)	मदुरा	१९४३
(१५)	तिनवली	८३७
(१६)	सालेम	७९०६
(१७)	कोयम्बटूर	२५५०
(१८)	नीलगिरी	७३०
(१९)	मलाबार	६१०७
(२०)	दक्षिणी कनारा	१४७३९०

(२१)	मदरास (शहर)	४२३८
(२२)	पदुकोटा	६६०

इससे जान पड़ता है कि इस प्रान्त में एक भी ऐसा ज़िला नहीं है जिसमें कोई छोटी सी मराठा आबादी ऐसी न हो जिसने स्थायी रूप में वहां अपना घर न बना लिया हो। दक्षिणी कनारा, मलाबार, कोचीन और ट्रावनकोर नामक स्थान, जहां मराठों की डेढ़ लाख आबादी है, वास्तव में समुद्री किनारे पर से जाकर उपनिवेश बनाये गये थे। सत्रहवीं शताब्दी में शहाजी और उनके पुत्र वेङ्कोजी ने, जो शिवाजी के सौतेले भाई थे, वस्तुतः जिन राजनैतिक उपनिवेशों की स्थापना की थी, उनसे उपर्युक्त आबादियों का कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में तञ्जौर और उसके आस पास के ज़िले, उत्तरीय अरकाट, सलेम और शहर मद्रास, में शहाजी और उनके पुत्र के साथ आये हुए मराठा लोगों की आबादी बहुत अधिक है। ट्रावनकोर के राजा ने, तञ्जौर का नाम 'मराठों का दक्षिणीय गृह' रक्खा था। सो ठीक ही है। यद्यपि पचास वर्ष से अधिक हुए, अंगरेज़ी सरकार ने, राज्य के वारिस न होने के कारण, इसको सरकारी इलाके में सम्मिलित कर लिया है। परन्तु वहां की रानियों को अब तक सरकार की ओर से एक बड़ी रकम पेन्शन के तौर पर मिलती है; और उनकी निज की जायदाद भी बहुत कुछ है। जिस समय सन् १६६६ ई० से १६७५ ई० के बीच में इस राज्य की बुनियाद रक्खी गई थी, उस समय तञ्जौर ज़िले में दक्षिणी अरकाट के कुछ हिस्से और समस्त त्रिचनापल्ली सम्मिलित था। इन सैनिक उपनिवेशवालों में ब्राह्मण और मराठा दोनों जाति के लोग

सम्मिलित थे, परन्तु अपनी मातृभूमि से दूर होने के कारण, इन जातियों की जो भिन्नता देश में थी, वह नहीं रही थी; और सब के सब 'देशस्थ' कहलाते थे।

तञ्जौर के समस्त राजा लोग विद्या के बड़े प्रेमी थे। उनमें से कई तो स्वयम् कवि और बड़े पण्डित हो चुके हैं। उनकी उदारता और दानशीलता भी स्मरणीय है। तञ्जौर का पुस्तकालय अपने तरह की समस्त हिन्दुस्तानी रियासतों के पुस्तकालयों से बड़ा है। यहां का संगीत और कला-कौशल अद्वितीय था। तञ्जौर को उन दिनों में भी आजकल की तरह अत्यन्त उन्नतिशील होने का गर्व था। तञ्जौर राज्य के टूटने पर समस्त विद्याओं के ज्ञाता ट्रावनकोर चले गये; और अब उस रियासत को यह गर्व प्राप्त है। कुम्भकोनम् शहर में प्रतिष्ठित मराठा वंश के लोग आबाद हैं, जिनमें सर टी० माधवराव, दीवान बहादुर रघुनाथराव, वेङ्का स्वामीराव, गोपालराव इत्यादि बड़े प्रसिद्ध व्यक्ति हुए हैं। इनमें से प्रत्येक अपने अपने काम में और बहुतेरे अपनी राजनीतिज्ञता, पाण्डित्य और परोपकारिता के लिए भारत में प्रतिष्ठा के पात्र हुए हैं। ट्रावनकोर और मैसूर की रियासतों ने विगत तथा वर्तमान शताब्दी में भी इन मराठा राजनीतिज्ञों को अपनी योग्यता प्रदर्शित करने का अवसर दिया है। ट्रावनकोर के मंत्री सुब्बाराव का शासन विख्यात है; और उनके बाद सर टी० माधवराव ने इस रियासत को अशान्ति और दिवालिया होने से बचा कर एक आदर्श राज्य बना दिया। दीवान बहादुर रघुनाथराव के पिता ने भी मैसूर में ऐसी ही प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।

उत्तरीय अरकाट में एक छोटी सी जागीर 'अरनी' नामक अब तक एक मराठा ब्राह्मण के अधीन है, जिसके पूर्वजों ने सैनिक सेवा करने के कारण, दो सौ वर्ष हुए, रियासत बीजापुर से उसको प्राप्त किया था। अन्य मराठा ब्राह्मणों ने उस समय में अरकाट के नवाब की नौकरी स्वीकार करके बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की; और 'निज़ामशाही ब्राह्मण' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी तरह पद्दूकोटा की छोटी सी रियासत में भी मराठा आबादी है; और उसमें बहुत से ब्राह्मण दीवान रहे हैं। इनमें जो सब से अधिक प्रसिद्ध हुआ है, वह मराठों की दक्षिणीय आबादी ही में से था। कोचीन की रियासत में भी एक बड़ी मराठा आबादी उपनिवेश के रूप में है, जिसमें विशेषतया भिन्न भिन्न श्रेणी के ब्राह्मण वाणिज्य व्यवसाय करनेवाले हैं। एक और छोटी सी मराठा रियासत बेलारी के ज़िले में सोंदा नामक है। दक्षिणीय भारत में मराठों के अन्य राज्य टूट जाने के पश्चात् भी यह जीवित है। इसका संस्थापक सन्ताजी घोरपड़े का वंशज था, जिसके पौत्र मुरार-राव ने अठारहवीं शताब्दी में कर्नाटक की लड़ाई में बहुत बड़ी वीरता दिखलाई थी। मुरारराव घोरपड़े गुत्ती की छोटी सी रियासत पर, हैदरअली के विजय करने तक, शासन करता रहा। जब औरङ्ग़ज़ेब ने मराठों को महाराष्ट्र में खूब दबाया, तो शिवाजी के दूसरे पुत्र राजाराम ने जिंजी में शरण ली, जिसको शहाजी ने क़िले की भांति बना रक्खा था। इस क़िले ने सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम काल में सात वर्ष तक आक्रमण का सामना किया; और मराठों को औरङ्ग़ज़ेब के मुक़ाबले पर बचाये रक्खा।

इस संक्षिप्त वर्णन से प्रगट होता है कि मुट्ठी भर मराठों ने, जिनकी संख्या एक लाख बड़ी मुश्किल से होगी. अपने लिए ऐसे संकट के अवसरों पर, जिनके बाद मुसलमानी राज्य का पतन हो गया, केवल रियासतें और जागीरें ही नहीं पैदा कर लीं, वरन् ऐसा प्रभाव जमा लिया जो अब तक नष्ट नहीं हुआ है। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि, उनकी प्रबलता इस समय वैसी नहीं रही, तथापि इस प्रान्त में वे एक बहुत बड़ी संख्या में बसे हुए हैं। अतएव तञ्जौर की विजय का वर्णन मराठा जाति के इतिहास में मराठा-मंडल के अन्य विशेष शासकों की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यक है।

प्रथमतः मराठा लोग शिवाजी के पिता शहाजी भौंसले की अधीनता में दक्षिणीय भारतवर्ष के भीतर सन् १६३८ ई० में प्रविष्ट हुए। बीजापुर के आदिलशाह सुलतान के सेनाध्यक्ष की हैसियत से वे एक पलटन अपने साथ ले गये थे। इस कर्नाटक की लड़ाई में शहाजी और उनकी फ़ौज तीस वर्ष तक बराबर लगी रही; और मैसूर, बेलोर तथा जिंजी को विजय कर लिया। सन् १६४८ ई० में शहाजी को, उनकी सेवाओं के उपलक्ष्य में, बङ्गलोर, कोलार, सेरा या कत्ता नामक स्थान और मैसूर राज्य का भी कुछ भाग जागीर में मिला। इन लड़ाइयों में शहाजी ने मदुरा और तञ्जौर के पुराने 'नायक' सरदारों को बीजापुर की अधीनता स्वीकार करने और कर देने पर विवश किया। अपने कार्यों के सुविस्तीर्ण क्षेत्र में बारम्बार सौभाग्य और दौर्भाग्य को देखते हुए शहाजी सन् १६६४ ई० तक, अर्थात् मृत्यु पर्य्यन्त, अपनी मैसूर के इलाके वाली जागीर का सुख भोगते रहे। बङ्गलोर उनकी

मुख्य स्थान था; और उस समय यहीं मराठा छावनी सुदूर दक्षिणी भाग में मौजूद थी। जब उनके पुत्र वेङ्कोजी जागीर के अधिकारी हुए तो तञ्जौर और मदुरा के नायक सरदारों में आपसी झगड़ा हुआ, और तञ्जौर का सरदार लड़ाई में पराजित हुआ। इसके बाद वह सुलतान बीजापुर की शरण में गया। सुलतान ने उसको दुबारा राज्य दिलाने की आज्ञायें वेङ्कोजी के नाम भेजीं। वेङ्कोजी ने १२००० फ़ौज को लेकर उसकी तरफ़ से मदुरा पर धावा किया; और बड़ी भारी विजय प्राप्त करके शरणागत सरदार को दुबारा तंजौर के राज्य के सिंहासन पर बिठला दिया। इस सरदार की आगामी सन्तति में फिर आपसी झगड़ा हुआ; और उनमें से एक ने वेङ्कोजी को तञ्जौर के क़िले पर अधिकृत होने के लिए आमंत्रित किया। मराठों के आने पर तञ्जौर का शासक भाग गया, इसलिए वेङ्कोजी ने उस पर सन् १६७४ ई० में अधिकार कर लिया; और सन् १६७५ ई० में बङ्गलोर को छोड़ कर तञ्जौर को अपना मुख्य स्थान बनाया।

वेङ्कोजी के शासनकाल की सबसे अधिक प्रसिद्ध घटना यह है कि, शिवाजी ने देश के उस भाग पर सन् १६७६ ई० में चढ़ाई की। शिवाजी ने कर्नाटक की पैतृक जागीर पर बड़ी सरलता के साथ अधिकार कर लिया; क्योंकि वेङ्कोजी अपनी स्थिति को बनाये रखने में असमर्थ थे। बीजापुर की सरकार ने कर्नाटक की जागीर पर, जिसमें तञ्जौर और त्रिच-नापली सम्मिलित थे, शिवाजी का स्वत्व मान लिया। अपने सौतेले भाई की इस सफलता पर वेङ्कोजी को अत्यन्त उदा-सीनता का अनुभव करना पड़ा, यहां तक कि इन्होंने संसार

से अपना सम्बन्ध तोड़ कर वैराग्य लेना निश्चय कर लिया। परन्तु शिवाजी ने उनको एक मर्मस्पर्शी पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने कर्तव्य की ओर आकर्षित करके उन्हें बैरागी होने से रोका। शिवाजी ने इस अवसर पर अत्यन्त उदारता से अपने पिता के समस्त अधिकार अपने भाई को सौंप कर उन्हें संतुष्ट कर दिया। इस उदारता का प्रभाव बहुत अच्छा पड़ा और वेङ्कोजी सन् १६८७ ई० तक—मृत्युपर्य्यन्त—तञ्जौर में शासक बने रहे। मराठा-मंडल के लिए यह बड़ी अच्छी बात थी कि शिवाजी इस राज्य पर अधिकार करके इसको मज़बूत बना देते, परन्तु उन्होंने वेङ्कोजी को यह रियासत देकर मराठों के संयुक्त राज्य से इसको अलग कर दिया; और इस भिन्नता के कारण तञ्जौर ने बड़ी हानि उठाई। वेङ्कोजी प्रबल शासक नहीं थे; और अपनी अयोग्यता के कारण दूरस्थित मैसूर इलाके की जागीर पर शासन नहीं कर सकते थे। इसलिए बङ्गलोर को उन्होंने सिर्फ़ तीन लाख रुपये के बदले में मैसूर के राजा के सिपुर्द कर दिया। इस कारण तञ्जौर का दक्षिण से पैतृक सम्बन्ध जाता रहा और थोड़े ही समय के बाद वह एक ओर अङ्गरेज़ों से और दूसरी ओर मैसूर के शासक हैदर-अली और उसके पुत्र टीपू से घिर गया।

वेङ्कोजी की मृत्यु के पश्चात् उनके तीन पुत्र शहाजी, सरफोजी और तुकाजी, क्रमशः राज्य के अधिकारी हुए, और उन्होंने सन् १६८७ ई० से सन् १७३५ ई० तक, लगभग पचास वर्ष तक, शासन किया। शहाजी के शासनकाल में मुग़ल सेनापति ज़ुलफ़िकारख़ां ने तञ्जौर पर आक्रमण किया। शम्भाजी की मृत्यु के बाद और शाहू के क़ैद हो जाने पर

मराठों ने अपने देश दक्षिण में मुग़लों का सामना करना असम्भव समझा। शिवाजी के दूसरे पुत्र राजाराम, मराठे सेनाध्यक्षों और राजनीतिज्ञों के सहित, जो अब तक राष्ट्रीय झण्डे के नीचे एकत्रित थे, पाण्डुचेरी के समीप जिंजी को चले गये। इस पर मुग़ल आक्रमणकारियों ने दक्षिण की ओर बढ़ कर जिंजी पर हमला किया। कई वर्ष तक छोटी छोटी सफलताओं के साथ आक्रमण का सामना होता रहा; और इस बीच में ही मुग़ल सेनापतियों ने तञ्जौर पर 'कर' लगाया, एवम् राजा के अधिकार से त्रिचनापल्ली ज़िले का कुछ भाग निकाल लिया। शहाजी के बाद सरफोजी और तुकोजी के शासनकाल में तञ्जौर के मराठों ने अपने राज्य को रामेश्वर के समीप मारवा के इलाक़े तक विस्तृत कर दिया। शिवगङ्गा और रामनाथ नामक स्थानों के ज़मींदारों को सन् १७३० ई० में विजय कर लिया। तञ्जौर में जब कोई प्रबल शासक होता था तब तो ये ज़मींदार लोग 'कर' देते थे, अन्यथा बराबर लड़ाई का सामना करने को तैयार रहते थे।

इस भाग की पूरी विजय तो सन् १७६३ ई० और १७७१ ई० में सरदार सिधोजी और मणकोजी के हाथों से हुई, जिन्होंने खूब काम किये। मणकोजी ने तो सन् १७४२ से सन् १७६३ ई० के बीच होनेवाले युद्ध में भी खूब काम किया था।

वेङ्कोजी के तीनों पुत्रों की मृत्यु के अनन्तर, सन् १७३५ से १७४० ई० के बीच, कुछ तो लोगों की असामयिक मृत्यु के कारण, और कुछ मुग़ल शासकों के इच्छानुसार राजा नियत करने के कारण, गद्दी के अधिकारियों का बड़ी शीघ्रता के

साथ हेर-फेर होता रहा। अन्त में तञ्जौर के मराठे सरदार सन् १७४० ई० में तुकोजी के दासीपुत्र प्रतापसिंह को गद्दी पर बैठाने में सफल हो गये और उसने २३ वर्ष तक राज्य किया।

प्रतापसिंह के प्रारम्भिक शासनकाल में सतारे के राजा की मांडलिक सेना ने नागपुर के राघोजी भोंसले की अधीनता में दूसरी बार दक्षिणी भारत पर चढ़ाई की। मराठा मंडल की ओर से अब तक जितनी बड़ी बड़ी चढ़ाइयां हुई थीं, उन्हीं में इस चढ़ाई की भी गणना है। तंजौर के मराठे यदि अपनी ईर्षा और मत्सर को भूल जाते, या अपनी त्रिचनापल्ली के समीप की पहिली विजय के पश्चात् राघोजी बराबर बढ़ता चला जाता, तो निस्सन्देह इस चढ़ाई का कुछ स्थायी परिणाम हो जाता। परन्तु वह त्रिचनापल्ली में ही अपनी फ़ौज छोड़ कर चान्दा साहब को क़ैद करके सतारे लौट आया। पेशवा इस समय उत्तरीय भारत में मुग़ल राज्य की जड़ पर कुल्हाड़ा मारने के लिए तुले हुए थे। इधर यह आक्रमण इस लिए किया गया था कि कुछ मराठे सरदारों ने शाहू को यह सम्मति दी थी कि उत्तरीय भारत को छोड़ कर समस्त दक्षिणाग्र भारत पर सदैव के लिए अधिकार कर लिया जावे। अस्तु। राघोजी भोंसले ने दक्षिण से लौट कर बङ्गाल और पूर्वीय भारत में यथेष्ट कार्य सम्पादन किया, और हैदरअली के उत्थान के पूर्व तक दक्षिणीय भारत पर मराठों ने अधिकार नहीं जमा पाया। पाण्डुचेरी के फरासीसी सूबेदार डूपले के कहने से शाहू ने चांदा साहब को छोड़ दिया। इससे अंगरेजों और फरासीसियों में दस वर्ष तक अर्थात् सन् १७५० से १७६० तक युद्ध ठना रहा। तञ्जौर के राजा ने अंगरेजों

के आश्रित मुहम्मदअली का पक्ष लिया, और फरासीसियों के सहायकों के हाथ से हानि उठाई। मुराराव घोरपड़े ने ऐसे समय में, जब अंगरेज़ राजा की सहायता करने में असमर्थ थे, तञ्जोर को लूटा। इसके पश्चात् फरासीसियों के सेनाध्यक्ष लाली ने भी लूट मार की, परन्तु उस समय अंगरेज़ सहायता पहुंचाने में सफल होगये। इन समस्त लड़ाइयों में तञ्जोर की फ़ौज में मणकोजी की अधीनता में अङ्गरेज़ों का पक्ष लेकर फरासीसियों का खूब सामना किया।

यद्यपि अङ्गरेज़ों का पक्ष लेकर तञ्जोर के राजाओं ने यह सब कुछ त्याग दिया, तथापि नवाब मुहम्मदअली अपने मन में तञ्जोर के धन-वैभव को देखकर ईर्ष्या रखता था। केवल अङ्गरेज़ों के बीच में पड़ने से राजा ने सन् १६६२ ई० में नवाब का आधिपत्य स्वीकार किया; और अङ्गरेज़ों की ज़मानत पर चार लाख रुपया 'कर' देना मंज़ूर किया। तत्पश्चात् सन् १७७१ ई० में नवाब ने मदरास-सरकार की सहायता से प्रतापसिंह के पुत्र तुलसाजी पर चढ़ाई की। तुलसाजी ने सन्धि की प्रार्थना की। परिणाम यह हुआ कि उसकी रियासत का वैभव मारा गया; और तञ्जौर राज्य की आमदनी भी कम हो गई तथा रियासत पर बहुत सा क़र्ज़ भी हो गया। इस दूसरे सन्धिपत्र के अनुसार राजा के हितों को, नवाब मुहम्मदअली और उसके अङ्गरेज़ साहूकारों के लाभों का विचार रख कर, खूब नष्ट किया गया। यही अंगरेज़ साहूकार मदरास-सरकार की नीति के संचलाक थे। सन् १७६२ ई० की प्रतिज्ञा, जिसके बल से अङ्गरेज़ तञ्जौर की स्वाधीनता के उत्तरदाता थे, भङ्ग कर दी गई। सन् १७७३ ई० में नवाब ने

अपने अङ्गरेज़ मित्रों के साथ मेल कर लिया; और फिर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया। उसने राजा को क़ैद करके शहर पर अधिकार कर लिया; और उसकी रियासत को अपने राज्य में मिला लिया। ये समस्त बरबादी और विश्वासघात के काम, मदरास सरकार ने अपने उत्तरदायित्व पर, नवाब के अङ्गरेज़ ऋणदाताओं के लाभों के लिए, किये थे। कम्पनी के डाइरेक्टरों को इसका कुछ ज्ञान न था, और जब उनको इन अन्यायपूर्ण कार्यों का पता लगा, तो उन्होंने मदरास-सरकार की कार्रवाई को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा; और शीघ्र ही मदरास के गवर्नर को वापस बुला लिया। इसके बाद उन्होंने तुलसाजी को फिर उसकी पैतृक राजगद्दी पर बैठाने का निश्चय किया; और इसके लिए आज्ञायें प्रचारित कीं। सन् १७७६ ई० में उन आज्ञाओं का पालन किया गया; परन्तु नवाब के तीन वर्ष के शासन में ही देश इतना चौपट हो गया था कि उसको; किसी न किसी अंश में, पूर्व की भांति वैभव-सम्पन्न होने में दस वर्ष लगे। इस बीच में अङ्गरेज़ों की हैदरअली के साथ लड़ाई छिड़ गई, और हैदरअली ने अभागे तञ्जौर प्रान्त पर, सन् १७८२ ई० में, बदला लेने के लिए लूट मार की। इन कठिनाइयों और कष्टों में तुलसाजी ग्यारह वर्ष तक राज्य करके सन् १७८७ ई० में मर गया। चूंकि तञ्जौर अपने मुख्य महाराष्ट्र केन्द्र से अलग हो गया था, इसलिए मराठों की चढ़ाइयां और विजयों से तञ्जौर को कोई लाभ न पहुंचा, और वह बराबर अङ्गरेज़ों तथा हैदरअली से दबा रहा। इन बीस वर्षों के समय में उसने ऐसे कष्ट उठाये कि भविष्य में टीपू के पतन और दक्षिणी भारत

में शान्ति स्थापित होने पर भी वह अपनी पूर्व-स्थिति को न पहुँच सका। उसको अपने भीतरी झगड़ों से भी हानि सहनी पड़ी। तुलसाजी के सौतेले भाई अमरसिंह ने उसके दत्तक पुत्र को राज्य से अलग कर दिया। मदरास सरकार का क़र्ज़ रियासत पर इस समय इतना बढ़ गया था; और राज्य की आमदनी इतनी घट गई थी, कि राजा अपनी आवश्यकताओं को भी पूरा न कर सकता था। तुलसाजी के दत्तक पुत्र सरफ़ोजी को डच मिश्नरी मिस्टर श्वार्टज़ ने बड़ी सहायता दी; और कम्पनी के डाइरेक्टरों ने उसका गद्दी प्राप्त करने का स्वत्व स्वीकृत किया। सन् १७९८ ई० में उसको गद्दी मिल गई तथा अमरसिंह को पेन्शन लेकर अलग होने के लिए विवश होना पड़ा। मारक्वीस आव वेलेज़ली ने जब टीपू की मृत्यु के पश्चात् मैसूर का प्रबन्ध किया, तो सरफोजी को इस बात पर राज़ी कर लिया कि वह अपनी रियासत में शासन को छोड़ कर नाम मात्र के लिए राजा बना रहे; और रियासत की मालगुज़ारी में से नियत की हुई पेन्शन ले लिया करे। फलतः वह अपनी इस शान और पेन्शन से चैन उड़ाता हुआ सन् १८३३ ई० में मर गया, और उसके बाद जब उसका पुत्र सन् १८४५ ई० में निःसन्तान मर गया, तब तञ्जौर की रियासत को कम्पनी ने ज़ब्त कर लिया और रानियों को पेन्शन देकर उनके महलों में ही रहने दिया। उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति भी ज़ब्त कर ली गई थी; परन्तु दीर्घकाल तक मुक़दमेबाज़ी करने के पश्चात् वापस मिल गई।

मराठों के इस छोटे सैनिक उपनिवेश का यह संक्षिप्त वर्णन है। मराठा-मंडल के सरदार मुग़लों की शक्ति का मुक़ा-

बला करके बीस वर्ष तक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए लड़ते रहे और अन्त में स्वतंत्रता प्राप्त भी कर ली, परन्तु तञ्जौरवाले, अपनी केन्द्रित शक्ति से अलग रहने के कारण, अपनी रक्षा के लिए कर्नाटक के झगड़ों में ही पड़े रहे। इसके बाद प्रधान स्वतंत्र मराठी रियासतों में से तञ्जौर का नाम खारिज हो गया। निःसंदेह यदि यह रियासत भी मराठा-मंडल से अपना सम्बन्ध न तोड़ती, तो उन चढ़ाइयों में इस रियासत को भी बड़ा लाभ हुआ होता, जो मराठा-मंडल की ओर से सन् १७८२ से सन् १७६२ ई० तक होती रहीं; और जिनमें उनको सदैव सफलता प्राप्त होती रही। यही नहीं, बल्कि उन चढ़ाइयों में हैदर और टीपू सुलतान को भी एक बहुत भारी कर और मुल्क देने के लिए बाध्य होना पड़ा था, तब कहीं उन चढ़ाइयों का ज़ोर कुछ कम हुआ। तञ्जौर के समान गुत्ती रियासत की भी वैसी ही दुर्दशा हुई। यह रियासत भी मराठा-मंडल से अलग रह कर अपना अलग ही स्वार्थ साधने का प्रयत्न करती रही। दक्षिणी भारत के इस मराठा सैनिक उपनिवेश के वृत्तान्त से जो उपदेश लिया जा सकता है, वह यही है कि, मराठा साम्राज्य की प्रबलता उसकी संघशक्ति में ही थी; और यदि उस संघशक्ति में कुछ भी विश्रृङ्खलता उत्पन्न हो जाय, तो अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना भी एक टेढ़ी खीर थी। मराठा साम्राज्य की शक्ति और उसकी दुर्बलता का उदाहरण उपर्युक्त वर्णन से भली भांति सिद्ध हो जाता है।

तेरहवां परिच्छेद।

मराठों के इतिहास की कुछ चुनी हुई बातें।

परिशिष्ट (१)

(यह निबंध परलोकवासी माननीय काशीनाथ त्र्यंबक तैलंगजी ने ता० १७ सितम्बर १८९२ ई० को 'डेक्कन कालेज यूनियन' की सभा में पढ़ा था।)

केप्टन जेम्स ग्रांट डफ रचित 'मराठों का इतिहास' प्रमाणभूत है; और उसका बहुत सा भाग उनकी एकत्रित की हुई बखरें तथा असली पुराने कागज़ों के आधार पर लिखा गया है। उस सामग्री में से कई कागज़ों की प्रतिलिपियां बंबई की "लिटररी सोसायटी" में भी रखे जाने की बात उक्त महाशय ने स्वीकार की है। उनका वैसा करना तत्कालीन परिस्थिति के देखते सर्वथा योग्य ही था, क्योंकि जिस असली साहित्य के आधार पर उक्त महाशय ने अपना ग्रंथ लिखा, उसकी प्रामाणिकता के विषय में जांच करने के लिये मराठा-इतिहास-जिज्ञासुओं के लिये यह एक अच्छा साधन होगया। पर दुर्भाग्य की बात है कि उस संस्था को बंद हुए बहुत दिन बीत गये; और उक्त महाशय की उन प्रतिलिपियों का भी कहीं पता नहीं! लिटररी सोसाइटी के अनंतर रायल एशियाटिक सोसाइटी स्थापित होगई, जिसकी एक शाखा बंबई में भी

है। उस शाखा के पुस्तकालय में भी हमने खोज की; पर वहां भी वे हस्तलेख नहीं हैं। अब उक्त दोनों संस्थाओं के जो कार्यालय हैं, उनसे यह पता चलने का भी कोई साधन नहीं दिखाई देता कि उपर्युक्त हस्तलेख कहां मिल सकते हैं। कई लोगों का यह भी विश्वास है कि उक्त हस्तलेख अवश्य ही जला डाले गये; और उक्त साहब को इसकी खबर थी। परन्तु मालूम नहीं कि, उक्त विश्वास का प्रमाण क्या है? वास्तव में उक्त बात बिलकुल ही असम्भव है। जिस प्रकार इनाम-कमीशन पर पुराने कागज़ात जला डालने का दोषारोपण किया गया, उसी प्रकार उक्त मनगढ़न्त बात भी प्रचलित होगई। जब से रायल एशियाटिक सोसाइटी के संग्रहालय से उक्त सामग्री नष्ट होगई, तभी से कदाचित् उक्त कागज़ों के जला डालने की कथा प्रचलित होगई हो। अस्तु।

विगत १०।१२ वर्षों में कुछ प्राचीन असली कागज़ात प्रकाशित किये जा चुके हैं और उनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो ग्रांट डफ साहब को देखने को नहीं मिले थे। उनका अध्ययन करने से मराठों के इतिहास से संबंध रखनेवाली कई महत्व-पूर्ण बातें मालूम होती हैं। परन्तु वैसी बातों को उक्त साहब के ग्रंथ में स्थान नहीं दिया गया है। संभव है कि उन्हें उनका महत्व मालूम न हुआ हो। उनके इतिहास में तो केवल राज-नैतिक घटनाओं की ही कथा लिखी गई है। हां, उन्होंने मराठों के सामाजिक और धार्मिक सुधारों का कहीं कहीं अपने ग्रंथ में उल्लेख ज़रूर किया है, पर वह भी अप्रत्यक्ष रीति से किया है। यद्यपि उपर्युक्त पुराने असली कागज़ों में तत्कालीन अनेक प्रकार की राजनैतिक हलचलें ही विशेष महत्व की हैं; और

उन्हीं का विशेष रूप से वर्णन किया है, तथापि यदि असली कागज़ात हमारे सामने आ जाते तो उनमें यदा कदा जिन सामाजिक और धार्मिक बातों की चर्चा अप्रत्यक्ष रूप से मिलती, उनका हम वर्तमान काल के लिये यथायोग्य उपयोग कर सकते। परन्तु जो हस्तलेख नष्ट हो चुके हैं, उनसे उक्त प्रकार का लाभ उठाने से हम अवश्य ही वंचित हैं। उपलब्ध सामग्री भी अधूरी है, और यदि उक्त साहब की हस्तलिखित प्रतियां भी प्राप्त होतीं, तो उनसे भी बहुत कुछ बातें जानी जा सकती थीं। पर अब उनके नष्ट हो जाने से वैसी आशा करना व्यर्थ है। अतः काव्येतिहाससंग्रह, विविधज्ञानविस्तार इत्यादि सामयिक पत्रों में तद्विषयक जो बहुत सी सामग्री प्रकाशित हुई है, उसी के आधार पर, हम इस लेख के द्वारा कुछ विषयों पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

उक्त सामग्री से हमें सबसे पहले यही देखना है कि प्रजा की सामाजिक और धार्मिक बातों में सरकार ने कैसा योग दिया था। इस विषय में, मराठा-साम्राज्य की बाल्यावस्था में ही शिवाजी ने किस प्रथा का अवलंबन किया था, यह बात भी हम भलीभांति देख सकेंगे। यहां पर यह लिख देना भी आवश्यक जँचता है कि, उस समय यद्यपि परिस्थिति प्रतिकूल थी; और अन्य सारी बातों की अपेक्षा, श्रेष्ठ क्षात्रतेज ही सभी लोगों की नस नस में दौड़ रहा था, तथापि, समय निकाल कर बड़े परिश्रम से, महाराज शिवाजी ने राज्यप्रबंध की एक नई नियमबद्ध प्रणाली भी प्रचलित की। वह प्रणाली इतनी उच्च कोटि की थी कि मराठों के इतिहास के, संपूर्ण काल में उसके समान अन्य कोई भी प्रणाली दिखाई नहीं देती।

हां, पहले माधवराव पेशवा के समय उस प्रणाली का अवलंबन अवश्य किया गया था। महाराजा शिवाजी के राज्य-प्रबंध की खास बात 'केबिनेट कौंसिल' अर्थात् अष्ट-प्रधान-मंडल की स्थापना है। उन अष्ट-प्रधानों में से एक को पंडितराव कहते थे। अन्य प्रधान या मंत्रियों तथा बड़े अधिकारियों की तरह पंडितराव को जो कार्य सौंपे जाते थे, उनका उल्लेख शिव-राज्याभिषेक शाके १ ज्येष्ठ कृष्णा १३ मंगलवार (सन् १६७४ ई०) को लिखे हुए एक प्राचीन पत्र में निम्न प्रकार से किया गया है:—पंडितराव को राज्य के धर्म-विषयक सभी कार्यों की देख-भाल करनी चाहिये। धर्मशास्त्र के अनुकूल लोगों का बर्ताव है या नहीं, इस बात की जांच करके दुराचारियों को दंड और विद्वानों का आदर करना चाहिये। धर्मशास्त्र की तीन शाखाएं—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त—अर्थात् बर्ताव, दीवानी और फ़ौजदारी तथा अपराधी ठहराये जाने पर प्राय-श्चित देने के बारे में जो हुक्म होते थे उन पर उन्हीं के हस्ता-क्षर हुआ करते थे। शांति तथा अन्य धार्मिक कार्य और सर-कारी धर्मादाय का कार्य भी उन्हीं के हाथ में था। चिटणीस-कृत शिवाजी-चरित्र में लिखा है कि, मंत्रिमंडल की रचना तथा मंडल के कर्तव्य-कर्म, पुरानी परिपाटी के अनुसार ही, महाराज शिवाजी ने निश्चित किये थे।

सन् १७१६ ई०, राज्याभिषेक शाके ४२ मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्थी गुरुवार का, शंभू छत्रपति महाराजा कोल्हापुर का लिखा एक आज्ञापत्र प्राप्त हुआ है। उसमें लिखा है:—राजा का यह भी एक कर्तव्य है कि, अधर्म की ओर से लोगों को परावृत किया जाय, प्रजा में धर्म-प्रीति बढ़ाई जाय; और इस

प्रकार उन्हें परलोक में शाश्वत सुख का लाभ प्राप्त कराया जाय। इसी से उस आज्ञापत्र में एक यह भी नियम लिखा गया है कि, धर्म के विरुद्ध नास्तिक मतों का प्रचार कहीं पर भी न होने देना चाहिये; और यदि कहीं वैसा सुनाई पड़े, तो शीघ्र ही स्वयं तहकीकात करके उस मत के प्रचारक को दंड देना चाहिये, जिससे उन अधर्म-कर्मों को कोई न करे; और वे नष्ट हो जावें।

उक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि, मराठे राजा अपनी प्रजा के धार्मिक कर्मों का नियमन करना अपना स्वत्व अथवा कर्तव्य मानते थे; और उस राज-कर्तव्य को पालन करने के लिये सर्वदा ब्राह्मण ही मंत्री नियत किये जाते थे। वे कर्तव्य-कर्म केवल काग़ज़ी घोड़ों की तरह ही नहीं थे; वरन् उन पर वास्तव में अमल भी किया जाता था। उदाहरणार्थ—महाराजा शिवाजी के अनन्तर उनके पुत्र संभाजी गद्दी पर बैठे। उनका कलुशा नामक एक प्रिय मित्र था। उसे कवजी (कवि जी ?) भी कहते थे। उसने अनेक घोर पाप किये; और वह बड़ा दुराचारी भी था। एक बार उसने संभाजी को सलाह दी कि, बड़े बड़े विद्वान् ब्राह्मणों को—जो अपने को छै शास्त्रों के गुरू कहलाते हैं—प्रायश्चित दिलाना चाहिये। तदनुसार संभाजी ने भी हुक्म दे दिया। धर्म-विषयक सारे कार्य पंडितराव मंत्री के हाथ में थे। उन्होंने संभाजी को उसके लिये बहुत कुछ समझाया; पर उन्होंने एक बात भी न मानी। तब बेचारे ब्राह्मणों को प्रायश्चित लेना पड़ा! वास्तव में ब्राह्मणों के कोई अपराध, प्राप्त सामग्री से, ज्ञात नहीं होते; और न उनके ज्ञात करने के कोई साधन ही हैं।

शाहू राजा के राजत्वकाल में, बालाजी बाजीराव पेशवा के समय, ब्राह्मण और प्रभू (कायस्थ) जाति के बीच के बरसों से चले आये हुए झगड़े को निपटाने का सरकार ने निश्चय किया। महाराजा शिवाजी के समय से उस झगड़े की बुनियाद पड़ी थी। उस समय जो कुछ तय किया गया था उसकी पाबंदी संभाजी, राजाराम और महाराजा शाहू के आधे राजत्वकाल तक हुई। परन्तु वह कलहाग्नि फिर से जल उठी। उस समय महाराज शिवाजी की तरह शाहू का भी प्रभुओं से अधिक प्रेम था। प्रभुओं के इतिहास को कलंकित करने के लिए प्राचीन पौराणिक तथा सह्याद्रिखंड जैसे अन्य ग्रंथों में ब्राह्मणों ने कुछ नये श्लोक बना कर सम्मिलित कर दिये हैं। जब बालाजी पेशवा तक वह झगड़ा पहुँचा, तब उन्होंने राजा शाहू के पास एक खरीता भेजा कि पुरानी प्रथा को न छोड कर ब्राह्मणों के खड़े किये हुए झगड़ों को मिटाना चाहिये; और इस विषय में ब्राह्मणों के लिये स्थायी स्वरूप के और स्पष्ट हुक्म भी होने चाहियें। तब राजा शाहू ने शीघ्र ही कृष्णा नदी के तट वाले, खंदा और माहुली के सभी ब्राह्मणों को, हुक्म दिया कि, बीजापुर के शाही अमल तथा शिवाजी, संभाजी, राजाराम, ताराबाई तथा वर्तमान (शाहू) राजत्वकाल के पूर्वभाग में जो धार्मिक कार्य ब्राह्मणों के द्वारा किये जाते थे, वे भविष्य में भी बराबर होते रहें। उसी समय पंडितराव रघुनाथपंत ने भी पुरानी प्रथा का अवलंबन करने के लिये एक विज्ञप्ति प्रकाशित की। इतना होने पर भी उस झगड़े का फ़ैसला नहीं हुआ। प्रतिनिधि जगजीवनराव पंडित और उनके गुमाश्ता यमाजी ही शाहू

का राजकाज देखते थे, वे शाहू का अंतकाल समीप आता देखकर उस आज्ञा को नहीं मानते थे। अंत में राजा के मरने पर बालाजी पेशवा ने उक्त दोनों महाशयों को कारागार में रखकर प्रभुओं के घराने के धर्मकृत्यों की पुरानी परिपाटी को ही कायम रखने के लिये आज्ञा दी। उस समय से माधवराव के पूरे राजत्वकाल और नरायणराव पेशवा के राजत्वकाल के आरम्भ तक उस आज्ञा का पालन किया गया था।

इसके बहुत दिन बाद, सवाई माधवराव के समय में नरहरि रानलेकर मुसलमान बन गया था। परन्तु अंत में उसे पश्चात्ताप हुआ; और उसने फिर से हिन्दू धर्म में लेने को पेशवा से प्रार्थना की। तब पेशवा ने पैठन के ब्राह्मणों को हुक्म दिया कि, यद्यपि धर्मभ्रष्ट फिर से, शास्त्र के अनुसार हिन्दू धर्म में सम्मिलित नहीं किया जा सकता, तथापि इस ब्राह्मण को पवित्र कर लिया जाय। उस समय ब्राह्मणों ने उसे पवित्र कर लिया, जिससे ब्राह्मणों में दो पक्ष हो गये। तब सरकारी कर्मचारियों ने वहां पर पहुंच कर दोनों पक्षों में एकता कराई, जिसका यह परिणाम हुआ कि अन्य स्थानों के लोगों ने पैठन के सभी ब्राह्मणों को वहिष्कृत कर दिया। अन्त में सरकार को पैठन के सभी ब्राह्मणों को प्रायश्चित दिलाना पड़ा। उस हुक्म में यह भी लिखा गया है कि पैठन के ब्राह्मणों का उस परगने के अन्य ब्राह्मणों से भी संबंध हो गया था; अतः उन्हें भी प्रायश्चित दिया गया। इस घटना से उस न्यायशास्त्र की तीक्ष्णता तो अवश्य ही दिखाई देती है। इसी प्रथा का स० १८०० ई० में भी अवलंबन किया गया था। पेशवा के खानगी नौकरों में एक जीनगर (मोची) भी था; और उसने

अपनी जाति छिपाई थी, परन्तु जब उसका सच्चा हाल मालूम हुआ तब उसे सज़ा दी गई और पूना के सभी ब्राह्मणों को शुद्ध किया गया।

सदाशिवराव भाऊ ने त्र्यम्बकेश्वर के एक अपूर्व धार्मिक झगड़े का फ़ैसला किया था। सिंहस्थ में तीर्थस्नान करने का पहला हक किसे है–इस बात का गिरि और पुरी गुसाइयों में भारी बखेड़ हुआ। सदाशिवराव भाऊ ने दोनों पक्ष के महंतों सहित कुशावर्त तीर्थ में स्नान किया, जिससे दोनों का एक साथ ही स्नान हो जाने से वह झगड़ा ही मिट गया।

उक्त घटना के पूर्व पेशवा के त्र्यम्बकेश्वर में बनाये हुए मंदिर के विषय में दो जाति के ब्राह्मणों में जो झगड़ा हुआ, उसे पेशवा नहीं मिटा सके।

उस देवालय के दक्षिण द्वार के विषय में यजुर्वेदी और आपस्तंब ब्राह्मणों में मतभेद होजाने से जो झगड़ा हुआ, उसके कारण पेशवा अपने इच्छा के अनुसार प्रतिष्ठापन-समारंभ नहीं कर सके। कहा जाता है कि इस देवालय के पत्थर पुरानी मसजिदों के थे, पर वे मसजिदें गिरी हुई थीं या कैसी, इस बात का पता नहीं।

पहिले बाजीराव पेशवा भी प्रजा में मतभेद हो जाने के कारण, अपनी एक इच्छा पूर्ण नहीं कर सके थे। पेशवा की बखर में लिखा है कि मस्तानी नामक मुसलमान औरत से बाजीराव के जो पुत्र हुआ था, उसका यज्ञोपवीत संस्कार कराने की उन्हें इच्छा थी। परन्तु ब्राह्मणों के असम्मत होजाने से उनकी वह इच्छा पूर्ण न हो सकी। बाजीराव के एक चरित्र में बाजीराव और मस्तानी के विवाह के विषय में

लिखा है कि, मस्तानी हैदराबाद के नवाब निज़ाम की लड़की थी। उसकी माता की यह इच्छा थी कि यदि मस्तानी का बाजीराव से विवाह हो जाय तो निज़ाम और पेशवा में एकता रहेगी। उसने निज़ाम से अपनी इच्छा कह सुनाई। अनंतर विवाह हुआ, पर वह बाजीराव के साथ नहीं, किन्तु उनकी कटार के साथ! फिर बाजीराव उसे पूना ले गये और वहां शनिवार-वाड़े के चौक में उसके लिये एक सुन्दर महल बना कर उसमें उसे रक्खा।

इस समय हिन्दुओं का जिस महत्वपूर्ण सामाजिक विषय की ओर ध्यान आकर्षित हुआ है, उसके विषय में भी पेशवा ने आज्ञापत्र प्रकाशित किया था। वह आज्ञापत्र किस पेशवा का है, इसके विषय में जानने के लिए कोई मार्ग नहीं। उसमें लिखा है कि वाई के प्रदेश में कोई भी ब्राह्मण अपनी कन्या के बदले में द्रव्य न ले और अगर कोई लेगा तो उससे दूनी रक़म उसे सरकार में जमा करनी होगी। जो द्रव्य देगा उसे भी दूनी रक़म देनी होगी; द्रव्य-लाभ से विवाह-संबंध कराने वाले मध्यस्थ जो दलाली लेंगे वह रक़म भी ज़ब्त की जावेगी। जिस कर्मचारी के द्वारा उक्त हुक्म दिया गया था उसे ताकीद कर दी गई थी कि सभी ब्राह्मणों और ज़मींदार, धर्माधिकारी पुरोहित, जोशी, पटेल, पटवारी, इत्यादि को सरकार का यह हुक्म समझा दिया जावे; और यदि कोई कहे कि दहेज के अनुसार हो खर्च किया गया है, तो ऐसे बहाने न सुने जायँ; और हुक्म के अनुसार वह रक़म वसूल की जाय। साथ ही वाई नगर और अन्यान्य सरकारी गांवों के लोगों को तथा देशमुख, देशपांडे आदि कर्मचारियों को भी वह हुक्म

प्रकाशित करने के लिये शपथ लेनी पड़ी थी। यह हुक्म सभी प्रकार के लोगों के लिये था। परन्तु उस बुरी प्रथा से जिन लोगों का सम्बन्ध था, उन कन्या-विक्रय करने वालों, लड़की मोल लेने वालों और ऐसा सौदा कराने वाले लोभी मध्यस्थों के लिये बड़ी कड़ी शर्तें रखी गई थीं।

उक्त उदाहरण से जान पड़ता है कि, मराठा-साम्राज्य में धर्मगुरु और सरकार का अच्छा एकीकरण हुआ था। यह एकीकरण केवल तत्व की दृष्टि से ही नहीं, वरन् व्यवहार में भी दिखाई देता था। मराठा राजाओं की तरह ब्राह्मण पेशवाओं ने भी उस प्रथा का अवलंबन किया था। हां, पेशवा के उक्त आज्ञापत्र पर छत्रपति शाहू की मुहर है, पर केवल उस सिक्के का कितना महत्व होगा, इस बात के बतलाने की आवश्यकता नहीं है। धर्मगुरु और सरकार का एकीकरण होने में कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि इस समय भी लोगों को यह बात पसंद नहीं है कि, पारमार्थिक और धार्मिक बातें राजकीय बातों से दूर रहें। शिवाजी ने तो विदेशीय आक्रमणों से हिंदू धर्म की रक्षा होने के ही मुख्य प्रोत्साहक तत्व पर अपनी हलचल शुरू की थी; और वही बात पेशवाओं के राजत्वकाल में भी रही। बहुत लोग आश्चर्य मानते हैं कि, धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप करने में मराठे राजा कैसे तैयार और समर्थ हुए? परन्तु इसका मुख्य कारण यही है कि, शिवाजी के क्षत्रिय होने का लोगों को विश्वास होगया था। यहां पर इस बात का लिखना भी आवश्यक है कि, आधुनिक शास्त्री पंडित, वर्तमान समय में, ब्राह्मण और शूद्रों के अतिरिक्त अन्य किसी जाति के अस्तित्व को ही नहीं मानते। और संभवतः

'नंदान्तं क्षत्रियकुलं' इस भागवत पुराण के वचन के आधार पर ही वे शिवाजी को क्षत्रिय नहीं मानते। परन्तु श्री समर्थ रामदासजी ने तो शिवाजी के क्षत्रियत्व को स्वीकार किया था। दूसरा कारण राजा को ईश्वरीय अंश मानने की प्राचीन प्रथा भी कही जा सकती है। इसी समझ के कारण, कहते हैं कि, दिल्ली के बादशाह को भी तत्कालीन लोग ईश्वर मानते थे। यदि यही बात ठीक मान ली जावे तो शिवाजी और संभाजी को भी हमें ईश्वर का अंश मानने के लिये तैयार रहना चाहिये।

सभासद-रचित शिवाजी के चरित्र से भी यह ज्ञात होता है कि, शिवाजी की मुख्यतः हलचल धार्मिक थी; और इसी कारण हिंदुओं के देवालयों तथा अन्य संस्थाओं की रक्षा के साथ ही उन्होंने मुसलमानों के पीरों, मसजिदों आदि स्थानों की व्यवस्था के लिये दी हुई माफियां भी पूर्ववत् ही क़ायम रखी थीं। उक्त चरित्र सन् १६९४ ई० में शिवाजी के पुत्र राजाराम की इच्छा से लिखा गया था; अतः उसकी प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं हो सकता।

धार्मिक अधिकार के विषय में यहां पर एक बात और भी बतला देना उचित होगा। कायस्थ प्रभुओं की बखर से ज्ञात होता है कि, बीजापुर के मुसलमान राजाओं की हिन्दू प्रजा में समय समय पर झगड़े हुआ करते थे, उस समय उनका फैसला करने के लिये वे शासकों से सहायता लेते थे। उदाहरणार्थ—जब कोंकन में ब्राह्मण और प्रभुओं में झगड़ा हुआ, तब दोनों पक्ष के लोग बीजापुर के मुसलमान सूबेदार के पास न्याय के लिये गये। उस समय उसने कहा, "मैं

मुसलमान हूं; और मुझे तुम्हारे शास्त्र का ज्ञान नहीं है; अतः अच्छा तो यही होगा कि तुम अपने पवित्र तीर्थ काशी जाकर वहां के पंडितों से फैसला करा लाओ। उसका पालन कराना मेरा काम होगा।" अनंतर वे लोग काशी गये। वहां पर पंडितों की बड़ी भारी सभा हुई और बहुत कुछ विवाद होने पर निर्णय किया गया कि प्रभू असली क्षत्रिय हैं, वेदानुकूल कर्म करने का उन्हें अधिकार है और गायत्री मंत्र भी वे पढ़ सकते हैं। तब कहीं ब्राह्मणों को विश्वास हुआ और उन्होंने प्रभुओं को वैदिक कर्म करने से नहीं रोका। अस्तु।

शिवाजी के पिता शहाजी के विवाह की चमत्कार-पूर्ण घटना से भी उक्त प्रकार का एक और उदाहरण ज्ञात होगा। शहाजी के पिता मालोजी और काका विठूजी निजामशाही के मनसबदार लखजी जाधवराव के यहां पर नौकर थे। सन् १५९८ ई० में जाधवराव के महल में रंगपंचमी का उत्सव हुआ। उस समय मालोजी भोंसले अपने पुत्र शहाजी को भी साथ लेगये थे। शहाजी की अवस्था उस समय ५ वर्ष की थी; अतः उस स्वरूप-सुंदर वामन मूर्ति को जाधवराव ने अपनी तीन वर्ष की कन्या के पास बिठलाया। उस समय जाधवराव स्वाभाविक ही बोल उठे, "इन बालकों की जोड़ी बड़ी अच्छी मालूम देती है।" इसके बाद उन्होंने कन्या से विनोदपूर्वक कहा, "शहाजी तेरा दुलहा है—क्या यह तुझे पसंद है?" यह सुन कर मालोजी और विठूजी ने वहां पर उपस्थित लोगों से कहा, कि इन बालकों के विवाह के विषय में जाधवराव ने अनुकूल मत दिया है; और इस बात के आप साक्षी हैं। परन्तु जाधवराव की पत्नी को यह बात नहीं भाई; और

उसने उन दोनों भाइयों को नौकरी से हटा दिया। तब उन्होंने दो तीन हज़ार सिपाहियों की एक पलटन तैयार की; और फिर वे दौलताबाद के निकट एक स्थान पर पहुंचे, तथा कुछ सुअर मारकर वहां की एक मसज़िद में डाल दिये; और निज़ाम को एक पत्र लिखा कि, जाधवराव और हम में एक करार हुआ है। उस क़रार के अनुसार यदि आप विवाह संबंध कराने में सहायक न होंगे, तो इस मसज़िद की तरह अन्य मसज़िदें भी हम भ्रष्ट कर डालेंगे। अतएव निज़ाम ने ज़ाधवराव को विवाह के लिये बाध्य किया; और उन दोनों भाइयों को अपना आश्रय देकर, अपनी ही देख-भाल में, बड़े धूम-धड़ाके के साथ, विवाहोत्सव कराया। उस संबंध में कई बातें अपूर्व और अपवादक भी हुईं, पर इससे यह बात सिद्ध होती है कि विवाह के विषय में भी हिन्दू प्रजा मुसलमानों से सहायता लेती थी।

खर्डा के युद्ध की बखर से भी ज्ञात होता है कि, धार्मिक विषयों में न्याय-व्यवस्था दी जाती थी; और उस पर पूरा पूरा अमल भी किया जाता था। एक बार तलेगांव की एक ब्राह्मण स्त्री से एक मुसलमान का संबंध होगया। तब वहां के ब्राह्मणों ने इस बात की नाना फड़नवीस से शिकायत की और "अब ब्राह्मण नष्ट हो चले" इत्यादि बातें कह कर उन्हें उत्तेजित किया। नाना को उस बात पर विश्वास नहीं हुआ; पर अंत में उसकी जांच करने के लिये पंच नियत किये। जब मुसलमानों ने पंचों को अपनी ओर मिला लिया और वह मामला असत्य साबित करने की वे कोशिश करने लगे, तब सौ दो सौ ब्राह्मण पूना पहुँचे। उस समय पेशवा खर्डा को

युद्ध के लिये जाने को तैयार थे। परन्तु वे लोग दोपहर के समय हाथ में मशालें लेकर पेशवा के तंबू के पास पहुंचे; और 'हरहर महादेव' की गर्जना की। पेशवा के पूंछने पर उन्होंने कहा, आपके राज्य में अंधेर है और अन्याय हो रहा है; इसीसे हमने दिन में मशालें जलाई हैं। इस पर पेशवा ने नाना फड़नवीस को बुलवा कर पंचों और उस अपराधी स्त्री की जांच की। पहले तो उस स्त्री ने चुप्पी साध ली, पर अंत में जब उसे दंड का भय दिखाया गया, तब उसने अपराध को स्वीकार किया। दण्ड में अपराधी मुसलमान को तो गधे पर उलटा चढ़ाकर बस्ती में घुमाने और फिर उसे हाथी के पैरों में बँधवा कर मरवा डालने का हुक्म हुआ; और स्त्री को प्राणदंड देना उचित न समझ कर देशनिकाले की सज़ा दी गई।

उक्त घटना से मराठे राजाओं के धार्मिक अधिकारों का हाल ज्ञात हो सकता है। वे राजा शासक और धर्मगुरु के नाते कानून बनाते थे। पंचों के द्वारा अपने निरीक्षण में फ़ैसले करवाते थे। अन्यान्य सरकारी कार्य विभिन्न विभागों के मंत्रियों के द्वारा होते थे; और कर्मचारियों के द्वारा नियमों की पाबन्दी की देखभाल हुआ करती थी। जिन कागज़ों में उक्त घटना का उल्लेख है, उनमें महाराज शिवाजी से लगा कर दूसरे माधवराव पेशवा के समय तक की घटनाओं की चर्चा की गई है। जो मराठे राजा धार्मिक अधिकारों के द्वारा फ़ैसले करते थे वे क्षत्रिय माने जाते थे। जो ऐतिहासिक सामग्री अब तक प्रकाशित हुई है, उसमें ऐसे विषयों पर बहुत कुछ उल्लेख पाया जाता है। परन्तु उसमें शिवाजी के विषय में

जो कुछ लिखा गया है उससे ज्ञात होता है कि शिवाजी के क्षत्रिय होने की बात, राजनैतिक और उपयोगिता की दृष्टि से ही, समर्थनीय है, तो भी इस विषय में तत्कालीन सभी लोगों का एकमत नहीं था। सभासद और चित्रगुप्त रचित शिवाजी के चरित्रों में लिखा है कि, शिवाजी के घराने के मूल-स्थान का खोज करने से पता चलता है कि, उदयपुर के सीसोदिया राजपूत शासकों के ही वंशज थे। उनके राज्याभिषेक की बात छिड़ने पर ही उनकी जाति और कुल के विषय में अन्वेषण हुआ। चिटनवीस का इतिहास तत्कालीन निश्चित सिद्धान्तों के ही आधार पर लिखा गया है। तो भी उससे जाना जाता है कि अभिषेकोत्सव ही के लिये काशीजी से गागाभट्ट नामक पंडित बुलाया गया था। परन्तु जब उसने अभिषेक-विषयक मंत्रों का उच्चारण करने से इन्कार कर दिया, तब उसको राजनीति की बात समझाई गई, जिससे उसका समाधान हो गया; और फिर विधिपूर्वक राज्याभिषेक समाप्त हुआ। दूसरे एक और कार्य में शास्त्रार्थ की खींचातानी करनी पड़ी। राज्याभिषेक होने के पूर्व, क्षात्रधर्म के लिये, यज्ञोपवीत-संस्कार के किये जाने की आवश्यकता होती है, इसीसे शिवाजी की ४५ वर्ष की अवस्था में, जब उनके दो पुत्र हो चुके थे तब कहीं, उन्हें जनेऊ दिया गया। इस शास्त्र-विरुद्ध कार्य को करने के लिये सभी ब्राह्मण और पंडितों ने सम्मति दी। प्राप्य ऐतिहासिक सामग्री से शिवाजी के वंशजों के अतिरिक्त किसी को भी जनेऊ नहीं पहिनाया गया था; और वह भी उनके राज्याभिषेक के समय ही। ऐसी दशा में चिटनवीस और सभासद के इस कथन के विषय में, कि

शहाजी सीसोदिया जाति का था, या जयपुर के मिर्ज़ा राजा जयसिंह ने शिवाजी को क्षत्रिय मानकर उनके राज्याभिषेक के पूर्व ही उनसे रोटी-व्यवहार किया था, किसी को आशंका हो तो वह क्षम्य है। अनंतर सितारा के राजा, ग्वालियर के सेंधिया, नागपुर के भोंसले, घोरपड़े और अन्य मराठे सरदार भी क्षत्रिय होने का दावा करने लगे। परन्तु शिवाजी के चरित्रावलोकन से हमें उक्त दावे के विषय में आश्चर्य नहीं होता। सभासद ने लिखा है कि, शिवाजी के अपूर्व स्वागत के कारण गागाभट्ट लट्टू हो गये; और उन्होंने कहा कि "जब कि मुसलमान बादशाह सिंहासन पर बैठ कर छत्र-चामरादि चिन्ह धारण करते हैं, तब स्वपराक्रम से राज्य स्थापित करने वाले शिवाजी के राजचिन्ह धारण करने में क्या हानि है?" शिवाजी को यह युक्तिवाद बहुत ही भाया और उन्होंने राज्याभिषेक करने का निश्चय किया। बस, उसी समय शिवाजी की ज़ाति का पता लगाकर उनके क्षत्रिय होने का प्रतिपादन किया गया। इस विषय की सभी बातों को विचार करने से ज्ञात होता है कि, केवल राजनीति की दृष्टि से जो सिद्धान्त स्थापित किया गया था, उसी को प्रमाण-सिद्ध मानने के लिये परिस्थिति और धर्मशास्त्रांतर्गत नियमों का बुद्धिपूर्वक अवलंबन करके उस सिद्धान्त की पुष्टि की गई। जो सामग्री हमें प्राप्त है, उससे उक्त प्रकार की चालबाज़ी और न्यूनाधिक महत्व के धार्मिक नियमों के स्पष्ट उल्लंघन की कई घटनायें मालूम होती हैं। उदाहरणार्थ—शिवाजी जब दिल्ली के कारागार से, संभाजी-सहित भाग निकले; और दक्षिण में पहुँचने के लिये मार्ग में अनेक अड़चनें देखीं, तब उन्होंने मार्ग में

काशीपंत नामक एक ब्राह्मण के यहां संभाजी को छोड़ दिया। यह ब्राह्मण संभाजी को अपना पुत्र बतलाता था, पर तौ भी औरङ्गज़ेब के पक्ष के कुछ लोगों को आशंका हुई; अतः उनके उस भ्रम को मिटाने के लिये उस ब्राह्मण ने, स्वधर्म के विरुद्ध मुसलमानों के कहने पर, एक ही थाली में संभाजी के साथ बैठ कर भोजन किया; और संभाजी के प्राण बचाये। चित्रगुप्त का कथन है कि उस ब्राह्मण ने अपने इस कर्म पर प्रायश्चित्त भी किया था। भोजन के समय, संभाजी को यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार न होते हुए भी, उसे ब्राह्मण का रूप दिया गया था। अनंतर संभाजी को युवराज बनाने की इच्छा ही से शिवाजी ने संभाजी का सन् १६७६ के लगभग यज्ञोपवीत संस्कार कराया था।

शिवाजी के घराने में उक्त प्रकार की एक और घटना हुई थी। शहाजी की मृत्यु हो जाने पर जब उनकी पत्नी जीजाबाई सती होने लगी, तब शिवाजी ने माता को बहुत कुछ समझा कर कहा कि यदि तुम सती हो जाओगी तो मेरे भी अधिक दिनों तक जीने की आशा नहीं, जिससे बना-बनाया महाराष्ट्र-साम्राज्य मिट्टी में मिल जायगा। यह सुन कर जीजाबाई ने अपना आग्रह छोड़ दिया। इसी प्रकार की कई घटनाएँ पेशवाओं के समय में भी हुई। पेशवा ब्राह्मण थे; और युद्ध करने का उनका पेशा न होने पर भी, उन्होंने धर्मशास्त्र का उल्लंघन करके, उसको स्वीकार किया था; परन्तु उनका इतना अधिक प्रचार होगया कि, उसके धर्म-बाह्य होने की किसी को आशंका भी नहीं हुई। जब पहले माधवराव पेशवा स्नान-संध्यादि में अधिक समय बिताने लगे, तब

जो ऐतिहासिक कागज़ात इस समय प्रकाशित किये गये हैं, उनसे एक और आश्चर्यजनक बात ज्ञात होती है। दूसरे माधवराव पेशवा ने अपनी दादी गोपिकाबाई (बालाजी बाजीराव अर्थात् नाना साहब की पत्नी) से एक पत्र द्वारा, अपने दैनिक आचरण के विषय में, उपदेश करने के लिये प्रार्थना की थी। इस पर उन्होंने एक उपदेश-पूर्ण पत्र लिखा कि, "तुम स्नान-संध्या की ओर अधिक ध्यान मत दो। घर के देवता की पूजा तो पुरोहित करते ही हैं; तुम्हारे केवल पुष्प-तुलसी चढ़ाने से काम हो जायगा।" इस प्रकार एक वृद्धा स्त्री के एक नन्हें और थोड़े लिखे-पढ़े हुए बालक को किये हुए उपदेश से जाना जाता है कि, उस समय पेशवा के घराने में धार्मिक कृत्यों में बहुत कुछ ढिलाई थी। गोपिकाबाई बड़ी चतुर, और व्यवहारदक्ष स्त्री थी; अतः पेशवाशाही के प्रसिद्ध पुरुषों के आचरण के विषय में उसे अवश्य ही पूर्ण ज्ञान होगा।

अन्नग्रहण करने के नियमों में भी ढिलाई आ गई थी, जिनके विषय में कुछ चमत्कार-पूर्ण बातें प्रसिद्ध हैं। चिट-नवीस-कृत शाहू के चरित्र-प्रकाशक की एक टिप्पणी से ज्ञात होता है कि परशुराम त्र्यंबक प्रतिनिधि का पुत्र जब कोल्हापुर के राजा के पक्ष में चला गया, तब शाहू महाराज प्रतिनिधि से कुपित हो गये थे; अतः उनके मरवाने का प्रबन्ध हो ही रहा था कि, इतने में खंडो बल्लाल चिटनवीस ने, बड़े प्रयत्न से, प्रतिनिधि के प्राण बचाये। उसी समय से प्रतिनिधि के घराने में श्राद्ध के समय अन्य ब्राह्मणों के साथ चिटनवीस घराने के किसी मनुष्य को भी निमंत्रित किया जाता था। भोजन-विषयक कड़े नियमों की पाबंदी न रखने के विषय में

खर्डे के युद्ध की बखर में भी एक घटना लिखी है। विजय प्राप्त हो जाने पर नाना फड़नवीस, पेशवा को अपने साथ लेकर, सभी सरदारों से मिलने के लिए गये। उस समय जब वे सिंधिया के सरदार जिवबादादा और लखबादादा के पास पहुंचे, तब उन्होंने पेशवा को भोजन के लिये बुलाया। उस समय पेशवा ने नाना से पूछा, "ये लोग शेणवई–सारस्वत ब्राह्मण हैं; अतः उनकी प्रार्थना को कैसे स्वीकार किया जावे?" इस पर नाना ने कहा "ब्राह्मण रसोइयों के द्वारा ही भोजन बनाया गया है; अतः यदि ये सारस्वत हैं तो कोई हानि नहीं। जिवबादादा ने बड़ी शूरता दिखलाई है; अतः उनकी इच्छा को भंग करना ठीक नहीं है। सरदारों से संबंध रखने में इस प्रकार अड़चनें सर्वदा ही आवेंगी, पर उनको दूर करना चाहिये।" इसके बाद पेशवा ने सभी ब्राह्मणों सहित भोजन किया। उनका उक्त आचरण आचार के विरुद्ध था, पर तत्कालीन राजनैतिक अड़चनों के कारण सभी को यह उचित और क्षम्य ज्ञान पड़ा। इसके पश्चात् पेशवा परशुराम भाऊ पटवर्धन के पास पहुंचे; और वहां पर भी उन्हें भोजन के लिये आग्रह किया गया। पर भाऊ को अशौच (सूतक) था, तो भी नाना ने समयानुकूल और व्यावहारिक सलाह देकर भाऊ की इच्छा तृप्त करने पर ज़ोर दिया। अंत में पेशवा ने सभी लोगों के सहित वहां पर भोजन किया। भाऊ सूतक में होने के कारण एक तरफ़ बैठे थे। पेशवा ने जब भाऊ की उक्त प्रार्थना स्वीकृत की, तब भाऊ को बड़ा आनंद हुआ; और वे अपने भतीजे की मृत्यु के दुख को भी भूल गये। साथ ही उन्होंने पेशवा से भी कहा कि, 'हमारे यहां सूतक होते हुए

भी आपने भोजन किया, आपकी यह कृपा हमारी समर-शूरता का भारी पारितोषिक है !'

इसी प्रकार की एक और कथा कही जाती है, पर उसके लिए विश्वस्त प्रमाण नहीं है। दूसरे माधवराव पेशवा का विवाह बड़े ठाट-वाट से हुआ था। पेशवाओं के राजत्व-काल में वैसा अपूर्व उत्सव पहले कभी नहीं हुआ था। पेशवाओं की बखर में उसका विस्तृत वर्णन किया गया है। शाके १७०४ (सन् १७८२) का एक कागज़ हमें मिला है, जिसमें सुगंधित सामग्री, मेवामिष्ठान्न, खेल, तमाशा, देख-भाल करने-वाले मनुष्य, आदि जिन अनेक वस्तुओं की उक्त विवाहोत्सव के लिये आवश्यकता हुई थी, उनकी व्यवस्था के विषय में सूचनायें लिखी हुई हैं। इसके अतिरिक्त उससे यह भी ज्ञात होता है कि सरदार, सिलेदार (अश्वारोही), मराठे, मुसलमान, अलीबहादुर और अन्यान्य बड़े सम्माननीय सज्जनों के एक स्थान पर एकत्रित हो जाने पर उन्हें समधी के यहां कलेऊ के लिये भिजवाने और योग्य समय पर राजमहल में भी भोजन के लिये निमंत्रित करने की सूचना दी गई थी। इसके अतिरिक्त नवाब, भोंसले, उच्च श्रेणी के सिलेदार, मुख्य मुख्य कर्मचारी, होलकर, मराठे और मुसलमानों को भी निमंत्रित करके, पूर्व परिपाटी के अनुसार, भोजन और नाच-गाने के जलसे में बुलाने की बात लिखी है। निमंत्रण के अतिरिक्त उन्हें सीधा-सामग्री भेजने का भी उल्लेख है। भोजन के समय मराठे, मुसलमान, आदि विजातीय मेहमानों की कैसी व्यवस्था रखी जाती थी, अथवा उन्हें कैसे परोसा जाता था, इसका हाल उक्त कागज़ से ज्ञात नहीं होता। परन्तु संभव है कि वे एक ही पंगति में

बैठकर भोजन करते हों, या एक ही पात्र के द्वारा सभी को परोसा जाता हो। जो हो, उक्त वर्णन से यह तो ज्ञात होता ही है कि, मराठे और मुसलमान भी राजमहल और विवाहोत्सव में भोजन करते थे। ब्राह्मणों के लिये नियत भोजन-स्थान के अतिरिक्त, मराठे और मुसलमानों के लिये अलग स्थान नियत किये जाने का, उक्त लंबी-चौड़ी और सपरिश्रम लिखी हुई सूची से पता नहीं चलता।

अब विवाह-विषयक वर्णन लीजिये। इस विषय में भी पेशवा ने नई परिपाटी प्रचलित की थी। पर उसका अधिक प्रचार नहीं हुआ। बाजीराव का मस्तानी से नियम-विरुद्ध जो विवाह हुआ, उसके विषय में हमें अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। बालाजी बाजीराव के चित्पावन अर्थात् कोकनस्थ ब्राह्मण होने पर भी उनकी स्त्री देशस्थ ब्राह्मणों की श्रेणी में से थी। कहते हैं कि देशस्थ, कहाड़े और कोकनस्थ तीनों ब्राह्मणों में रोटी-बेटी व्यवहार का प्रचार करने के निमित्त उन्होंने कहाड़े ब्राह्मणों में भी अपना एक विवाह किया था। परन्तु इसके विषय में यथेष्ट प्रमाण नहीं। जो हो, बालाजी का उक्त उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ; क्योंकि आजकल यदि कहीं इस प्रकार का विवाह हो जाता है, तो लोग उसे अच्छा नहीं मानते।

पेशवा जैसे ब्राह्मणों का राज्य होते हुए भी धार्मिक कार्यों में मंत्र-तंत्र से अनभिज्ञ ब्राह्मणों का होना आश्चर्य की बात है। परशुराम भाऊ की मृत्यु होने पर उनके कर्मचारी नारो हरी करंदीकर की इच्छा हुई कि यथाविधि मंत्रोच्चार के साथ भाऊ साहब का अन्तिम संस्कार किया जाय; परन्तु जो ब्राह्मण उस समय चिता के निकट उपस्थित थे, उनमें से मंत्रोच्चार के

साथ अन्त्य संस्कार करानेवाला कोई भी न निकला । अतएव अन्त में साधारण रीति से ही अग्नि-संस्कार किया गया ।

धर्म के अन्य विषयों में भी अज्ञान उस समय था, जिसकी एक कथा प्रसिद्ध है। परन्तु यह किसी तरह उपर्युक्त अज्ञान की अपेक्षा क्षम्य है । जिन धावड़शी के स्वामी को पहले बाजीराव पेशवा और अन्य लोग महापुरुष कहते थे, उनकी मृत्यु के विषय में उनकी बखर में लिखा है कि, यद्यपि स्वामी की मृत्यु हो जाने पर, स्मशान-यात्रा के लिए गये हुए ब्राह्मणों ने, हाथ में उक्त क्रिया की पोथी लेकर, वह संस्कार कराया, तौ भी उनसे एक भारी भूल हुई । महाराजा शाहू ने जब पूछा कि, 'संस्कार यथाविधि हो गया ?' तब ब्राह्मणों ने कहा, 'जी हां, पूर्ण हो गया ।' पर महाराज को ज्ञात था कि, किसी स्वामी के समाधि लेने पर शंख से शव का मस्तक फोड़ा जाता है; अतः उनके इस विषय में पूछने पर ब्राह्मणों ने अपनी भूल स्वीकार की । तब उसके अज्ञान के विषय में महाराज ने निषेध प्रकट किया । हमने इस अज्ञान को ऊपर क्षम्य बतलाया है; क्योंकि सर्वसाधारण के अन्तिम संस्कार के समय के मंत्रों की सर्वदा आवश्यकता रहती है, अतएव ब्राह्मणों को उनका ज्ञान होना विशेष आवश्यक है । संन्यासियों के लिए यदा कदा काम पड़ता है, इस लिए यह क्षम्य है । तौ भी तत्कालीन परिस्थिति के देखते हुए उक्त अज्ञान भी आश्चर्यजनक ही है ।

उक्त प्रकार की एक और बात कही जाती है । बापू गोखले के काका धोंडोपंत, धोंडी बाघ नामक पिंडारे के हाथों मारे गये थे । उस समय बापू भी वहीं पर थे और वे भी कुछ

घायल हुए थे। बापू ने अपने काका का शरीर वहीं पर जला कर जाति-धर्म-नियम के अनुसार क्रियाकर्म करने के लिये पूना गये। उस समय धोंडोपंत की पत्नी ने उनका निषेध करके कहा, 'जब तक शत्रु का पूरा बदला न ले लिया जाय, उनका और्ध्वदैहिक कर्म न किया जाय।' अन्त में जब वह शत्रु मारा गया; और बापू ने उसका सिर अपनी काकी लक्ष्मीबाई को दिखला दिया, तभी उनकी क्रोधाग्नि शांत हुई; और धोंडोपंत का उक्त कर्म किया गया।

परशुराम भाऊ के चरित्र में एक महत्व की कथा है, पर प्रकाशित या अप्रकाशित अन्य ऐतिहासिक काग़ज़ों में उसकी चर्चा नहीं है। भाऊ की बयाबाई नामक कन्या का विवाह बारामती के जोशी के यहां पर हुआ था। विवाह के समय उसकी अवस्था केवल सात या आठ वर्ष की होगी। विवाह के अनंतर पंद्रह दिन के भीतर ही उसके पति की मृत्यु हुई। जब भाऊ ने वह घटना रामशास्त्री न्यायाधीश को सुनाई, तब उन्होंने कहा, 'इसका पुनर्विवाह करने में कोई हानि नहीं।' यहां तक कि काशी के विद्वानों ने भी उसके लिए सलाह दी थी। पर जब अन्त में भाऊ के इष्टमित्र पुनर्विवाह के पक्ष में न हुए; और समाज के विरुद्ध कार्य करने का उनको धैर्य न हुआ, तब उन्होंने वह विचार स्थगित कर दिया। परन्तु यह घटना इतिहास की दृष्टि से महत्व की है। परशुराम भाऊ पेशवा-दरबार के प्रतिष्ठित सरदारों में से थे। उनके जैसे धर्म-निष्ठ पुरुष का उक्त प्रकार के विचार से सहमत होना वास्तव में विचारणीय है। रामशास्त्री जैसे परम पूजनीय और श्रेष्ठ पंडित की, जिनकी उज्वल कीर्ति सारे महाराष्ट्र साम्राज्य में

फैली हुई थी, इस विषय में सम्मति प्राप्त होना भी कम आश्चर्य-जनक नहीं, तथा काशी के विद्वानों की तत्प्रीत्यर्थ सहानुभूति प्राप्त करना और भी अधिक आश्चर्य की बात है। इससे तत्कालीन स्थिति पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। ऐसी दशा में भी भाऊ का अपने विचार-पथ से विचलित होना उस समय के हिंदु-समाज की दशा का अच्छा दिग्दर्शक उदाहरण है।

इसी प्रकार की एक और भी कथा है। परन्तु उसके लिये भी कोई प्रमाण नहीं है। वह हम फार्ब्स साहब के 'पूर्वीय लोगों का इतिहास' से उद्धृत करते हैं। वे महाशय सन् १७६६ और उसके बाद भी कई वर्ष तक पश्चिमीय भारत में रहे थे। उन्होंने लिखा है कि, "राघोबा दादा ने जिन दो ब्राह्मणों को इङ्गलैंड भेजा था, उनके वापस लौटने पर उन्हें एक उत्तम सुवर्ण के स्त्रीलिंग से पार करके निकलना पड़ा, जो ख़ास तौर पर बनवाया गया था। उक्त विधि होजाने पर उन ब्राह्मणों को दानधर्म करना पड़ा; और तब वे पहले की तरह अपनी जाति में मिलाये गये; क्योंकि अपवित्र देशों में प्रवास करने के कारण उनमें मलीनता उत्पन्न होगई थी।" इससे सिद्ध है कि जब भारतवर्ष एकछत्री ब्राह्मण-साम्राज्य में था, तब भी "काला पानी" लांघने के महान् पातक का प्रायश्चित से क्षालन हो सकता था। परन्तु आजकल तो, कई लोगों के मतानुसार, द्विज लोग समुद्रयात्रा करके प्रायश्चित कर लेने पर भी, अपनी जाति में सम्मिलित नहीं हो सकते। इस सिद्धान्त से तत्कालीन लोग और शासक पेशवा भी सहमत नहीं थे।

उक्त उदाहरणों से ज्ञात हो जावेगा कि, तत्कालीन प्रचलित नियमों की कठोरता जानबूझ कर कमज़ोर की गई थी।

परन्तु इसके विरुद्ध भी दो चार बातें लिखना आवश्यक है। प्राप्त सामग्री से पेशवा के घराने में कई बाल-विवाहों के भी होने का पता चलता है। पेशवाओं में बालाजी बाजीराव नौ, उनके पुत्र विश्वासराव आठ, माधवराव नौ, नारायणराव दस और दूसरे माधवराव नौ वर्ष की ही अवस्था में विवाहित हो गये थे। केवल पेशवा के ही घराने में यह प्रथा प्रचलित नहीं थी; किन्तु नाना फड़नवीस के आत्मचरित से भी ज्ञात होता है कि, उनका विवाह भी दस ही वर्ष की अवस्था में होगया था। इसी प्रकार प्रथम पत्नी के मरने पर दूसरा विवाह करने के भी सैकड़ों उदाहरण हैं। पेशवाशाही के अंत में स्त्रियों के विषय में जो महत्व की घटनाएँ हुईं, उनकी भी, मिती-सहित, एक सची प्राप्त हुई है। शाके १७२६ श्रावण शुक्ला १२ को पूना में नागझरी के पास विधवा स्त्रियों के केश-वपन की विधि हुई थी। ऐसे अमंगल कर्मों का अधिक हाल ज्ञात होता, तो आवश्यक थी। विवाहोत्सव के अनंतर वेश्या का नृत्य होता था; और धर्मपत्नियां ही नहीं, वरन् बैठाली हुई स्त्रियां भी सती होती थीं।

उक्त सभी घटनाएँ और फुटकर बातें, जो एकत्रित करके हमने लिखी हैं; उनसे पूर्वकालीन राज्यों के मराठा-मंडल की सामाजिक और धार्मिक स्थिति का कुछ पता चलता है। आजकल की प्रचलित बातें उस समय भी किसी न किसी अंश में थीं। ब्राह्मणी पद्धति का स्वाभाविक ही उस समय अधिक प्रभाव था। परन्तु पूर्व-परंपरागत नियमों का कई बार उल्लंघन किया गया था; और जैसा कि ऊपर कहा है, इसके लिए नवीन नवीन युक्तियां भी निकाली गई थीं। आजकल

लोग कहते हैं कि इस देश में अंगरेज़ी राज्य के कारण पश्चिमी विचारों के फैलने से ही धार्मिक और सामाजिक नियमों में शिथिलता आगई है। परन्तु यह बात निर्मल है। हमारी समझ से यह शिथिलता पहले से ही थी। उपर्युक्त एक दो उदाहरणों में, उनके जो कारण लिखे गये हैं, उनसे कहा जा सकता है कि, भिन्न भिन्न परिस्थितियों में जिन नियमों का पालन किया गया, वे मराठाशाही की परिस्थिति के भी योग्य नहीं थे। सम्भव है कि, प्रथमतः खास खास बातों में अयोग्यता देख पड़ती हो; और उस समय प्रचलित नियमों का उल्लंघन हुआ हो। इस प्रकार जब एक बार एक जगह मार्ग निकल आता है, तब दूसरी जगहों में भी वैसे ही मार्ग बन जाते हैं— फिर परिस्थिति चाहे उतनी अनुकूल न हो, तो भी कोई चिन्ता नहीं।

जनरूढ़ि को न मानने के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं उनमें कई ऐसे हैं, जो उस समय की परिस्थिति को ध्यान में लाकर, पूर्ण विचार करने के बाद, स्वीकार किये गये; पर कुछ ऐसे भी हैं कि जिनके विषय में यह बात नहीं कही जा सकती: किन्तु परम्परागत नियमों की सर्वसाधारण शिथिलता जो उस समय हुई होगी, वही उनका भी कारण होगी। हमारा विश्वास है कि यदि पेशवा का राज्य नष्ट न होता, तो उक्त दोनों बातों में अधिक सुधार, नियमित सीमा तक, अवश्य, और शीघ्र ही, होते। यदि स्वदेशीय राजा ही राज्य करते होते, कि जिनके अधिकार-नियमों का वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं, तो धार्मिक और सामाजिक सुधारों में कोई असुविधा उपस्थित न होती; और वे सुधार, कुछ प्रत्यक्ष और

कुछ अप्रत्यक्ष रूप से, अवश्य ही होते। पर अब चूंकि अंगरेज़ों के समान विदेशी लोगों का राज्य हो गया है; और वे अपनी ही पद्धति के अनुसार शासन-व्यवहार कर रहे हैं; इसलिए उपर्युक्त विषयों में सुधार होने में कठिनाई उपस्थित हो रही है। हां, इनके राज्य में पश्चिमीय शास्त्र और कला, इतिहास और साहित्य की शिक्षा का जो प्रचार हुआ, वह स्वदेशी राजाओं के समय में न होता। पर धार्मिक और सामाजिक सुधार तो, सुविधा के साथ, अवश्य ही होते।

बहुत दिन पहिले ही सर हेन्री.सम्नर मेन नामक विद्वान् पुरुष ने कह दिया है कि, ब्रिटिश न्यायालयों के स्थापित हो जाने से ही हिन्दू धर्मशास्त्र की प्रगति रुक गई। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि, ब्रिटिश राजसत्ता के प्रभाव के कारण हिन्दुओं की सामाजिक उन्नति भी रुक गई। इस विषय में विशेष विवेचन करने के लिए यहां स्थान नहीं है। तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि, हिन्दू-समाज में पहले जो शक्तियां कार्य करती थीं, वे ब्रिटिश राज्य के कारण निर्बल हो गई हैं; और वैयक्तिक स्वतंत्रता का प्रचार हो रहा है। उदाहरणार्थ–नाना फड़नवीस ने जन-रूढ़ि के विरुद्ध, जब कभी जो उचित जँचा, वही करने की अनुमति दी। पेशवा के मान लेने पर ब्राह्मणों ने भी पेशवा का निषेध नहीं किया। नाना ने कहा, "अशौच के लिए फिर देखा जावेगा, इस समय तो भोजन कीजिये।" परन्तु पीछे उसका कोई विचार नहीं किया गया, और यदि उसके लिये शास्त्र देखे जाते, तो कुछ न कुछ प्रमाण अवश्य मिलते; क्योंकि समाज में चेतनता होती है; और वह हिन्दू-समाज में भी थी। सभी लोगों की संमति

से—चाहे वह गुप्त ही क्यों न होती—पहले के समाज-बंधन अवश्य ही ढीले हुए होते; और कुछ समय के अनंतर जनता प्रत्येक सुधार को पसंद करती । जो हो, हमारी समझ में तो पेशवाओं के ज़माने में, और साधारण तौर पर सारे महाराष्ट्र साम्राज्य में, उस समय वैसी दशा थी । परन्तु आजकल की सुधार-विषयक दशा में उक्त बात बहुत कम दिखाई देती है; और जहां ब्रिटिश प्राबल्य अधिक है, वहां पर तो सुधार की गति और भी मंद है । देखिये, पं० कृष्णशास्त्री चिपलूनकर, जो समाज में एक प्रभावशाली व्यक्ति थे, उन्होंने एक युरोपियन मित्र के साथ बैठ कर जब जलपान किया, तब लोगों ने उनके विरुद्ध कैसा शोर-गुल मचाया । उसके अनंतर भी एक और वैसी ही घटना हुई थी । इससे यह तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि जो कुछ सुधार हो रहे हैं, या हुए हैं, उनकी गति बड़ी मंद है । इसके सिवाय, पेशवाई राज्य में सुधारों की जो चर्चा थी, उससे भी लोगों ने समुचित लाभ नहीं उठाया ।

अब इस विषय को अधिक न बढ़ा कर यहीं समाप्त करते हैं । हमारा उद्देश्य यही था कि, बिखरी हुई सामग्री को एकत्र करके पिछले काल की कुछ बातों पर प्रकाश डाला जावे । उपर्युक्त बातों से क्या शिक्षा ग्रहण की जा सकती है, इसके विषय में विशेष विचार अथवा वादविवाद यहां न करके अन्यत्र ही किया जाय, तो विशेष उपयुक्त होगा । हां, यहां पर एक बात का खुलासा कर देना आवश्यक है कि, इस निबन्ध में जो बातें लिखी गई हैं, वे सब पुराने कागज़-पत्रों से ही ली गई हैं । हां, हमने इस बात के जांचने का प्रयत्न नहीं

किया कि, कौन से कागज़-पत्र उस समय के हैं कि, जब उक्त घटनाएँ हुईं; और कौन से कागज़-पत्र पीछे के हैं। हां, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि, उनमें से अधिकांश कागज़-पत्र समकालीन नहीं हैं। पर इस विषय में विशेष खुलासा करने की यहां आवश्यकता नहीं दिखाई देती। प्रसिद्ध इतिहासकार ग्रोट ने प्राचीन ग्रीक लेखों के विषय में लिखते हुए कहा है कि "पड़दा ही चित्र है।" सच्चा चित्र छिप गया है। उसके देख पड़ने का कोई मार्ग नहीं है। ऐसी दशा में उस चित्र को ढक लेनेवाले पड़दे का मूल्य ही उस चित्र के समान समझना चाहिये। क्योंकि सच्ची दशा जानने के लिए और कोई साधन ही नहीं। ऐसी दशा में जिन कागज़-पत्रों से, कम से कम अप्रत्यक्ष रूप से ही, कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है, उन्हीं कागज़-पत्रों का सहारा लेना पड़ा है। ये सब कागज़-पत्र बहुत प्राचीन काल के हैं; और अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनमें जो बातें लिखी हैं, वे कितनी महत्वपूर्ण हैं, इस विषय में यहां विशेष विवेचन करने की आवश्यकता नहीं दिखाई पड़ती।

चौदहवां परिच्छेद ।

पेशवाओं के रोजनामचों से कुछ वृत्तान्त ।

परिशिष्ट (२)

(यह निबन्ध स्वर्गीय न्यायमूर्ति रानाडे महाशय ने बम्बई की रायल एशियाटिक सोसायटी में ३० जून सन् १६०० में पढ़ा था ।)

गत दो तीन वर्ष से हमने अपने अवकाश का प्रायः सारा समय पेशवाओं के रोजनामचों के चुने हुए अवतरणों को पढ़ने में विताया है। ये चुने हुए अवतरण मूल मराठी काग़ज़ों से रावबहादुर वाड ने निकाले हैं। महाराज शाहू के सिंहासनारूढ़ होने के समय से लेकर दूसरे बाजीराव पेशवा के राज्य के अन्तिम समय तक का वृत्तान्त उन अवतरणों में आ गया है। वाड महाशय ने अंगरेज़ी भाषा में उपर्युक्त अवतरणों का सार निकाल कर लिखा है, इसको मिला कर इन अवतरणों के लगभग बाईस हज़ार पृष्ठ होते हैं। इनमें सन् १७०८ ई० से लेकर सन् १८१६-१७ तक के सौ वर्ष से कुछ अधिक समय का इतिहास आता है। इस लम्बे और क्रान्ति-युक्त समय में महाराष्ट्र लोगों के इतिहास का जो सच्चा स्वरूप था, उसको जानने के लिए इन अवतरणों के अतिरिक्त अन्य कोई महत्वपूर्ण साधन नहीं है। स्वयं महाराष्ट्र में जो बखरों के रूप में मराठों का इतिहास उपलब्ध है; और ग्रांट डफ के समान आंग्ल इतिहासकारों ने जो ग्रन्थ मराठों के इतिहास

पर लिखे हैं, उनमें प्रायः राजकीय बातों का ही वर्णन विशेष पाया जाता है। परन्तु तत्कालीन हिन्दू लोगों की दशा, उनका जीवनक्रम, उनकी उन्नति के कारण, उनके मनोरंजन के साधन, उनके विचित्र विचार, उनकी श्रद्धा, उनका आचरण, उनके रीति-रवाज, इत्यादि विषयों पर इन ग्रन्थों से अथवा बखरों से बहुत ही थोड़ा प्रकाश पड़ता है—अथवा यह कहने में भी आपत्ति न होगी कि, उपर्युक्त विषयों पर इन ग्रन्थों से बिलकुल ही प्रकाश नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त उक्त ग्रन्थों में इन बातों का भी कोई स्पष्ट वृत्तान्त नहीं पाया जाता कि, स्वदेशी राजछत्र के आश्रय में राज्य-व्यवस्था का क्या हाल था, लगान-मालगुज़ारी का कैसा बन्दोवस्त था, क़िलों का क्या प्रबन्ध था; आबकारी, नमक, कर इत्यादि विभागों से जो वसूली होती थी, उसकी आमदनी और खर्च कैसे होता था, सेना की तैयारी और उसके वेतन का वितरण कैसे होता था, जहाजी बेड़ा किस प्रकार उड़ा करते थे, सरकार कर्ज़ा किस प्रकार निकालती थी, दीवानी फौजदारी कानूनों का अमल किस प्रकार होता था; पुलीस, डाक, टकसाल, जेल, धर्मादाय, नियुक्तियां, लोकोपयोगी कारखाने, दवाखाने, स्वास्थ्य, इत्यादि भिन्न भिन्न विभागों का प्रबन्ध कैसा था, उद्योग-धंधों को उत्तेजना कैसे दी जाती था, विद्या की वृद्धि कैसे की जाती थी, इत्यादि। निस्सन्देह यह बड़े कौतूहल की बात है कि अभी सिर्फ़ सौ वर्ष हुए उपर्युक्त भिन्न भिन्न विभागों की ओर हमारे स्वदेशी राजाओं का पूरा पूरा ध्यान था; और राज्य-प्रबन्ध-सम्बन्धी बिकट प्रश्नों का, वे, बड़ी खूबी के साथ, हल करते थे। सामा-

जिक सुधार का कार्य भी उन राजाओं ने, अत्यन्त धैर्य के साथ, अपने हाथ में ले लिया था। परन्तु आजकल अवश्य ही ऐसा माना जाता है कि, इस काम से सरकार को कोई सम्बन्ध नहीं है। उपर्युक्त सब बातों के विषय में, पेशवाओं के दफ़्तर में, बड़े बड़े अधिकारियों ने, जो सरकारी रोजनामचे लिखे थे—और जो सौभाग्य से उपलब्ध भी हैं—वे बहुत ही अमूल्य हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें कोई त्रुटि नहीं। फिर भी, जब कि और कोई श्रेष्ठ साधन उपलब्ध नहीं हैं, तब उक्त रोजनामचों से ही इन बातों पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है कि, उपर्युक्त सौ वर्ष या इससे भी अधिक समय तक महाराष्ट्र के लोगों में क्या हलचल मची थी, उनकी महत्वाकांक्षाएँ क्या थीं, उन पर कैसे कैसे संकट आये, उनकी शक्ति क्या थी; और उनमें दुर्बलताएँ क्या थीं। सचमुच ही यदि सद्‌बोध और सन्मार्ग-प्रदर्शन की दृष्टि से देखा जाय, तो युद्ध और चढ़ाइयां, राजघराने की बड़ी बड़ी घटनाएँ और राज्यक्रान्तियां, कि जिनका प्रायः अधिकांश इतिहासों में बाहुल्य रहता है, उनकी अपेक्षा इन रोजनामचों का महत्व अधिक है।

हमारा विचार है कि हम इस निबन्ध के द्वारा अपने मराठा-इतिहास-प्रिय पाठकों को पेशवाओं के उपर्युक्त काग़ज़-पत्रों का कुछ वृत्तान्त बतलावें। इन काग़ज़पत्रों में अनेक ऐसी बातें हैं, जिनसे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मराठा-मंडल की बराबर उन्नति होती गई; और उसका प्रभाव सारे भारत में फैल गया। यहां तक कि सब देशी राजा लोग, मुसलमान, हिन्दू, सिख, जाट, रुहेले, राजपूत, काठियावाड़ी, गुजराती, पोर्चगीज़,

निज़ाम, तैलंग और द्रविड़ देश का महाप्रतापी हैदरअली तक मराठा-मंडल के प्रभाव में आगया था। फिर उसी शताब्दी के उत्तरार्ध में मराठा-संघ धीरे धीरे टूट गया; और अन्त में वह बिलकुल नष्ट ही होगया। मराठों के इस उत्थान और पतन के कारणों का भेद भी हम यहां दिखलाने का प्रयत्न करेंगे, जिससे पाठकों को हमारे इस निबन्ध के आशय को समझने में सुविधा होगी। शिवाजी के वंशजों के हाथ से जिस समय राज्य चला गया; और शाहू महाराज का स्वर्गवास होगया, तब मराठा-राजधानी का स्थान सितारे से पूने को लाया गया—बस, यही समय उस शताब्दी को दो भागों में विभाजित करनेवाली रेषा है। उसी समय से सारी सत्ता ब्राह्मण पेशवाओं के हाथ में आई। महाराज शाहू ने अपने अन्त समय में मृत्युपत्र लिख कर इस शर्त पर पेशवाओं को सारा राज्यप्रबन्ध सौंप दिया कि, पेशवा सब राजकाज देखें, सिर्फ़ महाराज का नाममात्र चले; और राजघराने की प्रतिष्ठा बनी रहे। आगे चल कर शाहू के वंशज रामराजा ने भी उक्त मृत्युपत्र को स्वीकार कर लिया, और इस शर्त पर पेशवाओं को सारा अधिकार सौंप दिया कि, सितारे के आसपास का कुछ प्रान्त स्वयं हमारी देखरेख में बना रहने दिया जाय। आगे चलकर मराठों की चढ़ाइयों के प्रचण्ड प्रवाह को रुद्ध करनेवाला पानीपत का घनघोर संग्राम हुआ। इस संग्राम को ही उस शताब्दी के पूर्वार्ध की ऐतिहासिक सीमा कह सकते हैं। इसके आगे के साठ वर्षों में राजकर्त्ता पेशवा, और सम्पूर्ण महाराष्ट्र की प्रजा, इन दोनों की अनेक त्रुटियां, एक के बाद एक, दिखाई देती हैं; और यह भलीभांति मालूम होजाता है

कि सन् १८१७ में, जब कि सारा देश अंगरेज़ों के अधिकार में चला गया, उसके पहले ही राष्ट्र की कैसी दुर्दशा होगई थी। इस अन्तर के स्पष्ट रूप से मालूम हो जाने पर यह बात भली भांति ध्यान में आ जायगी कि, शिवाजी ने जिन सिद्धान्तों पर राज्य को स्थापित किया था; और उनके बाद राजाराम और शाहू के समय में भी, अधिकांश में, जिन सिद्धान्तों का पालन किया गया था, उन सिद्धान्तों से पेशवाओं की राजकीय नीति कैसी च्युत होती गई; और सच्ची राजनीति की ओर उनका ध्यान नहीं रहा; किन्तु उनके अन्दर इस पुरातन ब्राह्मणी भावना का प्रादुर्भाव होगया कि, जो कुछ हैं, हम ही श्रेष्ठ हैं; और हम सब से निराले हैं! बस, इन्हीं कारणों से मराठा-साम्राज्य-वृक्ष में दीमक लग गई; और अन्त में वह वृक्ष समूल उखड़ कर गिर पड़ा।

राज्य-रचना ।

मराठा-साम्राज्य में समय समय पर राज्य-रचना में जो फेरफार हुए, उनकी ओर पहले ध्यान देना चाहिए। एशियाटिक सोसाइटी में "शिवाजी की राज्यव्यवस्था" पर हमने जो निबन्ध पढ़ा था, उसमें मुल्की और फौजी अधिकारियों—अर्थात् मुख्य आठ प्रधानों के राजमण्डल, या अष्ट प्रधानमंडल, का स्थूल स्वरूप कुछ विस्तृत रीति से हमने दिखलाया था। महाराज शिवाजी ने जो राज्यप्रबन्ध सदैव के लिए स्थिर कर दिया था, उसमें दो सरनौबत अथवा फौजी अधिकारी रखे गये थे। एक के हाथ में रिसाले का आधिपत्य दिया गया था; और दूसरा पैदल सेना का अध्यक्ष था। पेशवा के हाथ में मुख्य प्रधान का कार्य था; और मंडल के कायदों को

अमल में लाने का अधिकार भी उन्हीं के हाथ में था। पन्त-अमात्य के हाथ में महसूल और हिसाब का कामकाज था। जमा-खर्च और जांच-पड़ताल का कार्य पन्तसचिव के हाथ में था; और परराष्ट्र-सम्बन्धी कार्य सुमन्त के हाथ में था। राजमहल की भीतरी व्यवस्था का कार्य मंत्री नामक एक और ही अधिकारी के हाथ में था। इनके अतिरिक्त न्यायाधीश और न्यायशास्त्री अथवा पंडितराव नाम के दो केवल मुल्की अधिकारी थे। एक के हाथ में न्यायविभाग और दूसरे के अधिकार में धर्मशास्त्र का विभाग था। इनमें से एक भी अधिकार वंशपरम्परा के लिए नहीं था; किन्तु बार बार अधिकारियों की बदली होती रहती थी। उदाहरणार्थ—पेशवाओं का अधिकार लगभग सौ वर्ष तक भिन्न भिन्न चार घरानों के पुरुषों में रहा; परन्तु फिर इसके बाद बालाजी विश्वनाथ के घराने में वंशपरम्परा के लिए होगया। पंत-प्रतिनिधि, सचिव और मंत्री के पद तीन घरानों में रहे; परन्तु फिर ये भी एक ही घराने में आगये। सेनापति का पद पालकर, गूजर, मोहिते, घोरपड़े, जाधव, इत्यादि आठ भिन्न भिन्न योद्धाघरानों में रहा; परन्तु फिर इसके बाद दाभाड़े के वंश में यह भी परम्परागत हो गया। नीचे दरजे के अधिकारिमण्डल का भी ऐसा ही हाल समझ लीजिए। इस अधिकारिवर्ग का दरजा यदि देखा जावे, तो ऐसा जान पड़ता है कि पन्त-प्रतिनिधि की अपेक्षा पेशवा का मान कम था। पन्तप्रतिनिधि का पद राजाराम ने, जिंजी में रहते समय, नवीन ही रचा; और उस पद पर प्रह्लाद नीराजी की नियुक्ति की। प्रतिनिधि का वेतन १५००० होन और पेशवाओं का

१३००० होन था। मंत्री, सेनापति और सचिव में से प्रत्येक को १०००० होन मिलते थे। न्यायाधीश को सिर्फ एक ही हज़ार मिलता था। पहले के पन्त-अमात्य कोल्हापुरवालों के यहां चले गये। इस लिए सितारे के अमात्य अथवा राजाज्ञा का अधिकार बहुत कम होगया था। उपर्युक्त अधिकारियों को वेतन के अतिरिक्त कुछ सरंजाम और नक़द नियुक्तियां भी थीं। ये बड़े बड़े विभाग स्थायी रूप से स्थापित किये गये थे; और उन पर दीवान, मुजूमदार, फडणीस, सबनीस, कारखाननीस, चिटनीस, और पोतनीस, इत्यादि छोटे छोटे अधिकारी नियत थे। इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक प्रान्त में, और प्रत्येक बड़ी फौजी छावनी में, दरकदार, दीवान, फड़नीस, मुजूमदार, इत्यादि कुछ पद जोड़े गये। इन नीचे दरजे के अधिकारियों की नियुक्ति प्रधान सरकार की ओर से होती थी; और सेनापति के समान बड़े अधिकारी लोग सिर्फ उन लोगों से काम भर लिया करते थे। नौकरी से पृथक् करने का भी उन्हें अधिकार न था। यही छोटे अधिकारी हिसाब तैयार करके प्रधान सरकार के पास भेजते थे। कार्य का विभाग इस रीति से किया गया था कि, प्रत्येक अधिकारी का दवाव दूसरे पर रहता था; और प्रत्येक की प्रत्येक को गरज़ रहती थी। वह परस्परावलम्बन और परस्पर-अधिकार-तत्व किलेबन्दियों में, जहाजी बेड़ों में, और कर विभाग के सब बड़े बड़े कार्यालयों में भी प्रारम्भ किया गया था। क़िलों का प्रबन्ध यह था कि, वहां जितने बड़े बड़े अधिकारी रहते थे, वे सब तीन जातियों से नियुक्त किये जाते थे। हवलदार अथवा नाइक मराठा जाति का होता था, सब-

नीस ब्राह्मण होता था; और कारखाननीस प्रभू जाति का रहता था। इसी राज्यप्रबन्ध के कारण मराठा-साम्राज्य की उस महान् संकट से रक्षा हुई थी कि जो शिवाजी के मृत्यु के बाद उस पर उपस्थित हुआ था। यह बात सच है कि सम्भाजी ने इस अन्तर्व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया था; परन्तु राजाराम ने अवश्य ही शिवाजी के आदर्श का पूरा पूरा ध्यान रक्खा था; और जिंजी में रहते समय भी उन्होंने अष्टप्रधानों की स्थापना की थी। इसके बाद जब शाहू महाराज सिंहासनारूढ़ हुए, तब उन्होंने प्रधानों की बदली कर दी, किन्तु प्रधानमंडल जैसा का तैसा क़ायम रक्खा। प्रत्येक प्रधान के हाथ में उसका स्वतंत्र विभाग रहता था। इसके सिवाय सेनापति का कार्य भी उसको करना पड़ता था। हां, न्यायाधीश और पंडितराव को फौजी काम नहीं करना पड़ता था। शिवाजी के शासनकाल में, तथा शाहू महाराज के सिंहासनारूढ़ रहते समय भी, प्रतिनिधि, सचिव, मंत्री और अमात्य ने, सेनापति और पेशवा के समान ही, लड़ाई में बहादुरी दिखला कर सरकार को सहायता की थी। जब कोई विशेष अवसर आ जाता था, उस समय सलाह-मशविरा के लिए भी इस प्रधान-मंडल की बैठक हुआ करती थी। प्रधान-मंडल के विषय में इस प्रकार का वृत्तान्त जगह जगह लिखा हुआ पाया जाता है कि, आज अमुक राजकीय नीति का प्रारम्भ किया गया, अथवा अमुक न्याय-इन्साफ किया गया, स्वदेश और परदेश में मराठा सरकार की इज्ज़त क़ायम रखी गई, इत्यादि। पहले बाजीराव पेशवा ने राज्यविस्तार की यह नीति, कि "दिल्ली तक धावा

करके जायँगे," इसी प्रधान-मंडल के सामने उपस्थित की थी, जिसका पंत-प्रतिनिधि ने विरोध किया था। शाहू महाराज की मृत्यु के बाद इस मंडल की रचना में एक अनिष्ट अन्तर पड़ गया। शाहू के शासनकाल में पेशवा ने सरकार की बड़ी महत्वपूर्ण सेवा की थी, अतएव आपही आप उनको अधिक आदर प्राप्त होने लगा। परिणाम यह हुआ कि अन्य प्रधान लोग स्वाभाविक ही उनके सामने फीके पड़ने लगे। आगे चलकर जब सारा कारोबार सितारे से पूने को चला गया, तब उपर्युक्त सब अधिकार वंशपरम्परागत हो गये; परन्तु जिन लोगों के हाथ में उक्त अधिकार रहे, वे लोग राजकाज-धुरंधर लोगों पर अपना प्रभाव नहीं डाल सके। शाहू के बाद जो दो राजा हुए, उनमें स्वयं उस राज्याधिकार को धारण करने की शक्ति न थी, जो उन राजाओं के नाम पर पेशवा लोग चलाते थे। वे सिर्फ़ नाममात्र के राजा थे; पर उनके प्रत्येक कार्य पर सख़्त देख-रेख रहती थी। उनको यदि पेशवाओं के हाथ की कठपुतलियां कहा जाय, तो भी अतिशयोक्ति न होगी। दमाजी गायकवाड़ ने इस बात के लिए बड़ा प्रयत्न किया कि पेशवाओं को दी हुई अधिकार-विषयक सनदें रद कर दी जावें, परन्तु इसमें उनको सफलता प्राप्त नहीं हुई। इसके बाद सितारे के राजा को वहीं के क़िले में क़ैद कर दिया गया; और उनके नौकर-चाकर तथा गाड़ी-घोड़े इत्यादि के ख़र्च के लिए तीस हज़ार रुपये की नियुक्ति उनको मिली। इस प्रकार सितारे के राजा बन्दिवास का महा दुःख भोगते रहे। बड़े माधवराव पेशवा बड़े उदार-हृदय थे। उन्होंने राजा को क्रीड़ा करने के लिए एक बाग़ प्रदान किया; और उनके दर-

बार में कुछ अधिक हुजरे, गवैये और बजवइयों की नियुक्ति कर दी। इसके बाद नाना फड़नवीस ने भी इस प्रकार की नियुक्तियां उनके लिए कर दी कि, जो राजा के रिश्तेदारी के लिए सर्वथैव उचित थीं। राजकार्य-धुरंधर-मंडल में मुल्की और फौजी अधिकारियों की जोड़ जैसी पहिले थी, वैसी ही अब भी बनी हुई थी। उसको बन्द करना पेशवाओं के लिए असम्भव था। परन्तु, हां, अन्त में पेशवा ने यह कारण निकाल कर, कि इस राजमंडल से हमको कोई विशेष लाभ नहीं, उस मंडल का महत्व अवश्य ही कम कर दिया; और फड़नवीस, मुजूमदार, इत्यादि कम दर्जे के मुल्की अधिकारियों के हाथ में सारा अधिकार दे दिया। पहले की राज्य-व्यवस्था में ये अधिकारी अलग अलग विभागों के लिए संयुक्त थे; और प्रधान को अथवा प्रान्तिक सेनापतियों को उन लोगों से अच्छी सहायता मिला करती थी। दफ्कदारों में से सिर्फ़ फडनवीस और मुजूमदार को ही पूने के ब्राह्मण राजाओं ने रक्खा; और दीवान, कारखाननीस, पोतनीस, और जमादार इत्यादि अन्य लोगों को धता बताया। पेशवाओं के फडनवीसों ने अपने से श्रेष्ठ दरजे के मुजूमदारों का पद चूंकि प्राप्त कर लिया, अतएव शाहू महाराज के समय में जैसा प्रतिनिधियों का माहात्म्य था, वैसा ही अब फड़नवीसों का माहात्म्य बढ़ा। इस प्रकार राज़मंडल की सत्ता क्रमशः कम होती गई; और उनकी जगह पेशवाओं की ही श्रेष्ठता बढ़ती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि, शाहू महाराज के शासनकाल में गुजरात, मालवा, बुन्देलखंड, राजपूताना, दिल्ली, बंगाल, उड़ीसा, और नागपुर के प्रान्तों

पर मराठों की सत्ता प्रस्थापित करने में जिन रणशूर सरदारों का विशेष उपयोग हुआ था, वे सब धीरे धीरे प्रधान राजमंडल से दूर होते गये। पेशवाओं ने ही जब भिन्नता का आदर्श उपस्थित कर दिया, तब अन्य सरदार लोगों ने भी बड़ौदा, इन्दौर, ग्वालियर, धार, नागपुर, इत्यादि स्थानों में अपनी अलग अलग सत्ता प्रस्थापित की। सम्पूर्ण सरदार लोगों को एक ही केन्द्रीभूत सरकार में जकड़ कर रखनेवाला जो बन्धन शाहू के समय तक बिलकुल मज़बूत बंधा हुआ था, वह अब बिलकुल ढीला पड़ गया। इस प्रकार प्रत्येक बलिष्ठ सरदार उस बन्धन से छूट कर, पेशवाओं की ही भांति, अपनी अलग सत्ता, अपने अलग प्रान्त में प्रस्थापित करने का प्रयत्न करने लगा। हां, जब कोई विशेष महत्वपूर्ण अवसर आ जाता था, तब अवश्य ही उनमें से प्रत्येक सरदार राष्ट्रकार्य में अपना सहारा दे देता था। गायकवाड़, दाभाड़े और नागपुर वाले भोंसलों के हाथ में जो स्थान थे, उनके लिए तो शाहू महाराज के ही हाथ से सनदें मिल गई थीं। अतएव शाहू की मृत्यु के बाद यदि उक्त सरदार स्वाभाविक ही स्वतंत्र हो जाने की इच्छा करने लगे, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर पेशवाओं की जिन पर पूरी पूरी मर्जी थी, और जो उन्हीं के अन्न से पुष्ट हुए थे, उन सेंधिया, होलकर और पवार सरदारों ने भी स्वतंत्रता के ही मार्ग को स्वीकार किया। आगे चल कर इन सरदारों में दक्षिण और उत्तर के सरदार पटवर्धन, फड़के, रास्ते, विंचूरकर, राजेबहादुर, बुन्देले, पुरन्दरे, भुसकुटे, इत्यादि भी मिल गये; और उन्होंने भी पहले के सरदारों का ही रास्ता पकड़ा। ऐसी दशा में यह

कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि, जिस लड़ाई में राष्ट्र के सब छोटे-बड़े सरदार उपस्थित थे, उस पानीपत की भयंकर लड़ाई के समाप्त होने पर, जब उस शताब्दी का पूर्वार्ध समाप्त हुआ, उस समय मराठों की एकता का बन्धन अधिकांश में प्रायः शिथिल ही हो चुका था। यह बात सच है कि, खर्डे की चढ़ाई में और हैदर, टीपू तथा अँगरेज़ों इत्यादि की लड़ाइयों में, तथा और भी इसी प्रकार के बड़े बड़े अवसरों पर, यद्यपि सब सरदार एकत्रित हुए थे; परन्तु फिर भी, पहले जो मराठों में एक प्रकार का यह विचार था कि, हम सब का उद्देश्य एक है; और सब का हित एक ही है, यह विचार उस समय नामशेष हो रहा था। शिवाजी, राजाराम और शाहू के शासनकाल में, लगभग सौ वर्ष, सारा महाराष्ट्र एक था; और उसी एकतापूर्ण राज्यपद्धति के कारण उस समय बड़े बड़े कार्य सम्पादित हुए थे, सो वह राज्यपद्धति अब नहीं रही; किन्तु उसकी जगह अब यह पद्धति शुरू हुई कि, बराबरी के मंत्रिमंडल की अपेक्षा कनिष्ठ श्रेणी के लोगों से ही मदद हो; और अलग अलग सरदार अपना अलग अलग राज्य करें। अवश्य ही आज तक जिस देशभक्ति से प्रेरित होकर, और एकता के साथ, मराठों ने बड़े बड़े अतर्क्य कार्य सम्पादित किये थे, उस देशभक्ति और उस एकता का भाव, बाद को लोगों में, उपर्युक्त राज्यपद्धति के कारण, यदि जागृत नहीं हुआ, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? महाराज शाहू ने चालीस वर्ष राज्य किया; परन्तु उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे मराठा-साम्राज्य के केवल नामधारी ही राजा थे। यद्यपि यह सच है कि शाहू कभी स्वयं समरांगण

में सैन्य लेकर नहीं गये थे; परन्तु फिर भी सैन्य का संचालन उन्हीं की आज्ञा से होता था। इसी प्रकार सेनापति की नियुक्ति अथवा बदली उनकी आज्ञा के बिना नहीं हो सकती थी। सारा सरदारमंडल तो अवश्य ही पूर्णतया उनके कब्ज़े में था। दुभाई की लड़ाई होने के बाद पेशवा और दाभाड़े अथवा गायकवाड़ के मध्य गुजरात का जो बराबर विभाग हुआ, वह शाहू महाराज के प्रयत्न से ही हुआ था। बालाजी बाजीराव पेशवा जब बंगाल पर चढ़ाई करने को निकले, तब रघूजी भोंसला ने महाराजा के पास सितारे जा कर इस विषय में कहा सुनी की। बालाजी बाजीराव की महत्वाकांक्षा बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई थी। पर शाहू महाराज भी काफी गम्भीर मिजाज के थे। उन्होंने पेशवा की महत्वाकांक्षा को साथ लिया; और रघूजी भोंसला को अपनी सत्ता बढ़ाने का मौका देने के लिए उन्होंने भारत के पूर्वीय प्रान्तों को बिलकुल ही छोड़ देने के लिए बालाजी को बाध्य किया। शाहू के समय में बाजीराव पेशवा एक ज़बरदस्त सेनापति थे; और प्रतिनिधि, भोंसले, निम्बालकर, दाभाड़े, गायकवाड़, कदम, बांडे, आंग्रे, घोरपड़े, इत्यादि सरदार लोग उनकी आज्ञा का आदर करते थे। परन्तु महाराज शाहू के बाद इस सरदारमंडली पर अंकुश रखने वाला कोई न रहा; और पेशवाओं की कोई परवाह ही न करने लगा। जानोजी भोंसले और दमाजी गायकवाड़ पर पेशवाओं ने अपना दबाव रखा था। इस लिए सिर्फ लाचारी-वश, बड़ी नाराज़ी के साथ, ये दो सरदार पेशवाओं के हाथ में रह गये थे। सच तो यह है कि पहले चार पेशवाओं को जो सुयोग प्राप्त हुआ था, वह फिर आगे के पेशवाओं को प्राप्त

नहीं हुआ। उसमें भी वे पेशवे, जो आगे चल कर गद्दी के अधिपति हुए, अवस्था में बिलकुल छोटे थे, इसके सिवाय उस समय पूने में भीतरी झगड़े भी बहुत शुरू हो गये थे। ऐसी दशा में गायकवाड़ और भोंसले भी राष्ट्रहित की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देते थे। यह सच है कि सेंधिया, होलकर और पटवर्धन इत्यादि सरदारों ने बहुत दिन तक स्वामिभक्ति की रक्षा की थी; परन्तु इसमें बिलकुल ही सन्देह नहीं कि पहले की समतोल सत्ता का सिद्धान्त अब प्रायः बिलकुल ही नष्ट हो चुका था। नाना फड़नवीस ने बड़ी कोशिश की कि, उक्त सब सरदार अपना अपना निज का हित एक ओर रख कर राष्ट्रहित की ओर पहले ध्यान दें; पर इस कार्य में उनको भी सफलता प्राप्त न हुई। ये सब सरदार लोग परराष्ट्रों से शान्ति की सन्धियां करके अपनी अपनी निज की सत्ता बढ़ाने की धुन में लग गये। नाना फड़नवीस ने फिर भी प्रयत्न किया कि सवाई माधवराव के पीछे सितारे के राजा की सत्ता स्थापित कर दी जाय कि जिससे उक्त भूल की दुरुस्ती हो जाय; पर अन्त में उनको भी यह बात उस समय असम्भव सी ही मालूम हुई। क्योंकि सरदार लोगों में अब काफी फूट हो चुकी थी, इस लिए अब फिर से एकता होना बिलकुल टेढ़ी खीर थी। पेशवा लोगों ने यदि प्राचीन राजमंडल को कायम रख कर अपने को सिर्फ परम्परागत राजाओं का प्रतिनिधि माना होता, पहले की राज्यपद्धति को अबाधित रखा होता; और शिवाजी ने कुछ विशिष्ट पदों और अधिकारों के लिए जो कनिष्ठ प्रकार के लोगों की नियुक्ति की थी, उनको यदि पेशवाओं ने व्यर्थ का महत्व न दे दिया होता; और उन्हीं

के द्वारा यदि सम्पूर्ण राज्य-शकट को हांकने का प्रयत्न न किया होता, तो कोई कारण नहीं था कि शिवाजी, राजाराम और शाहू के समय में राजमंडल ने जैसे बड़े बड़े महान् कार्य सम्पादन किये थे, वैसे इस ब्राह्मण राज्य में वह न करता। बस, शिवाजी महाराज की राज्य-व्यवस्था, और उसके स्थान में पूने में प्रस्थापित होने वाली पेशवाओं की नवीन सत्ता में जो मुख्य भेद है, सो यही है। और यह भेद यदि न पड़ गया होता, तो महाराष्ट्र साम्राज्य की जो दुर्दशा हुई, सो भी न हुई होती। यह भेद कोई मामूली भेद नहीं है; किन्तु यह एक ऐसा भेद है कि जैसे सजीव सर्वांगीन सुन्दर देह एक निर्जीव मांस के गोले में रूपान्तरित हो जाय। बस, इसी भेद के कारण मुसलमान राज्यकर्ताओं की भांति मराठों में भी "अपनी अपनी डफली, अपना अपना राग" की कहावत चरितार्थ होने लगी। छत्रपति शिवाजी ने राजमंडल की स्थापना करके जिस घातक पद्धति को समूल नष्ट करने का प्रयत्न किया था, और जिसमें उन्होंने पूरी पूरी सफलता प्राप्त की, वही आत्मघातक पद्धति पेशवाओं के शासनकाल में फिर जारी हो गई।

जाति की बड़ाई।

शिवाजी और शाहू के शासनकाल और पूने के पेशवाओं के शासनकाल में एक और भी बड़ा भारी अन्तर दिखाई देता है; और वह यह है कि, पहले शासनकाल में प्रायः अधिकांश बड़े बड़े फौजी अधिकारी मराठा जाति के थे। सिर्फ़ पेशवा ही ब्राह्मण थे। परन्तु दूसरे शासनकाल में सब प्रसिद्ध प्रसिद्ध लोग प्रायः ब्राह्मण ही थे। पहले के "स्वाधीनता के युद्ध" में धमाजी जाधव और सन्ताजी घोरपड़े मराठों के

प्रसिद्ध सेनापति हुए। निम्बालकर, अतोले, भोंसले, पवार, आंग्रे, दाभाड़े, सरदारों ने लड़ाई में बड़ी शूरता दिखलाई। इसी लड़ाई के कारण शाहू महाराज की, सितारे की गद्दी पर, स्थापना हुई। शिवाजी के समय में मोरोपन्त पिंगले, हनमन्ते, आवाजी सोनदेव, दत्तो अन्नाजी इत्यादि रणशूरवीरों ने, तथा गूजर, मोहिते, पालकर, कंक, मालुसरे इत्यादि योद्धाओं ने भी अपना शौर्यवीर्य प्रकट किया। स्वाधीनता के युद्ध में ब्राह्मण लोगों ने अपना कौशल राजनीति सलाह-मशविरे में ही दिखलाया था। समरांगण में उनकी प्रसिद्धि कभी नहीं हुई थी। दूसरे पेशवा बड़े बाजीराव के समय में भी मल्हार-राव होलकर, पिलाजी जाधव, राणोजी सेंधिया और उनके तीन लड़के, इत्यादि मराठा जाति के ही लोग अगुवा थे। बालाजी बाजीराव अर्थात् नाना साहब पेशवा के समय में भी मराठे सरदारों की ही श्रेष्ठता क़ायम थी। ब्राह्मण राजनीतिज्ञ सिर्फ़ मुल्की काम पर थे। हां, पेशवा घराने के लोग अवश्य ही योद्धा का काम करते थे। पर जब से राजधानी का शहर पूना नियत हुआ, तभी से सारा कारोबार बदल गया। सन् १७६० के बाद जितने प्रतिष्ठित सरदार हुए; और जिन्होंने नवीन मुल्क जीता, सब प्रायः ब्राह्मण ही थे। पूने के दरबार में प्रभू लोगों का भी महत्व नहीं रहा। हां, बड़ौदे और नाग-पुर में अवश्य ही प्रभू लोगों की बहुत कुछ चलती थी। इसी प्रकार शेणवी और गौड़ सारस्वत ब्राह्मणों का प्रभाव सेंधिया के प्रदेश में बढ़ रहा था। इससे अवश्य ही इन्दौर, बड़ौदा, ग्वालियर और नागपुर में ब्राह्मणों का तेज नष्ट हो गया था। परन्तु जब हम महाराष्ट्र की ओर दृष्टि डालते हैं, तब वहां

हमें ब्राह्मणों की ही उन्नति, पेशवाओं के राज्य में, विशेष दिखाई देती है। विंचूरकर, राजेबहादुर, भुसकुटे, बुन्देले, खेर, कानड़े, पानशे, विनीवाले, पटवर्धन, मेहंदले, गोखले, बेहेरे, लागू, रास्ते, फड़के, पेठे, इत्यादि के अतिरिक्त और अनेक छोटे-बड़े ब्राह्मण सरदारों के नाम हमारे कथन के समर्थनार्थ दिये जा सकते हैं। इन ब्राह्मण लोगों की आगे चलकर यह दशा हुई कि, इनमें से देशस्थ ब्राह्मणों ने तो राघोवादादा का पक्ष लिया, और कोकणस्थ ब्राह्मण नाना फड़नवीस इत्यादि पूने वालों के पक्ष में रहे। सखाराम बापू, विंचूरकर और हिंगणे राघोवादादा के पक्ष में मिल गये; और उपर्युक्त अन्य ब्राह्मण लोग उनके विरुद्ध हो गये। आगे चल कर जब राघोवादादा के पुत्र दूसरे बाजीराव पेशवा-पद पर आने लगे, तब नाना फड़नवीस और उनके अनुयायियों से उनकी न पटी। यही नहीं, बल्कि पटवर्धन, रास्ते और नाना फड़नवीस को भी बाजीराव साहब अच्छी निगाह से न देखने लगे। उस समय के सरदार लोगों के मन में जो यह जातिभेद का, और फिर उसमें भी ज्ञाति ज्ञाति के उपभेदों का, जो भाव पैदा हो गया, यही उस अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की विशेष ध्यान में रखने योग्य बात है। सरदार लोगों में दलबन्दी हो गई थी; और फिर उस दलबन्दी में भी लोग आपस में झगड़ने लगे थे, इस कारण शिवाजी, राजाराम और शाहू के समय में जिस प्रकार सब जाति के और सब श्रेणी के लोगों ने एकत्र मिलकर अनेक महत्कार्य सम्पादन किये थे, उस प्रकार अब सब लोगों में परस्पर सहानुभूति और कार्य-तत्परता उत्पन्न होना बिलकुल असम्भव हो गया था। अत्यन्त

आश्चर्य की बात है कि उस शताब्दी के पूर्वार्ध में उस जाति-मत्सर और उपजातिमत्सर का नाम-निशान भी न था। पर उत्तरार्ध में दूसरी ही दशा उपस्थित हो गई। जातिमत्सर की इतनी तरक्की हो गई कि फिर से एकता का होना बिलकुल असम्भव ही हो गया; और राष्ट्रहित के बदले अपनी ही तूंबी भरने की ओर प्रत्येक प्रबल सरदार प्रयत्न करने लगा। इस समय ब्राह्मण लोगों का तो दिमाग़ ही आसमान पर चढ़ा हुआ था। वे समझते थे कि बस, सच्चे राज्यकर्ता तो हमीं हैं, हमको अन्य जातिवालों की अपेक्षा विशेष अधिकार और सुविधाएँ होनी चाहिएं। शिवाजी की राज्यरचना में इन मूढ़ भावनाओं का लेशमात्र भी न था। परन्तु अब पेशवाओं को देखिये। पेशवाई में सम्पूर्ण दफ़्तर के जमाखर्च इत्यादि का काम कोकणस्थ ब्राह्मण के ही हाथ में था। इस विभाग में अन्य किसी की नियुक्ति ही न होती थी। उक्त ब्राह्मण कर्मचारियों को वेतन भी बहुत भारी दिया जाता था। तिस पर भी वे लोग बाहर से यदि अनाज अथवा अन्य कोई माल मँगाते, तो उनसे उस माल पर किसी प्रकार का कर भी नहीं लिया जाता था। कल्याण प्रान्त और मावल प्रान्त में जो ब्राह्मण ज़मीदार थे; उनसे ज़मीन की मालगुज़ारी भी अन्य जाति के ज़मीदारों से आधा, अथवा इससे भी कम, ली जाती थी। फौजदारी कचहरी में तो ब्राह्मण को कानून की सब से अन्त की सज़ा, अर्थात देहान्त-दण्ड देने की कभी चाल ही न थी। बल्कि इसके विरुद्ध ब्राह्मण अभियुक्त ऐसे दण्ड के विरुद्ध अपील भी कर सकता था। क़िलों में यदि वे कभी क़ैद भी किये जाते थे, तो अन्य जाति के क़ैदियों की अपेक्षा उनके साथ विशेष

उदारता का बर्ताव किया जाता था। इन रियायतों के अतिरिक्त ब्राह्मणों को धर्मादाय में सरकार उदारतापूर्वक दान भी खूब देती थी; क्योंकि यह जाति बहुत पवित्र मानी गई है। इस प्रकार की अनावश्यक रियायतों के कारण जो बुरे परिणाम घटित हुए, उनका परिचय पिछले बाजीराव के समय के रोजनामचों से भलीभांति मिलता है। 'दक्षिणा' दान का विचार वास्तव में विद्यावृद्धि के लिए रखा गया था; पर आगे चल कर तो यह दक्षिणाफंड सब ब्राह्मण भिक्षुकों के धर्मादाय के लिए ही हो गया; और फलतः बहुत जल्द पूना शहर में निरुद्योगी भिक्षुक लोगों के झुंड के झुंड जगह जगह दिखाई पड़ने लगे। बड़े बड़े उत्सवों में तो बहुत दिनों तक तीस से चालीस हज़ार तक ब्राह्मणों को पंच-पक्वान्नी भोजन कराया जाता था। और यह सब खर्च पेशवा सरकार का ही था। ब्राह्मण जाति की बड़ाई की ऊपर जो भिन्न भिन्न बातें बतलाई गईं, वे उस शताब्दी के अन्तिम समय में तो बहुत ही अधिक बढ़ गई थीं। इस कारण राष्ट्र को जो अवनतावस्था प्राप्त हुई, उसकी वास्तविक कल्पना बहुत ही कम लोगों को हो सकती है। पहले जो लोगों का ख़याल था कि सरकार सब जातियों का बराबर ही पालन करने वाली है; और सब को समान ही न्याय देने वाली है, सो यह ख़याल उस समय लोगों का दूर हो गया। महाराष्ट्र साम्राज्य की, श्रीसमर्थ रामदास स्वामी की प्रचलित की हुई उच्च भावना लुप्त हो गई; और अब पेशवा सरकार अपना मुख्य कर्तव्य गो-ब्राह्मणों का प्रतिपालन करना ही समझने लगे। इस प्रकार उच्च और श्रेष्ठ गुणों का ह्रास हो गया। ऐसी दशा में उसके स्वाभाविक परिणाम भी

यदि महाराष्ट्र को भोगने पड़े, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

फ़ौज।

फौज के विषय में भी शिवाजी की प्रणाली और पेशवाओं की प्रणाली में बहुत अन्तर दिखलाई पड़ता है। मराठा फ़ौज को यदि महाराष्ट्र का पूरा पूरा प्रतिबिम्ब कहा जाय, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। पूने के आसपास के और कोकन प्रान्त के किले शिवाजी ने मावलों और हेटकरी लोगों की सहायता से ही अधिकृत किये थे। उस समय की शिवाजी महाराज की फौज सिर्फ 'पैदल' ही थी। उनके हथियार तलवारें और तोड़ेदार बन्दूकों के अतिरिक्त और कुछ नहीं थे। आगे चलकर जब वे शत्रुओं का सामना करने लगे, तब शत्रुओं पर हम्ला करने का मराठों का साधन घुड़सवार सेना हुई; पर पहले के मावलों और हेटकरियों को उन्होंने नौकरी से अलग नहीं किया; किन्तु उनको पहाड़ी किलों के बन्दोबस्त पर रख दिया। शिवाजी के घुड़सवारों ने औरंगज़ेब की मुग़ल सेना का मुकाबला करके सारे भारतवर्ष में मराठों के नाम का आतंक उत्पन्न कर दिया। ये घुड़सवार केवल भाड़े के टट्टू ही थे—ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता। चाहे जाड़े के दिन हों, चाहे गर्मी के दिन हों, वे अकेले ही, अथवा अपने अपने घोड़ों और आदमियों के साथ, फौज में आकर भरती होते थे; और बरसात के लगते ही अपने अपने घर जाकर अपने पूर्वजों की ज़मीन जोतते-बोते थे। बड़े बड़े खानदानी लोगों का भी शिलेदार और बारगीर बनने में अपना गौरव जान पड़ता था। और उनके अधिकार में जितने ही अधिक सिपाही अथवा जितने ही अधिक दल होते थे, उतना ही

उनको विशेष अभिमान मालूम होता था। सैन्य की भरती में किसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित नहीं होती थी। जहां लड़ाई का बिगुल बजा कि तुरन्त ही 'नालबन्दी,' अर्थात् घोड़े और घुड़सवार के खाने-पीने तथा अन्य सामान के लिए अग्रिम द्रव्य दिया जाता था। प्रत्येक सवार का नायक अलग रहता था। वह जिधर लेजाता, उधर ही सवार जाने को तैयार रहता था। इस प्रकार सन् १७५० ई० तक मराठा घुड़सवार मराठा फौज की एक मुख्य शक्ति माना जाता था। परन्तु जब अंगरेज़ों और फ्रेंचों की सेना के साथ युद्ध करने का अनुभव हुआ, तब यह मालूम हुआ कि नियमित शिक्षा देकर तैयार की हुई पैदल सेना और उसके साथ अर्वाचीन युद्धपति का तीसरा अस्त्र तोपखाना ही विशेष उपयोगी है। मराठों ने जब देखा कि अंगरेज़ों और फ्रेंचों को इस शिक्षित सेना के कारण ही विजय मिली, तब उन्होंने भी उसी पद्धति का अनुकरण करना उचित समझा, और गार्दी लोगों की पलटनें खड़ी की गईं। परन्तु मराठा सैन्य की इस नवीन तैयारी में एक दोष था। वह यही कि पहले के मावलों और शिलेदारों के पास कुछ ज़मीन रहती थी; और सरकार की नौकरी वे सिर्फ भाड़े के टट्टू ही बनकर नहीं करते थे; किन्तु स्थायीरूप से उनका उपयोग होता था। अर्थात् जब कभी आवश्यकता पड़ती थी, तभी ये लोग अपने अपने धंधे से फुरसत पाकर लड़ने को तैयार रहते थे। परन्तु गार्दी लोगों का यह हाल न था। वे तो केवल वेतनभोगी नौकर होते थे; अनेक जाति के परकीय सिपाहियों की उनमें भरती होती थी, और बारह महीने उनको निश्चित वेतन देना पड़ता था। इसके

अतिरिक्त जो सेनापति उनको वेतन बांटता, उसी की आज्ञा में रहना वे जानते थे, राष्ट्रीयता किस चिड़िये का नाम है-सो उन्हें स्वप्न में भी मालूम नहीं था। सदाशिवराव भाऊ ने पहले पहल जो गार्दी पलटन तैयार की थी, उसमें उस पलटन के निकाले हुए लोग थे, जो प्रसिद्ध इब्राहीम गार्दी के अधिकार में फ्रेंच लोगों ने तैयार करवाई थी। उस इब्राहीमखां पर भाऊ साहब का विश्वास भी खूब था। पानीपत की लड़ाई के समय मराठे सरदारों ने भाऊ साहब को यह सलाह दी कि शत्रु के सामने ही अपनी छावनी डालकर अफगान लोगों के साथ आमने-सामने से मुठभेड़ करना बड़ी खतरनाक बात होगी। अतएव श्रीमान् को ऐसा साहस न करना चाहिये। परन्तु भाऊ साहब को यह सलाह पसन्द नहीं आई; किन्तु उन्होंने इब्राहीम गार्दी की सम्मति को ही आदर दिया, परन्तु उस अनावश्यक विश्वास के कारण उस लड़ाई में मराठों की कैसी दुर्दशा हुई, सो इतिहास के पढ़नेवालों से छिपी नहीं है। परन्तु फिर भी मराठों ने उससे कुछ उपदेश ग्रहण नहीं किया। आगे चलकर दस वर्ष के भीतर ही यूरोपियन पद्धति से तैयार की हुई अनेक पलटन दिखाई पड़ने लगीं। गार्दी पलटन में अरब, सिद्दी, अबिसीनियन, सिख, इत्यादि बाहरी लोगों की खूब भरती होगई। इन लोगों को वेतन शिलेदार घुड़सवारों के समान ही मिलता था। इन्हीं गार्दी लोगों के द्वारा जब नारायणराव पेशवा का खून हुआ, तब कहीं मराठों को इस बात का अनुभव हुआ कि ये लोग सिर्फ भाड़े के टट्टू हैं। इसके बाद कुछ समय के लिए इन लोगों की भरती बन्द होगई। परन्तु इस शिक्षित पलटन से लाभ भी

बहुत थे, इसलिए उनके दोष फिर भी मराठे सरदार बहुत जल्द भूल गये। महादजी सेंधिया ने उत्तर भारत में जो नवीन सेना खड़ी की थी, उसमें यूरोपियन कमांडर के अधिकार में बाहरी पलटन की ही विशेष भरती थी। प्राचीन घुड़सवारों का महत्व कम होगया था; और सेना में भी उनकी योग्यता नीचे दरजे की मानी जाने लगी थी। सेंधिया को जो विजयप्राप्ति हुई, उसको देखकर होलकर, गायकवाड़, भोंसला और पेशवा ने भी बाहरी लोगों की पलटनें तैयार कीं; और उन्हीं की कर्तव्यदक्षता पर अपना सारा भरोसा रखा। इस प्रकार अरब, गुसाईं, सिख और पोर्चगीज़ लोगों की पलटनें तैयार हुईं। यही नहीं, बल्कि दूसरे बाजीराव पेशवा ने तो अँगरेज़ अधिकारियों की ही देख-रेख में दो पलटनें नौकर रखी थीं। पहाड़ी किलों पर जो अब तक मावलों का निरीक्षण था, सो दूर कर दिया गया; और उनकी जगह भाड़े के टट्टुओं का पहरा रखा गया। इस प्रकार पैदल और रिसाले से मराठे सैनिकों को अलग कर दिया; और जो लोग किसी समय राष्ट्रभक्त सैनिक योद्धा गिने जाते थे, उनको अब सिर्फ वेतनभोक्ता और अयोग्य सैनिक बतलाया गया। मराठा फौज के साथ पिंडारी नामक लुटेरे लोगों की भी एक टुकड़ी रहा करती थी, जो फौज के साथ जाती और शत्रु के प्रदेश में लूटमार करके पेट भरती थी। आगे चल कर ये लोग अपने ही लोगों के मुल्क में लूटमार करने लगे। शिक्षित लोगों की पलटनें जिस समय बनाई गईं, उसी समय यदि उत्तम श्रेणी के हथियारों के तैयार करने की कला भी प्राप्त कर ली होती, तो बहुत लाभ हुआ होता। यह ज्ञान और यह कला तो थी ही नहीं, इस लिए यूरोपियन अधि-

कारियों ने आगे चल कर काम ही छोड़ दिया। उस समय जो दीन-हीन दशा मराठों की हुई, वह कदापि न हुई होती, यदि नवीन शैली के हथियार तैयार करने का ज्ञान भी उन्होंने प्राप्त कर लिया होता। परन्तु इस विषय में कभी विचार ही नहीं किया गया। इस लिए जब कभी कोई महान् संकट का समय आया, तभी समरांगण में देशी सेना की भारी दुर्दशा हुई, जैसी कि पहले कभी नहीं हुई होगी। इसके अतिरिक्त प्राचीन पैदल और रिसाले की ओर चूंकि मराठों का विश्वास ही नहीं रहा, अतएव उनका युद्ध-विषयक जोश भी शिथिल पड़ गया। इस लिए जनरल वेलेज़ली और लार्ड लेक ने जब देशी शिक्षित पलटन को जर्जर कर डाला, तब उन अँगरेज़ सेनापतियों का प्रतीकार करने की शक्ति ही राष्ट्र में नहीं रही। इस लिए बाकी राज्य जीतने में अँगरेज़ों को और भी अधिक सुभीता हो गया। पहले पैदल और रिसाले का जोश ठंढा हो ही चुका था, इधर नवीन वेतनभोक्ता पलटन को अच्छे सेनापति नहीं मिलते थे, सैनिक शास्त्र का ज्ञान तो बिलकुल था ही नहीं। ऐसी दशा में पिंडारियों की भांति उक्त पलटनें भी निरुपयोगी ही सिद्ध हुईं। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में इस सैन्यव्यवस्था-विषयक अन्तर के कारण ही राष्ट्र को विशेष क्षीणता प्राप्त हुई, इसमें कोई सन्देह नहीं।

जहाजी बेड़ा।

मराठों की जलसेना के विषय में भी कुछ वृत्तान्त यहां पर देना अनुचित न होगा। यों तो समुद्र को मराठों का बिलकुल ही अपरिचित पड़ोसी समझना चाहिए। उसका उनको बिलकुल ही ज्ञान नहीं था। हां, उसका पश्चिमी किनारा

अवश्य मराठों के कुछ परिचय का था। शिवाजी ने बड़े साहस के साथ एक जहाजी बेड़ा तैयार करके उस पर एक मुसलमान अधिकारी रखा था। इस अधिकारी ने दक्षिण में ठेठ मलाबार के किनारे तक लूट-मार जारी कर दी थी; और सिद्दी लोगों के साथ वह भिड़ा रहा; पर आगे चल कर जब तक आंग्रों का उदय नहीं हुआ, तब तक समुद्री किनारे पर मराठों की प्रबलता कम हो गई, और मुग़ल जहाज के अधिकारी पर उनका कोई आतंक नहीं रहा। पेशवाओं ने 'सूबे की जलसेना' की नवीन स्थापना की। विजयदुर्ग को उस जलसेना की मुख्य छावनी नियत किया; और बसई को उसकी छोटी छावनी बनाया। बसई को दूसरी सूबे की जलसेना कहते थे। अँगरेज़ों और आंग्रों में बहुत दिन तक झगड़ा मचा रहा। अन्त में तीसरे पेशवा बालाजी बाजीराव उर्फ़ नाना साहब ने अँगरेज़ों की सहायता लेकर सन् १७५६ ई० में आंग्रों की भूसत्ता और जलसत्ता को बिलकुल विध्वंस कर दिया। बालाजी बाजीराव का विचार था कि, बन्दर बन्दर घूमनेवाले व्यापारी जहाजों का आत्मसंरक्षणार्थ उपयोग हो, इसके लिए तांडेल और सारंग लोग मौक़ा आ पड़ने पर सरकार को मदद दें; और उनको इसके बदले में अधिक वेतन दिया जाय—इस प्रकार का इकरार उन लोगों से कर लिया जाय। परन्तु उनका यह विचार कार्यरूप में परिणत नहीं हो सका। आनन्दराव धुलप और उनके लड़के जानराव को पेशवाओं की विजयदुर्ग की जलसेना का अध्यक्ष नियत किया गया था। परन्तु कच्छ और गुजरात की ओर से समुद्री डाकुओं को मार भगाने और व्यापार की रक्षा करने के अतिरिक्त और

कोई विशेष उपयोग इस जहाज़ी बेड़े का नहीं हुआ। सारांश यह है कि आंग्रों को नीचा दिखाने के उद्देश्य से पेशवाओं ने अंगरेज़ों को सहायता देकर स्वयं ही अपने उस जहाज़ी बेड़े का महत्व नष्ट कर दिया कि, जिसको उन्होंने आत्म-संरक्षा और शत्रुनाश के उद्देश्य से तैयार किया था।

क़िले।

अब क़िलों का कुछ विचार करना चाहिए। मराठा साम्राज्य के अत्यन्त उन्नति के समय में, सब जगह के मिल कर कोई दो सौ से अधिक क़िले मराठों के हाथ में थे, जो गोला बारूद और क़िलेबन्दी से सज्जित रहते थे। क़िलों की रक्षा करना राजा के मुख्य कर्तव्यों में से एक कर्तव्य था, जिसका अनुभव शिवाजी ने ही भली भांति किया। इसीलिए उन्होंने क़िलों की क़िलेबन्दी के लिए व्यवस्थित नियम बना रखे थे। क़िलेदारों को, उनके गुज़ारे के लिए, ज़मीन मिली हुई थी; और ब्राह्मण, मराठा, रामोशी, महार, मांग, इत्यादि सब जाति के ऊंचे-नीचे लोगों को नौकरी मिलती थी। रामोशी, महार, और मांग इत्यादि निम्न श्रेणी के लोग क़िले के बाहरी भागों की नौकरी करते थे। क़िलेबन्दी के अतिरिक्त पैदल की एक एक पलटन बन्दोबस्त के लिए प्रत्येक क़िले में रखी जाती थी। आगे चल कर पोर्चगीज़ गोलन्दाज नौकर रखे गए थे। कुछ स्थानों पर बुरजों पर तोपें भी सुसज्जित करके रखी गई थीं। कर्नाटक में कानड़ी लोग क़िलेबन्दी में थे, उन पर अंकुश रखने के लिए गार्दी लोग नौकर रखे गए थे। इन वेतनभोक्ता लोगों को नौकर रखने में प्राचीन पद्धति की अवहेलना की गई थी। क़िलेबन्दी के पुराने सिपाहियों को भी व्यर्थ ही के लिए,

सरकारी काम के निमित्त, क़िले से हटाकर दूसरी जगह ले जाते थे। अन्तिम दो तीन पेशवाओं के शासनकाल में सरकारी तोशेखाने और सरकारी जेल के लिए ही क़िलों का उपयोग होने लगा था। राजकीय क़ैदियों को, विशेष बन्दोबस्त के विचार से, क़िलों में ही रखने लगे थे; और अपराधी स्त्री-पुरुषों को काम करने के लिए भी क़िलों में ही ले जाते थे। उस शताब्दी के उत्तरार्ध में क़िलों का ऐसा ही उपयोग किया जाता था। इस विषय में कई जगह उल्लेख पाया जाता है। लड़ाई की पद्धति में सुधार होने के बाद जब तोपों का उपयोग प्रारम्भ हुआ, तब उन तोपों की मार के आगे, आत्मसंरक्षा के लिए, इन पहाड़ी क़िलों का कोई उपयोग ही न होने लगा। अनेक स्थानों में क़िलों की ओर कुछ ध्यान ही न रखा गया; और उनकी मरम्मत भी बन्द कर दी गई। अंगरेज़ों के साथ जो युद्ध हुए, उनमें इन क़िलों ने कुछ भी मदद नहीं दी। किन्तु इसके विरुद्ध वे बिना लड़े ही शत्रुओं के हाथ में चले गये। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फ़ौज, जहाज़ी बेड़ा और क़िलों की ओर मराठों का विशेष ध्यान नहीं रहा; अतएव उनकी दुर्दशा हो गई; और सरकार की सेवा करने में वे बिलकुल निरुपयोगी सिद्ध हुए।

सरकारी क़र्ज़।

राजनीतिज्ञता के उपर्युक्त मुख्य मुख्य विषयों में, और स्वयं राजनीति में भी, चूंकि पेशवाओं और उनके प्रधानमण्डल ने प्राचीन पद्धति की अवहेलना की; अतएव राज्य की अवनति के चिन्ह स्पष्ट दिखाई देने लगे। तथापि जमाबन्दी और न्याय के विभागों में पेशवा सरकार ने उत्तम व्यवस्था रखी थी। इस

विषय में सब प्रकार की बारीक से बारीक जानकारी उन्होंने बड़े परिश्रम से प्राप्त की थी; और जो काम उनको इस विषय में करना था, उसको उन्होंने निस्सन्देह बहुत उत्तम तरह से करने का विचार किया था। पेशवा सरकार के खजाने की दशा और अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की जमाखर्च-प्रणाली में ज़मीन आसमान का अन्तर था। बड़े बाजीराव के समान श्रेष्ठ सरदारों को भी, उत्तर भारत की भारी भारी चढ़ाइयों के लिए आवश्यक द्रव्य के जमा करने में कितनी कठिनाइयां उठानी पड़ती थीं, सो इतिहास में प्रसिद्ध है। बालाजी बाजीराव उर्फ नाना साहब पेशवा ने सन् १७४०–१७६० तक डेढ़ करोड़ का कर्ज लिया था। इस बात का उल्लेख पेशवाओं के रोजनामचे में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त १२ से १८ फीसदी तक व्याज देना पड़ता था, सो अलग ही है। इतना भार पेशवाओं के खजाने पर था। पानीपत की घनघोर लड़ाई के कारण खजाने को जो धक्का लगा, उसके कारण फिर बड़े माधवराव पेशवा के शासनकाल में भी उसकी दशा नहीं सुधरी। माधवराव के अन्तकाल में चौबीस लाख रुपया देना बाकी था। इतना बड़ा भारी कर्ज का बोझा सिर पर रहने के कारण बेचारे माधवराव सदैव चिन्तित रहते थे। इस लिए मृत्यु के समय जब पेशवा को प्रधान-मंडल की ओर से यह आश्वासन मिल गया कि, सरकार का देना बहुत जल्द चुकता कर दिया जायगा, तब उन्होंने शान्ति के साथ प्राण छोड़े। नाना फड़नवीस की उत्तम व्यवस्था के कारण खजाने की दशा बहुत कुछ सुधर गई। कर्ज एक दो लाख से अधिक नहीं रहा। अन्तिम पेशवा बाजीराव के समय में कर्ज बिलकुल

नहीं रहा था; बल्कि बहुत सा द्रव्य उन्होंने निजी तौर पर भी एकत्र कर लिया था।

आमदनी की व्यवस्था ।

बालाजी बाजीराव, माधवराव और नाना फड़नवीस के समय वसूली की व्यवस्था बहुत उत्तम थी। आमदनी के नवीन नवीन साधन उत्पन्न करके पुराने साधनों में भी सुधार किया गया था। पेशवाओं के समय की लगान मालगुज़ारी की पद्धति से यह जान पड़ता है कि, उस समय प्रजा पर ज़ुल्म न करते हुए सरकार के सब अधिकारों को बजाने में विशेष सावधानी रखी जाती थी। आवश्यकता के समय प्रजा को तीन से लेकर सात वर्ष तक की मुद्दतबन्दी पर ज़मीन जोतने-बोने को दी जाती थी; और उसका लगान क्रमशः बढ़ाया जाता था। किसानों के असमर्थ होने के कारण जो लगान शेष रह जाता था, उसको वसूल करने का कभी प्रयत्न न किया जाता था; किन्तु इसके विरुद्ध प्रजा की दशा की ओर, और सम्पूर्ण राष्ट्रोन्नति की ओर, ध्यान रख कर ऐसा लगान ठहरा लिया था कि, जो वास्तव में वसूल हो सकता था; और इस कारण आमदनी में घाटा भी रहता था। युद्ध और दुर्भिक्ष के मौक़ों पर यदि यह विश्वास हो जाता कि, लोगों की शिकायतें उचित हैं, तो उपर्युक्त निश्चित लगान में भी बहुत कुछ छूट मिल जाती थी। जहां जहां बँटाई अथवा खड़ी फ़सल लेने की पद्धति थी, वहां वहां बयाना और रैयत का अन्य खर्चा छोड़ कर, आधी अथवा एक-तृतीयांश फसल रैयत के लिए रख कर शेष सरकार स्वयं लेती थी। शिवाजी के शासनकाल में यह परिमाण तीन-पंचमांश और दो-पंच-

मांश था, अर्थात् तीन-पंचमांश प्रजा के लिए रखकर दो-पंचमांश सरकार लेती थी। दक्षिणी कोकन में प्रति बीघे दस मन धान लेने की चाल थी। कितने ही परगनों में जब प्रजा ने यह शिकायत की कि उक्त लगान का परिमाण अधिक है, तब दस मन से घटा कर नौ और आठ मन तक कर दिया गया। जब नकद द्रव्य की आवश्यकता होती, अथवा नकद द्रव्य देना रियाया के लिए सुभीते की बात होती, तब फसल देखकर, पैदावार के अनुसार, यथोचित लगान लिया ज़ाता था। उत्तरी कोकन में ब्राह्मणों से प्रायः बहुत कम परिमाण में लगान लिया जाता था। नीरा तालुके की जमाबन्दी करते समय, ज़मीन की उत्पादनशक्ति देख कर, प्रति बीघे तीन से पांच रुपये तक लगान लगाया गया था; और जहां ईख की खेती होती थी, वहां पांच रुपया बीघा लगान लगता था। नासिक परगने और पिंपलगांव बसवन्त में नकद लेने की चाल थी। वहां काली जमीन पर प्रति बीघे दो रुपया, मामूली जमीन पर एक रुपया और फलफलहारी की जमीन पर पांच छै रुपया प्रति बीघा लगान लिया जाता था। अन्तिम बाजीराव के समय में पूना जिले के खेड़ तालुके में प्रति बीघा तीन रुपया लगान लिया ज़ाता था। सितारे जिले का कुछ भाग चूंकि उपजाऊ नहीं था, इस कारण जमीन की शक्ति देख कर प्रति बीघे पौने दो से छै मन तक लगान लिया जाता था। गुजरात में लगान की दर अधिक थी।

छूट।

यदि किसी साल फसलें अच्छी न होतीं, तो छूट भी काफी परिमाण में दी जाती थी। पहले की भूमिकर-प्रणाली

में खड़ी फसल पर ही लगान लिया जाता था । अतएव दुर्भिक्ष के साल में आमदनी में बहुत घाटा रहता था । इसके अतिरिक्त बार बार छूट देने के लिए भी बहुत बड़ी बड़ी रकमें घाटे में डाली जाती थीं ।

'कमाविसी' पद्धति ।

दूसरे बाजीराव के शसानकाल के आरम्भ में आमदनी की व्यवस्था कमाविसी पद्धति पर चल रही थी । अर्थात् कमाविसदार अथवा तहसीलदार, उसकी अन्य खरला और आवश्यक सब खर्च सरकार से मिलता था, अर्थात् साधारणतया सब आमदनी में से दस फी सदी उक्त खर्च होता था । कारकुन लोगों की संख्या, उनका वेतन, तथा लश्कर, अर्थात् घुड़सवार और सिपाहियों का वेतन अनुमानपत्रक में निश्चित रहता था । अतएव प्रजा पर जुल्म करने की नौबत उस कमाविसदार या तहसीलदार को नहीं आने पाती थी । यदि वह जमाबन्दी भी करता, तो उसे सूबा अथवा सरसूबा नामक श्रेष्ठ अधिकारी की स्वीकारी लेनी पड़ती थी । इसके सिवाय ज़मीदार, पटेल, कुलकर्नी या पटवारी और प्रजा के लोग यदि उक्त अधिकारी के बर्ताव के विषय में किसी प्रकार की शिकायत करते थे, तो फिर उसे नौकरी से अलग कर देते थे, अथवा यथोचित दण्ड देते थे । इन कमाविसदारों की नियुक्ति सिर्फ़ एक वर्ष के लिए हुआ करती थी । परन्तु यदि उसका बर्ताव अच्छा दिखाई देता था, तो आगे के लिए भी उसी की नियुक्ति हो सकती थी ।

इजारे या ठेके की पद्धति ।

दूसरे बाजीराव के शासनकाल में कमाविसी पद्धति को

धता बताया गया; और उसकी जगह इजारे की पद्धति, अर्थात् ठेके से आमदनी वसूल करने की प्रणाली जारी हुई। इजारेदार अपना निज का खर्च सरकारी लगान और खुद पेशवा का कुछ निजी देना निकाल कर, फिर जो कुछ बच जाता, वह इजारे में लेता था। ये निजी रकमें सरकारी हिसाब में न रखते हुए पेशवा के निजी विभाग में जमा होती थीं। अन्तिम पेशवा की चलाई हुई इस अनुचित प्रणाली को यदि हम छोड़ दें, तो देशी राजाओं अथवा अँगरेज़ी राज्य की सब उत्तम व्यवस्थाओं के समान ही मराठा-साम्राज्य की कमाविसी पद्धति भी बहुत उत्तम रीति से चलती रही। उपर्युक्त पद्धति के दोषों से प्रजा की अपेक्षा सरकार का ही विशेष नुकसान हुआ; क्योंकि भारत के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा महाराष्ट्र में, उपजाऊपन को देखते हुए, प्रजा विशेष सुखी थी। इस बात को ग्रांट डफ साहब ने भी स्वीकार किया है।

वसूली की सुविधा के लिए विभाग।

महाराष्ट्र १२ सूबों में विभाजित किया गया था। प्रत्येक सूबे में परगने अथवा वर्तमान ताल्लुकों का समावेश था। सूबों के नामः—(१) खानदेश में बागलान सहित ३० परगने थे (२) नीमाड़ प्रांत, हँडिया ५ (३) पूना और अहमदनगर ७८ (४) कोकन १५ (५) गंगथड़ी नासिकप्रदेश मिलाकर २५ (६) गुजरात प्रांत २० (७) कर्नाटक (८) सितारा, वाई और कराड़ मिलाकर (९ और १०) सायर सूबे पूना और जुन्नर, कल्याण और भिवंडी (११ और १२) दो जलसेना-सूबे, विजयदुर्ग और बसई।

ग्राम-व्यवस्था।

ग्राम-व्यवस्था में सरकार बिलकुल हस्तक्षेप नहीं करती थी। लगान वसूली के लिए पटेल और कुलकर्णी (पटवारी) ज़िम्मेदार थे, और उनके वेतन सरकार की ओर से नहीं, वरन् बाहर ही बाहर मिला करते थे। एक वर्ष का लगान बकाया रहने पर साहूकार लोग किसानों से जमानत लेते थे। इसके अतिरिक्त किसानों पर भी ज़िम्मेदारी रहती थी। सारांश, देश में गांवों के लोग सुखी थे।

वेतन और भाव।

नौकर-चाकर और सिपाहियों का वेतन ३ रुपया से लगाकर ७ रुपया तक होता था; और श्रेष्ठ कारीगरों को, आज-कल के बड़े बड़े नगरों को छोड़कर, अन्य स्थानों की तरह, छै आने से लगाकर दस आने तक रोज़ाना मिलता था। मुहर्रिरों का वेतन प्रायः ७ रु० से १० रु० मासिक तक होता था। अनाज़ के भाव में वर्तमान काल की अपेक्षा बड़ा चढ़ाव-उतार होता था। परन्तु ज्वार, बाजरा आदि मोटे अनाज का भाव अब की अपेक्षा कई गुना सस्ता था। अब से कुछ वर्ष पहले वेतन की जो शरह थी, उससे आधा उस समय दिया जाता था; परन्तु अनाज कई गुना सस्ता था। इसी से लोग धनसंपन्न थे। भीषण अकाल पड़ने का कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता। हां, छोटे मोटे, सो भी कहीं कहीं, अकाल सुनाई देते थे। शत्रु के प्रांतों पर चढ़ाइयां करने के कारण मराठों को बहुत सा द्रव्य मिलता था। इसी से मराठाशाही में लाभदायक रोजगार-धंधे बहुत से हुआ करते थे, इससे ज़मीन-सम्बन्धी अथवा अन्य करों का लोगों को बोझा नहीं मालूम होता था।

हां, युद्धों के कारण उजड़े हुए सीमांत प्रांतों के लिए तो वे अवश्य ही असह्य मालूम देते थे। अन्याय भी बहुत कम दिखाई पड़ता था; क्योंकि उसके टालने के साधन लोगों के ही हाथों में थे। अन्यायी या तो निकाल दिये जाते या कुछ काल के लिए उस प्रांत से निर्वासित कर दिये जाते थे।

तगाई।

बीज-बिजवारे वा बैल वगैरह खरीदने के लिये कई प्रकार की रियायतें थीं; और आग से घर जल जाने पर तथा कृषि की उन्नति के लिए भी पेशवाशाही में तगाई देने की प्रथा थी।

लोकोपयोगी कार्य।

पानी के बांध, चढ़ाव के मार्ग, नदी के तट पर घाट बनाना, तालाब खुदवाना, बस्ती में पानी की सुविधा, आदि कार्यों की ओर भी सरकार स्वयं ही ध्यान देती थी। किसानों को एक दो साल की मुद्दत पर अग्रिम रुपया दिया जाता था। परन्तु तहसीलदार बड़े दयालु होते थे; और उनकी दी हुई रकमें वसूल हो जाने तक वे निकाले नहीं जाते थे। अथवा उनके बाद के कर्मचारी को पहले की दी हुई रकम वसूल करके देनी पड़ती थी। आवश्यकता होने पर सरकार प्रायः तहसीलदारों से कुछ पेशगी रुपया लिया करती थी; और जब तक वह अदा न हो जाता, तहसीलदार को १२) सैकड़ा ब्याज भी दिया जाता था।

बेगार।

पहले के पेशवाओं के समय बेगार की प्रथा प्रचलित थी, जिससे ग़रीब लोगों और कारीगरों-मज़दूरों को बड़े कष्ट होते

थे। पहले माधवराव ने इस प्रथा को मिटाने का प्रयत्न भी किया और बेगार के बदले, दोनों पक्षों की सुविधा के लिये, नकद रकम ली जाने लगी। अन्य स्वामियों की अपेक्षा सरकार ही अधिक दया दिखलाती थी। रोजनामचों के उक्त विषय से संबंध रखनेवाले भाग को, देखने से पाठकों को पेशवा के सुराज का अनुभव हो सकता है। गत ९० वर्षों में इस विषय में कोई सुधार नहीं किये गये; और इस प्रथा का स्वरूप जैसा का तैसा मौजूद है।

अन्य कर।

लगान वसूली के अतिरिक्त छोटे-बड़े और भी कई कर लिये जाते थे। मकानों का कर, दूकानों का कर, इत्यादि के अतिरिक्त कोकन के रेवदंडा और अन्य बंदरों पर आयात तमाखू पर भी महसूल लिया जाता था।

नमक।

नमक के कारखाने नागोठना और बसई के पास भायंदर स्थान पर थे; और उनसे कुछ आय भी होती थी। नागोठने में प्रतिखंडी (२० मन) दो रुपये दस आना और भायंदर में एक रुपया छै आना कर वसूल किया जाता था। परन्तु आजकल अंग्रेज़ी सरकार उससे बीस गुने से लगाकर इकतीस गुने तक अधिक कर वसूल करती है।

आबकारी।

बसई और कोकन के किनारे पर के प्रदेश में, जो पहले पुर्तगालवालों के अधिकार में था, शराब के लिये जो ताड़ इत्यादि के वृक्ष रखे जाते थे, उन पर कर लगाया जाता था।

उस प्रदेश में भंडारी और अन्य जाति के लोग रहते थे। उन्होंने इस बात की शिकायत की थी कि, किसी न किसी प्रकार की शराब पिये बिना हम कोई व्योपार-धंधा नहीं कर सकते। इसी से उक्त प्रकार का कर वसूल किया जाता था। कोकन के अतिरिक्त अन्य प्रांतों में आबकारी मुहकमे की आय बिलकुल ही अदा नहीं होती थी। केवल पूना के पास कुछ स्थानों से थोड़ा सा कर वसूल होता था। इसी प्रकार घी, चरागाह, हुंडियां, भैंसों को पालने, कहीं कहीं पर मछलियां पकड़ने आदि के लिए कर वसूल किये जाते थे।

नौकाएँ।

प्रायः सरकार की ओर से ही नौकाएँ रखी जाती थीं, अतएव मुसाफिरों से भाड़ा नहीं लिया जाता था। परन्तु जहां अधिक मुसाफिर आते जाते थे, वहां पर ठीके से आमदनी वसूल की जाती थी। वास्तव में यह विचार कुछ क्षुद्र ठेकेदारों की महत्वाकांक्षा से उत्पन्न हुआ था। इससे कोई विशेष आय नहीं हुई। दूसरे बाजीराव के समय जब इजारे की प्रथा शुरू हुई, तब ठीके के बुरे परिणाम दिखाई देने लगे; और लोगों को अनेक कष्ट तथा अन्याय सहने पड़े। पहले की तहसीलदारी प्रथा में अन्याय की ओर प्रवृत्ति ही दिखाई नहीं देती थी; और यदि कहीं थी भी, तो उसका असर क्षणिक ही होता था। इसके अतिरिक्त सूबा और सर-सूबा (वर्तमान काल के कमिश्नर) का तहसीलदारों पर बड़ा दबाव भी रहता था। कोकन, कर्नाटक, खानदेश, गुजरात और बागलान, इन पांच प्रांतों में पांच सरसूबे रहते थे। सच तो यह है कि, पेशवाओं का राज्य बहुत ही दयापूर्ण माना जाता था।

चुंगी ।

पेशवाशाही में जलसेना-विभाग के हाथ में सिपुर्द किये हुए वसूली मामलों के अतिरिक्त समुद्रीय कर के लिये अलग विभाग नहीं था। परन्तु आयात और निर्गत माल पर जो चुंगी लगती थी, उससे बड़ी आय होती थी। कल्यान, भिवंडी, पूना और जुन्नर के चुंगी विभाग अच्छी स्थिति में थे। बालाजी बाजीराव के समय कल्यान और भिवंडी सूबा की आय ५५००० थी। यह आय बढ़ कर उस सदी के अंत में तीन लाख हो गई थी। खास पूना शहर का चुंगी विभाग ठीके पर था; और उससे आय भी पर्याप्त थी। शहर के आयात और निर्गत माल पर तथा कपड़ा, तंबाकू आदि नगर-निवासियों की आवश्यकता की वस्तुओं पर काफ़ी चुंगी वसूल होती थी। इसके अतिरिक्त अहमदाबाद में दिल्लीपतियों के बनाये हुए पूर्व-नियमानुसार ही चुंगी ली जाती थी। सारांश यह है कि चुंगी-विभाग की सुव्यवस्था से पूना का ब्राह्मण प्रधान-मंडल तथा उनके प्रांत और परगनों के अधिकारियों की चतुरता और संगठन-शक्ति भली भांति प्रकट होती है। इस प्रकार की आमदनी के साधन बढ़ा कर उनको व्यवस्थित रूप देने की पेशवा की प्रणाली में किसी प्रकार का दोष नहीं दिखाई देता।

न्याय-विभाग ।

ज़मीन का लगान, कर-विभाग और चुंगी की अपेक्षा यदि दीवानी और फ़ौजदारी क़ायदों का ठीक अमल होता हो, तो कहा जा सकता है कि स्वराज्य में सरकार अपने कर्तव्य का अच्छी तरह से पालन करके यश प्राप्त करती है। वरन् यह कहने में भी अत्युक्ति नहीं होगी कि, क़ायदों का योग्य पालन

करना ही स्वराज्य की कार्यक्षमता और यशः-प्राप्ति की योग्य कसौटी है। पेशवा इस कसौटी पर पूरी तरह से उत्तम जँचे, अतः उनका अभिनंदन करना आवश्यक है। पहले के राजमंडल के अन्य बड़े बड़े अधिकारियों के स्थान पेशवा ने पूर्ववत् क़ायम नहीं रखे, पर न्यायाधीश का स्थान तो उन्होंने पूना ही में क़ायम किया; और सभी दीवानी-फ़ौजदारी मामलों का निपटारा करने के पूरे अधिकार उन्हीं को सौंपे—फिर चाहे वे मामले अपील के स्वरूप में हों, प्राथमिक हों या छोटे प्रांतीय कर्मचारियों की ओर से मंजूरी के लिए ही क्यों न आये हों, परन्तु अन्तिम फैसला करने का अधिकार उस न्यायाधीश को ही दिया गया था।

रामशास्त्री।

सन् १७६० ई० के लगभग न्यायाधीश का पद क़ायम किया गया। उस स्थान पर रामशास्त्री जैसे नरश्रेष्ठ का स्थापित किया जाना मराठों के अहोभाग्य की बात थी, जिससे पेशवा की कीर्ति चारों ओर फैली। रामशास्त्री के अनंतर भी वह पद क़ायम रखा गया था, और उन्हीं को तरह विद्वान् धर्मशास्त्रज्ञ की आयोजना उस स्थान पर की जाती थी। दूसरे बाजीराव पेशवा के समय के अंतिम विद्वान् न्यायपति बालकृष्ण शास्त्री टोणकेकर थे। न्यायविभाग का यह हाल था कि प्रत्येक तहसीलदार को दीवानी और फ़ौजदारी के अधिकार सौंपे गये थे। किसी को पीटने की चेष्टा, चोरी या इसी प्रकार के अन्य छोटे बड़े अपराधों के जुर्माने से, तथा मुक़दमा लड़नेवालों के—चाहे वे जीतें या हारें—जमा किये हुए (कोर्ट फीस, स्टांप आदि के) दामों की जो आय होती

थी, उसी में से तहसीलदार का वेतन निकल आता था। परन्तु उसे उसका हिसाब भी पेश करना पड़ता था। यदि निश्चित रक़म की अपेक्षा अधिक आय होती तो वह सरकारी ख़ज़ाने में जमा की जाती थी। पूना में स्थापित किये हुए मुख्य न्यायालय के अतिरिक्त तहसीलदार और सूबेदार की सहायता के लिये अन्य छोटे छोटे प्रांतीय न्यायालय भी खोले गये थे, जिनको आवश्यकतानुसार अधिकार दिये गये थे।

दीवानी मामले।

दीवानी और फ़ौजदारी मामलों में विजेता पक्ष से वसूल की हुई रक़म को 'हरकी' और प्रतिपक्षी की रक़म को 'गुनहगारी' कहते थे। दीवानी मामलों में २५ रु० सैकड़ा फ़ीस लगती थी; और किसी अपराध पर जुरमाने की रक़म 'हरकी' से दूनी होती थी।

रुपयों के दावे।

क़र्ज़दार से रुपया वसूल करने के लिये, इस समय की तरह, उस समय बहुत ही कम दावे होते थे। उस समय धनियों को अपनी रक़म वसूली के विषय के बहुत कुछ अधिकार प्राप्त थे। हां, यदि कोई क़र्ज़दार बलवान् होता, तो ऋण देनेवाले को सरकार से सहायता लेनी पड़ती थी। क़र्ज़ा चुक जाने पर २५ रु० सैकड़ा सरकारी सहायता के लिए काटकर बाक़ी रक़म साहूकार को मिलती थी।

जायदादी दावे।

दीवानी के झगड़े मुख्यतः जायदाद, दत्तक, हिस्सा-बांट, हिस्सेदारी, सीमा, आदि विषयों के हुआ करते थे। इनके

फ़ैसले उभय पक्षों के प्रमाणों पर अवलंबित रहते थे। गवाही देने वाले पहले सौगन्द खाते और गंगाजी का स्मरण करके गवाही देते थे। पहले दोनों पक्षों के इजहार लेकर फिर गवाहों के बयान लिये जाते थे। अनंतर दोनों पक्षों को स्वयं अपने गांव, या पड़ोसी गावों के पंच पसंद करने की आज्ञा दी जाती थी: और पंचों की राय के अनुसार ही तहसीलदार अमल कराते थे। कभी कभी यदि साक्षियों में गड़बड़ होता; और प्रमाण न मिलता, तो 'दिव्य' (अग्निपरीक्षा) किया जाता था; और उसके अनुसार फ़ैसले होते थे। पेशवाओं के रोज़-नामचों में ७६ दावों का उल्लेख है, जिनमें ६ दावों में 'दिव्य' किया गया था। उनमें से दो दावों में दोनों पक्षों ने अग्नि का दिव्य करने की परस्पर चुनौती दी थी। शेष झगड़ों में नदियों में नहाने पर ही सच्ची बातें मालूम हो गईं। वकील करने का झगड़ा भी नहीं था; क्योंकि मुख्य सरकार तक अपील करने का अवसर मिलता ही था। पंचों का फ़ैसला सरकार को पसंद न पड़ने पर नये पंच क़ायम करने का वादी प्रतिवादियों को हुक्म दिया जाता था; और उनसे दुबारा राय मांगी जाती थी। बड़े बड़े दीवानी मामलों में जो फ़ैसले होते थे वे मुख्य सरकार के यहां भेजे जाते थे; और वहां से मंजूरी प्राप्त करने पर ही उनका अमल किया जाता था।

फौजदारी मामले।

फौजदारी मामलों में यह कहना आवश्यक है कि, छत्रपति राजाओं और पहले दो तीन पेशवाओं के समय में कानून के अनुसार केवल दास्य, कारागृह, जमीन-जायदाद की जप्ती, जुर्माना या कभी कभी देशनिकाले की सजा भी दी जाती थी।

मनुष्य-वध, राजद्रोह, डाका जैसे भयंकर अपराधों के लिए भी फांसी या शरीर के किसी अंग को काटने की सजा, जहां तक बनता था, टाली जाती थी। पहले माधवराव पेशवा के समय में तो कई मामलों में शरीर के किसी भाग को नष्ट करने की सज़ा दी जाती थी, और यद्यपि उनके समय में चारों ओर अशान्ति भी बहुत फैली हुई थी, तथापि प्राणदंड तो किसी को भी नहीं दिया गया। सवाई माधवराव के समय में, जब कि नाना फड़नवीस कामकाज देखते थे, तब पहले की सादी सज़ा के बदले, मनुष्यवध, राजद्रोह, डाके आदि का अपराध करनेवालों को अंग हीन करने, फांसी देने इत्यादि की चाल चल गई थी। केवल ब्राह्मण और स्त्रियों को ही प्राणदंड नहीं दिया जाता था। ब्राह्मणों के लिये किले का कारागार और बहिष्कार ही सब से कड़ी सजाएँ थीं। पहले माधवराव पेशवा के समय में पारस्परिक झगड़े होने लगे; और चारों ओर शांतिभंग हुई, इसीसे संभवतः नाना फड़नवीस ने लोगों को कठिन दंड देना आरंभ किया होगा। बाद में जब राघोबा-दादा ने गद्दी का झगड़ा उठाया, तब तो कड़ी सजाएँ और भी अधिक दी जाने लगीं।

मनुष्यवध अथवा खून।

महाराज शाहू के समय में ८ खूनी मामलों की तहक़ीक़ात की गई। उनमें से ५ को तो मुक्त किया गया; और ३ मनुष्यों का अपराध सिद्ध हो जाने के कारण उन्हें जुर्माने और कैद की सजाएँ दी गईं। बालाजी बाजीराव के शासनकाल के अंतिम दस वर्षों में बीस खूनी मामलों की तहकीकात की गई, जिनमें से तीन दोषमुक्त किये गये, आठ को भारी जुर्माना

किया गया; और शेष नौ की ज़मीन-जायदाद ज़ब्त की गई, जिसमें से मृत मनुष्यों के वारिसों को कुछ सहायता दी गई। पहले माधवराव के समय में सात खूनी मामलों में से तीन को जुर्माना, तीन की जायदाद-ज़ब्ती और एक, जो ब्राह्मण था, उसको किले में कैद रहना पड़ा। नाना फड़नवीस के समय में दो खूनी मामलों में कई अपराधी पाये गये, जिनको प्राण-दंड दिया गया; और दूसरे छै खूनी मामलों में कैद और जुर्माने की सज़ा तथा जायदाद की ज़ब्ती की गई। दूसरे बाजी-राव के समय में केवल दो खूनी मामलों का उल्लेख पाया जाता है। दोनों में अभियुक्त ब्राह्मण थे, अतएव उनको सिर्फ कैद की सज़ा दी गई।

राजद्रोह।

राजद्रोह के छोटे-मोटे अपराधों में जैसे राजा के विरुद्ध बग़ावत या शत्रुओं से मिल जाना, इत्यादि अपराधों के लिए क़िले में कैद या जायदाद ज़ब्त करने की सज़ाएँ दी जाती थीं। खास पेशवा के प्राणों को हानि पहुँचाने का प्रयत्न करनेवाले अथवा बग़ावत करके प्राणहानि करनेवाले राजद्रोहियों को हाथी के पैरों में बँधवा कर कुचलवाने का दंड दिया जाता था।

डाके।

बड़े माधवराव और नाना फड़नवीस छोटे छोटे खूनों की अपेक्षा हथियार-बंद डाकेज़नी करनेवालों को अधिक कड़ी सज़ा देते थे। सन् १७६१ ई० तक के फौजदारी मामलों में हाथ-पांव काटने की सज़ा नहीं दी गई थी, पर उसका अमल बड़े माधवराव पेशवा के समय से होना आरंभ हुआ। नाना

फड़नवीस के समय में तो डाकुओं को कैद करके फांसी देते थे। एक बार एक मामले में २० अपराधियों के सिर काटे गये, दूसरे में १३ अपराधियों के हाथ-पांव काटे गये और तीसरे में १८ अपराधियों में से किसी के हाथ, किसी के पांव और किसी के कान काटे गये। जान पड़ता है कि लोगों पर प्रभाव डालने के लिए ही ऐसी कड़ी सजाएँ दी जाती थीं। अनंतर डाके या डाकुओं से संबंध न रखने वाली बड़ी बड़ी चोरियों के लिए भी उक्त प्रकार की ही कड़ी सज़ाएँ दी जाने लगी थीं।

बड़ी चोरियाँ; व्यभिचार।

बड़ी चोरियां करने में जुर्माने या कारागृह की सज़ा दी जाती थी। व्यभिचार करनेवाली स्त्रियों को भी कठोर कारागार की सज़ा और पुरुषों को जुर्माने या कठोर कारागार की सजाएँ दी जाती थीं।

गुलाम।

कठिन कारावास पानेवाली स्त्रियों की कुलीनता प्रायः नष्ट होजाती थी। वे दासियां बनाई जाती थीं। उनकी संतान लावारिस समझी जाती थी; और वह माता के नाम से ही पहिचानी जाती थी। उन अपराधी स्त्रियों में व्यभिचार करके निर्वाह करनेवाली नीच जाति की स्त्रियां तथा दूसरे प्रांतों से वंजारों और लमाण जाति के लोगों के द्वारा भगाकर विक्री के लिये लाई हुई लावारिसी लड़कियों की संख्या ही बहुतायत से होती थी।

इस प्रकार भर्ती किये हुए दास-दासियों की एक स्वतंत्र ही टोली हुआ करती थी। गूँगे जानवरों की तरह उन दास

पुरुष-स्त्रियों को रुपये देकर एक स्वामी दूसरे से मोल ले सकता था। वृद्ध हो जाने पर वे लोग सेवा से मुक्त कर दिये जाते थे। खानगी दास, धर्म के नाम पर, मुक्त हो जाते थे। परन्तु दासों के साथ भी दया का बर्ताव किया जाता था। पेशवाओं की कोठी में, अथवा खानगी तौर पर, काम करने वाली अन्य स्त्रियों के साथ तो और भी अधिक दया दिखलाई जाती थी।

देवताओं का चढ़ाना।

वर्तमान कानूनों में दोष न गिने जाने वाला पेशवा के समय में एक और अपराध माना जाता था; और उसके लिये बड़ी कड़ी सज़ा दी जाती थी। यह अपराध है देवी-देवताओं या भूत-प्रेतों का किसी दूसरे पर चढ़ाना। मुख्यतः कोकन प्रांत में देवी-देवता के चढ़ाने के अपराध फौजदारी में गिने जाते थे। अंतिम दो पेशवाओं के समय तो देवी-देवता चढ़ा कर पड़ोसियों को कष्ट पहुँचाने वालों को दंड देने के लिये स्वतंत्र कर्मचारी नियत थे। भूत-प्रेतों को नष्ट करना प्रांतीय अधिकारियों का एक कर्तव्य ही माना जाता था।

बुरा कर्मः—गोवध।

झूठी गवाही देना और झूठे कागज़ात तैयार करने के अपराध में जुरमाना और असमर्थ ग़रीबों को कारागृह की सज़ा दी जाती थी। गोवध के लिये भी कठिन सज़ा थी।

अन्य अपराध।

जाली सिक्के बनाना और कम तौल के बांट व्यवहार में लाना इत्यादि अपराधों के लिए ज़ुर्माने और क़ैद की सज़ा नियत थी। धोखे से अथवा कपट से भगाना, स्त्रियों का

पातिव्रत भ्रष्ट करना, चोरी करना, और धोखा देना जैसे अपराधों के लिये जुर्माना किया जाता था। फौजदारी मामलों की जांच, अपराधियों को दंड, आदि का जो विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं, उससे ज्ञात हो जावेगा कि, नाना फड़नवीस के समय के अतिरिक्त अन्य समय में कानून का अमल क्रूरतापूर्ण नहीं था, वरन् दयापूर्ण और सौम्य था। वैसा न तो कभी पहले हुआ; और न भविष्य ही में होगा। अपराध के अनुसार ही सजाएँ दी जाती थीं। वे अधिक कठोर नहीं होती थीं। नाना फड़नवीस के समय के विषय में वैसा नहीं कहा जा सकता। राजनैतिक शत्रुओं के साथ भी नाना बड़ी कठोरता का व्यवहार करते थे।

राजनैतिक अपराधी।

सखाराम बापू किसी समय पेशवाशाही के आधार-स्तंभ थे। परन्तु जब वे राघोबादादा के पक्ष में होगये, तब वे किले में कैद किये गये। राघोबादादा के अन्य मित्र भी, जो सभी प्रभु जाति के थे, जैसे रघुनाथ हरि, बापूराव हरि आदि लोगों की भी वही दशा की गई। नाना के निकट-संबंधी मोरो बापूराव को भी क़िले में बंद किया था। दूसरे बाजीराव के समय नाना के साथ भी वही वर्ताव किया गया। पहले तीन पेशवाओं की अपेक्षा अंतिम पेशवा के समय में पारस्परिक झगड़े बहुत बढ़ गये थे। पेशवाओं के समय में राजनैतिक कैदियों के साथ दया का वर्ताव किया जाता था। परन्तु राघोबादादा के मित्रों और अनुयायियों तथा बनावटी सदाशिवराव भाऊ के अनुयायियों के साथ, यद्यपि वे सभी ब्राह्मण और उच्च कर्मचारी थे, वह दया नहीं दिखलाई गई।

पुलिस।

पेशवाशाही में तहसीलदारों के पास पैदल और घुड़सवारों की जो फौज़ रहा करती थी, वही पुलिस का काम करती थी। अपने अपने प्रांतों में शांति रखना उसी का काम था। छोटे गांवों में पटेल, पटवारी तथा महार और मांग, इत्यादि नीच जाति के चौकीदार अपने गांवों का प्रबंध करते; और बड़े बड़े गांवों तथा शहरों में प्रत्येक मनुष्य को बारी बारी से थाने पर पहरा देना पड़ता था।

शहर-कोतवाल।

रक्षक सेना और छोटे छोटे गांवों की पुलिस के अतिरिक्त अपराधों को ढूंढ़ निकालने और उनका फैसला करने के लिये कोतवाल कायम किये जाते थे। पूना, सितारा, पंढरपुर, नासिक, आदि बड़े बड़े नगरों में कोतवाल थे। घर के मालिकों से वसूल किये जानेवाले कर से ही भंगियों की तनख्वाह दी जाती थी। पूना, अहमदनगर, नासिक आदि जगहों में भंगी नौकर भी रखे जाते थे। पूना, अहमदनगर, जुन्नर और नासिक के कोतवालों को साधारण अपराधों की जांच के लिये, मजिस्ट्रेट के अधिकार भी थे। परन्तु ज़िलों में तहसीलदार ही मुकदमे करते थे।

टकसालें।

अन्य फुटकर विभागों के देखने से पता चलता है कि टकसालों को भी बड़ा महत्व प्राप्त था। रायल एशियाटिक सोसाइटी के एक अधिवेशन में पढ़े हुए निबन्ध में मराठों के समय की टकसालों के विषय में बहुत कुछ विवरण किया जा चुका है।

डाक-विभाग ।

पेशवा के समय में डाक-विभाग उन्नतावस्था पर नहीं था। जब उत्तरीय भारत अथवा कर्नाटक की ओर मराठी सेना जाती थी, तब ख़ासकर डाक के ही लिये कुछ लोग नौकर रखे जाते थे। वे मुख्यतः जासूस या हरकारे कहलाते थे। उन्हें थालनेर से दिल्ली पहुंचने के लिये १८ और महेश्वर से १३ दिन लगते थे। उन्हें रोज़ाना ३ रुपये मिलते थे। उसमें भी प्रवास के अनुसार न्यूनाधिक हो जाता था। जब पेशवाओं को कलकत्ते से पत्र-व्यवहार करना पड़ता, जब वे हरकारों को बुरहानपुर भेजते, वहां से वे काशीजी जाते; और वहां से अँग्रेज़ी डाक-विभाग के कर्मचारियों के द्वारा कलकत्ते भिजवाते थे। कर्नाटक की लड़ाई के समय जब पूना से बदामी तक डाक ले जाने की आवश्यकता जान पड़ी, तब युद्धकाल में रोज़ाना डाक लाने और ले जाने के लिये ६० मनुष्य नियत किये गये थे। इस प्रकार के सामयिक प्रबन्ध के अतिरिक्त निजी अथवा सरकारी डाक ले जाने के लिये कोई खास प्रबन्ध नहीं किया गया था। सेठ साहूकार लोग अपनी हुंडियां दूरी पर भेजने के लिये अपने ही नौकर रखते थे। वे निश्चित समय पर जाते थे। दूरी के सम्बन्धियों और मित्रों को पत्र भेजनेवाले भी उन्हीं के हाथ अपने पत्र भेज देते थे।

औषधियाँ।

बीमारों को सेंतमेत दवा देने के लिये प्रसिद्ध और कुशल वैद्य-हकीम रखे जाते थे। उन्हें उस कार्य के लिए गांव इनाम दिये जाते थे। उन्हें और भी कुछ सहायता मिल जाती थी। इसके अतिरिक्त कोई विशेष प्रबंध नहीं था। फौज में भी

हकीम नियत किये जाते थे। वे शस्त्रक्रिया के लिये विशेष रूप से प्रसिद्ध थे। नासिक में एक गुजराती वैद्य मुफ़्त दवा देता था। उस धार्मिक कार्य के लिये उसे जागीर भी दी गई थी। दवाखाना जारी रखने के लिए उसके पुत्र के पास भी वह जागीर बनी रही थी। एक और वैद्य वनस्पतियों से रामबाण और उत्तम दवाइयां बनाता था। अतः उसे एक वनस्पति-वाटिका दी गई थी; और औषधियां बनाने के लिये अन्य सहायता भी उसे दी जाती थी। सार्वजनिक दवाखाने जैसे महत्व के धार्मिक कार्यों के विषय में पेशवाओं ने जो कुछ व्यवस्था की थी, उसका और अधिक वृत्तान्त जानने के लिए अन्य कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं।

सैनिक नियुक्तियां।

युद्ध में हताहत होनेवाले सिपाहियों को बड़ी बड़ी इनामें देने में पेशवा बड़े उदार थे। मृतों के वारिसों को इनाम या उनके बाल-बच्चों के निर्वाह का पूरा पूरा प्रबंध कर दिया जाता था। प्रायः पिता की नौकरी पुत्र को भी मिलती थी। इस प्रकार की सैकड़ों बातें पेशवाओं के रोजनामचों से जानी जा सकती हैं। इस प्रकार की इनामें देते समय ब्राह्मण, मराठा अथवा हिन्दू और मुसलमान में बिलकुल भेद नहीं किया जाता था। घायलों और खेत रहनेवालों के साथ एक सा ही उदारता का बर्ताव किया जाता था।

धर्मादाय।

पेशवाओं ने धर्मादाय के लिए जो नियुक्तियां की थीं, उनमें भी उक्त प्रकार की ही उदारता देख पड़ती है। हां, यद्यपि ब्राह्मणों को उसका अधिकांश मिलता था, तथापि मुसलमानों

की दर्गाहों और मसज़िदों की व्यवस्था भी पूर्ववत् ही रखी थी। कोकन में क्रिश्चियनों के लिये भी नई व्यवस्थाएं कर दी थीं। धर्मादाय करने में जातिभेद अथवा धार्मिक पक्षपात बिलकुल नहीं था, यह पेशवाओं के लिये बड़े गौरव की बात है। मराठा-साम्राज्य में देवस्थानों और बँधे हुए वार्षिक दानों के लिए लाखों रुपया खर्च करने में पेशवा कर्ण जैसे दानशूर थे।

सम्मान-दर्शक पदवियां।

महाराजा शाहू के समय में लायक अफ़सरों को बड़े बड़े खिताबात दिये जाने का सिलसिला था। दिल्ली के बादशाहों की तरह हिन्दू सेनापतियों और सैनिक अफसरों पर लंबी-चौड़ी उपाधियों की वर्षा होती थी। पेशवाओं के समय में भी वह सिलसिला जारी था, परन्तु आगे चलकर फिर उसमें बहुत कमी कर दी गई। परन्तु फिर भी यदि किसी को सन्मान देने की आवश्यकता ज्ञात पड़ती थी, तो पालकी में बैठने अथवा छत्र धारण करने का अधिकार दे दिया जाता था; और इसके खर्चे के लिये सरकार की तरफ से ही कुछ वार्षिक द्रव्य नियत किया जाता था।

व्यापार को उत्तेजना।

पेशवाओं के रोज़नामचों में इसके विषय में लिखा है कि, बुंदेलखंड में पन्ना की हीरे की खानों में से हीरे निकालने के लिये पेशवाओं ने कई सहूलियतें दी थीं, अतएव उनसे अच्छी आय होने लगी थी। अरब के व्यापारियों को कोकन बंदर में बसाने के लिये भी प्रयत्न किया गया था। वे केवल घोड़ों का ही व्यापार करते थे। चुंगी इत्यादि के कर उनके लिए माफ़ थे। इसी प्रकार माल लानेवाले यूरोपीय व्यापारियों को भी

रियायतें दी गईं थीं। बड़े बड़े शहरों में बाहर के लोगों को घर बनाने या बाज़ार और मुहल्ले बसाने के लिए मुफ़्त ज़मीन, कर की माफी, इत्यादि के समान सुविधाएँ दी जाती थीं। क्योंकि इससे शहर की आबादी और व्यापार बढ़ता था। पूना में रेशम और कलाबत्तू के कारखाने क़ायम होने का कारण यही था कि, वहां बुरहानपुर, पैठन आदि नगरों के कारीगरों को घर बनाने के लिए मुफ़्त ज़मीन तथा अन्य प्रकार की सुविधाएं दी गईं थीं। बड़े बड़े शहरों में दूकानें खोलने के लिए पेशगी रुपया भी दिया जाता था।

पूना नगर की उन्नति।

पूना, पेशवाओं की राजधानी होने के कारण, अधिक प्रसिद्ध था। इसलिए बाहर से अनेक प्रकार के लोग वहां आकर बसे थे। सन् १७४८ के पहिले तो वह एक छोटा सा क़सबा था; किन्तु उक्त साल के बाद ही वह १६ मुहल्लों और बाज़ारों का विशाल नगर बन गया। वे मुहल्ले और बाज़ार पेशवाओं के आश्रय से ही बसे थे; और बड़े बड़े सरदारों तथा स्वयं पेशवा के घराने के पुरुषों के नाम पर ही उनमें से अधिकांश का नामकरण हुआ था।

विद्या को उत्तेजना।

शास्त्री, पंडित और वेदज्ञों को दी जानेवाली दक्षिणा का हम उल्लेख कर ही चुके हैं। पहले उसे सेनापति खंडेराव दाभाड़े ने शुरू किया था। उनके अनन्तर, दाभाड़े की आय कम हो जाने से, दक्षिणा देने का कार्य पेशवाओं ने उठाया। बढ़ते बढ़ते नाना फड़नवीस के समय में तो वह रक़म ६०००० तक पहुँच गई थी। अन्तिम बाजीराव भी धर्मादाय में बहुत

सा द्रव्य उड़ाते थे; और उसमें से कुछ रक़म दक्षिणा में भी खर्च होती ही थी, जिससे उनके उड़ाऊपन से भी कुछ लाभ अवश्य ही होता था। बंगाल, उत्तरीय भारत, तथा दक्षिण के तैलंग, द्रविड़, कर्नाटक आदि भारत के सब प्रान्तों से संस्कृतज्ञ पंडितों के झुंड के झुंड पूना में आते रहते थे; और उनकी विद्वत्ता के अनुसार द्रव्य इत्यादि से उनका आदर-सत्कार किया जाता था। इसके सिवाय उनको प्रशंसापत्र भी दिये जाते थे। इन पत्रों का उन्हें बड़ा उपयोग होता था। अंतिम बाजीराव के समय में ४ लाख रुपये धर्मादाय में खर्च होते थे। सर्व साधारण ब्राह्मणों के लिए "रमणा भोजन," अर्थात् दान-दक्षिणा के साथ सत्कार किया जाता था; पर जो ब्राह्मण रमणे में जाने में हलकापन समझते थे, उन्हें महल में न्योता देकर, योग्यता के अनुसार, दुशाले, द्रव्य वा अन्य वस्तुओं से उनका सम्मान किया जाता था। विद्वानों के दान-दक्षिणा में लाख-सवालाख तक द्रव्य खर्च हो जाता था। शेष ३ लाख रमणे में खर्च होता था। इस प्रकार की उदारता के कारण पूना पांडित्य का केन्द्र गिना जाने लगा, और पेशवाशाही के नष्ट हो जाने पर भी मि० एलफिन्स्टन और उनके अनंतर के अंगरेज़ी अधिकारियों ने उसी दक्षिणा फंड में से पहले की पाठशाला जब तक क़ायम रखी, तब तक पूना की प्रसिद्धि पूर्ववत् ही बनी रही। परन्तु फिर समय के बदल जाने से दक्षिणाफंड का रुपया अन्य कार्यों में खर्च होने लगा, जिससे सभी जाति के विद्यार्थियों में संस्कृत-साहित्य और शास्त्रों की अभिरुचि उत्पन्न हुई। संस्कृत पंडितों के अतिरिक्त अन्य लोगों को उत्तेजना नहीं मिली;

पर पुराण कहने वाले कीर्तनियों का सम्मान वेदज्ञों और शास्त्रियों की ही तरह होने लगा। प्रसिद्ध मराठी कवियों के काव्यों का अच्छा विवेचन करके उनका अर्थ खोल कर समझाने का कौशल उक्त पैराणिकों और कीर्तनकारों में भली भांति पाया जाता था। बड़े बड़े सरदार भी मातृभाषा को आश्रय देते थे। प्रसिद्ध कवि मोरोपंत बारामती के जोशी नामक सरदार के आश्रय में थे। अन्य जाति के लोगों को पोवाड़े और लावनियां अच्छी लगती थीं, इससे शृङ्गारिक गद्य-पद्य का प्रचार हुआ। दूसरे बाजीराव ने कुछ भाट और गोंधलियों (चारणों) को भी आश्रय दिया था। इस प्रकार अनेक कार्यों में सरकार से सहायता मिलती थी। इतिहासप्रेमियों को इस विवेचन से यह विषय अवश्य ही विचारणीय मालूम होगा; और वे प्राचीन सामग्री ढूंढ कर इस ज्ञान की वृद्धि अवश्य ही करेंगे।

विचित्र सामाजिक विचार।

पेशवाओं के रोजनामचों में अत्यंत मनोरंजक और उपयोगी बात यह है कि मराठा-सरकार ने सामाजिक विषयों में भी परिवर्तन करने का प्रयत्न किया था। यह नहीं कहा जा सकता कि, जिन ब्राह्मण नेताओं पर राष्ट्र का कारोबार सौंपा गया था, उनका तत्कालीन प्रचलित बातों पर अविश्वास होगा। अपने शत्रु का नाश करने के लिए अनेक लोग भूत-प्रेत आदि अदृष्ट शक्तियों की सहायता लेने का प्रयत्न करते हैं। यह खयाल उस समय भी प्रचलित था। अतः उसके लिए कानून बनाये गये थे, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। शकुन, प्रश्न और भविष्यद्वाणी पर तो सभी जातियों का पूर्ण विश्वास था। एक बार एक विद्यार्थी ने अपनी जीभ काट

डाली थी; और एक गुजराती भक्त ने अपने इष्टदेव को अपना शिर अर्पण कर दिया था। जब वहां के अफ़सरों ने ये घटनाएँ सरकार पर प्रकट कीं, तब ऐसे अपवित्र बलिदानों से आने वाले संकटों को टालने और उन देवालयों को पवित्र करने के लिये बहुत सा द्रव्य व्यय किया गया। कल्यान प्रांत में एक बार भूकंप आया। उस समय लोगों को यह भय हुआ कि अब हमारा देश रसातल को चला जायगा। घाट पर के एक क़िले का कुछ हिस्सा टूट गया। इसका कारण नज़र लगाना बतलाया गया। कुछ वर्षों के अनंतर एक और क़िला रहने के लिये अयोग्य ठहराया गया; क्योंकि वहां पर एक प्रकार का रोग, जिसे कोई भी नहीं पहिचान सकते थे, फैल गया था, अतः भूतों के कोप का शमन करने के लिये चारों ओर पूजन-अर्चन, होम-हवन आदि किये गये। एक जागीरदार ने सरकार से प्रार्थना की कि मेरे जागीर के गांवों में भूतों का उपद्रव है, अतः उसके बदले में दूसरा गांव दिया जावे। छोटे छोटे अवर्षणों के कारण प्रजा दुखित थी, अतः देवालयों को हमेशा पानी में रखने अथवा ब्राह्मण और भिक्षुओं को देवालयों पर पानी की अभिषेक-धारा छोड़ने के लिए बहुत सा द्रव्य खर्च किया जाता था। त्र्यंबकेश्वर की एक देवी को भैंसा बलि दिया जाता था। कुछ दिनों तक तो वह प्रथा बन्द कर दी गई थी; पर ब्राह्मण पुजारियों के विशेष अनुरोध से वह फिर से शुरू की गई। नासिक के सप्तश्रृङ्गी पर्वत पर एक व्याघ्र मनुष्यों को मारता था। इसलिए वहां के तहसीलदार को हुक्म दिया गया कि, देवी का कौल या हुक्म होने पर उस क्रूर पशु को मारा जावे।

पंढरपुर की श्रीविट्ठल-मूर्ति पर एक बार एक छिपकली गिर पड़ी। अतएव उस दोष का प्रक्षालन करने के निमित्त शांति-कर्म कराने के लिये वहां के पुजारियों को हुक्म दिया गया। कसाइयों को गौएँ न बेचने का भी हुक्म था; और उसकी अवज्ञा करने पर कुछ मुसलमानों को सज़ाएँ भी दी गई थी। एक ब्राह्मण को, गाय की पूंछ काटने पर सज़ा हुई थी। इस विचार से कि, प्राचीन यज्ञ-यागादि और कई दिनों तक, अर्थात् सप्ताहों तक, किये गये कर्मों से राष्ट्र की उन्नति होती है, उक्त कर्म फिर से शुरू किये गये। बड़े बड़े यज्ञ होने लगे, जिनके लिए द्रव्य, धान्य आदि सामग्री सरकार से ही दी जाती थी। इसके लिये सरकारी खज़ाने से हज़ारों रुपये खर्च किये गये। पूना और उसके आसपास देवालयों की खूब वृद्धि हुई। सन् १८१०-११ ई० में लगभग २५० देवालयों का खर्च पेशवा की ओर से किये जाने का उल्लेख रोज़नामचों में पाया जाता है। वे देवालय भिन्न भिन्न देवताओं के थे। निम्नलिखित अंकों से यह बात मालूम हो जायगी कि, किस देवता के अधिक पूजक थे। रामजी के देवालय १८ थे; और उनके सेवक हनुमान के ५२, विष्णु के ६, विट्ठल के ३४, और बालाजी के १२ थे। इस प्रकार राम और कृष्ण के अवतारों के कुल ७३ देवालय थे। ब्राह्मणों के पूज्यदेव महादेवजी के ४० और गणेशजी के ३६ देवालय थे। देवालयों की संख्या से शिव और विष्णु के भक्तों की संख्या बराबर ही जान पड़ती है। मूल देवताओं के ३२ और देवी के १० देवालय थे। मुसलमानों की दस दर्गाहें ऐसी थीं जिनको हिन्दू भी पूज्य मानते थे। दत्तात्रेय का केवल एक ही देवालय था।

लोगों की श्रद्धा और उनके विचारों के विषय में हमने जो कुछ लिखा है, उसे अधिक महत्व देने की आवश्यकता नहीं: क्योंकि सारे भारतवर्ष की तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार ही महाराष्ट्र की स्थिति थी। इसीलिये किसी भी मनुष्य या मनुष्य-समूह को, उस समय की प्रचलित परिपाटी के अनुसार, वर्ताव रखने के कारण दोषी ठहराना ठीक नहीं है। पेशवा ने तो, उदार तत्वों का प्रचार करके, हिंदू-समाज के प्राचीन कठोर नियमों के बदले, सुविधा-जनक और सुधारपूर्ण नियम प्रचलित किये थे, जिसके लिए उनका अभिनंदन करना आवश्यक है। उस समय चारों ओर युद्ध और चढ़ाइयों की गड़बड़ी मची थी; और शांति का नाम-निशान भी नहीं था। ऐसी दशा में बेवश होकर, अन्याय या किसी के धोखे में आकर अनेक लोग परंपरागत स्वधर्म से भी च्युत हो गये थे। परन्तु संतोष का विषय है कि उन पतित ब्राह्मणों वा मराठों को, उनकी जातियों में पुनः सम्मिलित करने की केवल चेष्टा ही नहीं की गई, वरन् सभी जातियों के अनुमोदन, तथा पेशवा की आज्ञा से, वे फिर से पवित्र किये गये। पुताजी बंडकर नामक मराठा ज़बरन मुसलमान बनाया गया था। एक वर्ष के वाद उसने दिल्ली जाने वाली, पहले पेशवा बालाजी की, सेना में भर्ती होकर महाराज शाहू से शुद्धि के लिए प्रार्थना की; और उसकी इच्छा पूर्ण की गई। एक कोकणस्थ ब्राह्मण को हैदरअली ने, राजनैतिक क़ैदी के नाते, कारागार में रखा था; और उसके विषय में आशंका की गई थी कि, आत्मरक्षा के लिए वह मुसलमान बन गया है। अन्त में सभी ब्राह्मणों और सरकार की सम्मति से वह शुद्ध

किया गया। एक ब्राह्मण धोखे से गुसाईं बनाया गया; और दूसरा रोगनष्ट होने की आशा से गुसाईं बना, परन्तु अन्त में पश्चात्ताप होने पर ब्राह्मणों और अधिकारियों की सम्मति से वे शुद्ध किये गये। इनमें से एक घटना अहमदनगर ज़िले के पुणतांवे ग्राम में हुई थी; और दूसरी निजामशाही के पैठन ग्राम में। शराब तैयार करने और बेचने की भी मनाई थी। परन्तु पुर्तगालवालों से जीते हुए बसई, चौल आदि ज़िलों में भंडारी, मछुवाहे आदि लोगों की अत्यावश्यकता के कारण उन्हें आज्ञा दे दी गई थी। उक्त जातियों के अतिरिक्त, अन्य ब्राह्मणादि ज्ञातियां यदि इस विषय की आज्ञा भंग करती थीं तो उन्हें सज़ा दी जाती थी। नासिक के ब्राह्मणों पर मद्य-पान का दोषारोपण किया गया था। और सरकारी तहक़ी-कात होने पर भी जब उन्होंने अपना अपराध स्वीकार न किया, तो वे क़िले में क़ैद किये गये। खेड़ तालुक़े के एक धनवान मराठा पटेल का शराबीपन छुड़ाने के लिए बहुत प्रयत्न किया गया; परन्तु जब वह किसी प्रकार न माना, तब अन्त में उसकी आधी इनामी ज़मीन जप्त कर ली गई।

कोकन और बसई प्रदेश में कहीं कहीं लड़की बेचने की चाल थी। इसको बन्द करने के लिए कठोर आज्ञाएँ दी गई थीं। दलाल और लड़की का पिता जितना द्रव्य लेता, उतना ही जुर्माना उनसे वसूल किया जाता था। इस प्रथा को नष्ट करने के लिए ९ वर्ष से अधिक उम्र वाली कन्या को अवि-वाहित न रखने का हुक्म था। सारांश यह है कि हिंदूधर्म-शास्त्र में भी सरकार हस्तक्षेप कर सकती थी। कई बार दबाव के कारण जब छोटी छोटी कन्याओं के विवाह होगये

तब शास्त्रानुसार सारे विधि नहीं हो पाये। अतएव पेशवा ने उन्हें यथाशास्त्र न मानकर दूसरे वर ढूँढ़ने का हुक्म दिया। एक विवाह के बिलकुल निश्चित हो जाने पर जब वर के महाव्याधि से पीड़ित होने की बात मालूम हुई, तब सरकार ने उसके बदले दूसरा वर ढूँढ़ने का हुक्म दिया। पानीपत के युद्ध में सदाशिवराव भाऊ लापता हो गये, अतः सर्व-सम्मति से उनकी पत्नी ने आजन्म सौभाग्य-चिन्हों का त्याग नहीं किया। इक्कीस वर्ष के बाद सन् १७८३ ई० में पति-पत्नी की एक साथ ही उत्तर-क्रिया की गई। एक कनौजिया बनावटी सदाशिवराव बनकर आया था; अतः उसे कारागार में रखा। परन्तु वहां से भागकर उसने कोकन में बलवा मचा दिया। अंत में सन् १७७६ ई० में वह हाथी के पैरों के नीचे कुचलवाया गया। नारायणराव पेशवा की स्त्री को भी केश-वपन न करने की आज्ञा दे दी गई थी; और परशुराम-पंत पटवर्धन की हतभागिनी कन्या का पुनर्विवाह करने के लिये भी सभी की आज्ञा प्राप्त कर ली गई थी। परन्तु अंत में अपने ही कुटुंबियों के इच्छानुसार उन्होंने वह विचार स्थगित कर दिया था।

भिन्न भिन्न जातियों के मामलों में पेशवा समान ही न्याय करते थे। उसके लिये ब्राह्मणों के ही हित पर विचार नहीं किया जाता था। पूना के सुनार और ब्राह्मणों में एक बार झगड़ा हुआ। सुनार स्वजाति के ही पुरोहित चाहते थे; और ब्राह्मण उसे अपना पैतृक अधिकार मानते थे। परन्तु अंत में सरकार ने सुनारों के ही अनुकूल फैसला किया। एक बार कुम्हार और बढ़ई लोगों में भी झगड़ा हुआ। कुम्हार अपने वर-वधू

की सवारी घोड़े पर निकालना चाहते थे; पर बढ़इयों के बाधा उपस्थित करने पर भी सरकार ने कुम्हारों के ही अनुकूल हुक्म दिया। कसेरों को जलूस निकालने का स्वत्व न होने की लिंगाइत लोगों ने शिकायत की। पर उनकी कुछ नहीं चली। नारायणराव पेशवा के समय में प्रभुओं को वेदाधिकार न होने की बात उठी, पर दूसरे बाजीराव के समय में उस मामले को फिर से उठाकर प्रभुओं के अनुकूल ही निपटारा किया गया। कोंकन के एक कलवार ने एक गुजराती कलाल को अपनी लड़की व्याही, अतः वह बहिष्कृत किया गया। परन्तु सरकार ने उसका बहिष्कार नहीं होने दिया। उपजातियों में परस्पर-विवाह करने का उदाहरण तो स्वयं पेशवा नानासाहब ने ही सन् १७६० ई० में, वखरे नामक देशस्थ की कन्या से विवाह करके, उपस्थित किया था। हमने ऊपर जो कुछ लिखा है, उसका उद्देश यह नहीं है कि, पेशवा को इस विषय में कहां तक सफलता मिली। किन्तु उससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि, सामाजिक और धार्मिक बातों में भी शासक लोग हस्तक्षेप करते थे; और नवीन सुविधा के नियम बनाकर सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों के दुष्परिणामों को टालने की चेष्टा करते थे। ऐसे मामलों में हस्तक्षेप करने का अपना अधिकार उन्होंने एक हुक्मनामे में उद्घोषित भी किया है। यदि सूबा-अधिकारी किसी को बहिष्कृत करवाता, तो मुख्य सरकार की आज्ञा पाये बिना वह फिर से शुद्ध नहीं किया जा सकता था। समान अपराध होने पर भी अन्य लोगों की अपेक्षा ब्राह्मणों को कम दण्ड दिया जाता था, तथा प्रायश्चित्त और जुर्माने की युक्ति उनके लिये निकाली

थी। जातिभ्रष्टों को शुद्ध करना, उपजातियों में परस्पर-विवाह, कन्या-विक्रय की मनाई, मद्यपान का निषेध, कपट या दबाव से विवाह निश्चित होने, अथवा विवाह कर्म यथाविधि न होने, पर दूसरा विवाह करने, जाति-कृत्यों और उनके स्वेच्छाचारों पर अधिकार रखने तथा विभिन्न जातियों के साथ समान व्यवहार रखने, इत्यादि बातों से स्पष्ट है कि, देशी राजा सामाजिक सुधार के विषय में उदासीन नहीं थे। इस विवेचन से न्यायमूर्ति तैलंग-लिखित पूर्वोक्त निबंध के विचारों की भी पुष्टि होती है। उनका कथन है कि मराठा-साम्राज्य में, अर्थात् हिन्दुओं के राज्य में, वर्तमान लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक, मानसिक धैर्य और उदारता थी। सच है, केवल १०० वर्ष पूर्व हमारे पूर्वजों में प्रगति के प्रतिकूल जो प्रवृत्ति और मानसिक दुर्बलता थी, उसकी अपेक्षा यदि इस समय हम लोगों में अधिक दोष दिखलाई दें, तो यही कहना चाहिए कि अंग्रेज़ी शिक्षा से हमें जो कुछ लाभ हुए, वे हमारे लिए कभी सन्तोषकारक नहीं। वे तो एक प्रकार से हमारे लिये बहुत ही महँगे ठहरे। अस्तु। पेशवाओं के रोजनामचों का यह संक्षिप्त विवेचन अब यहीं समाप्त करना उचित होगा।

उत्तमोत्तम हिंदू राजाओं और मुसलमान बादशाहों की राज्यव्यवस्था से पेशवाओं की राज्यव्यवस्था किसी प्रकार कम न थी। हां, महात्मा शिवाजी अथवा अकबर की श्रेष्ठ राजनीतिज्ञता का पेशवाशाही में अभाव था; पेशवाई के नाशकारक बीज पेशवाशाही में ही पड़े थे। यह सच है कि महाराज शिवाजी की उदार राजनीति का जब पेशवा ने त्याग किया; और अंग्रेज़ों के समान बलवान शत्रु के साथ मुक़ाबला

करने का अवसर आया, तभी पेशवाशाही के नष्ट होने का रंगढंग देख पड़ा। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि पेशवा ने बड़ी चतुरता और योग्यता से राज्य किया। हाँ, पारस्परिक झगड़ों के कारण जब सार्वजनिक शांति के नष्ट होने का समय आया था, उसकी बात अलग है। जाति की बड़ाई और ब्राह्मणों के मिथ्या अभिमान की गुप्त बातें जब प्रकट होने लगीं; और उच्च सुधार-विषयक ज्ञान प्राप्त करने, नवीन कलाकौशल और शास्त्र सीखने, तथा उदार सामाजिक नीति और धार्मिक विचार ग्रहण करने की ओर जब लोगों ने प्रमाद दिखलाया, तभी, बाहरी शक्ति का प्रभाव होने के पहले ही, हमारा सारा काम बिगड़ चुका। बस, इतिहास-जिज्ञासुओं को यही पाठ पढ़ाने के लिए यह निबन्ध लिखा गया है। सो हमारे सब ग्रन्थकर्त्ता और नीतिधर्म-निपुण लोग यदि उपर्युक्त पाठ को ध्यान में रख कर इससे कुछ लाभ उठा सकेंगे, तो आज के इस निबन्ध का परिश्रम सफल समझा जायगा।

तरुण-भारत-ग्रन्थावली ।

भारतीय नवयुवकों में नवजीवन का संचार करने के लिए इस ग्रन्थावली में इतिहास, जीवनचरित और सदाचार के ग्रन्थ निकलते हैं। जो महाशय आठ आने प्रवेश फीस दाखिल करके इसके स्थायी ग्राहक बन जाते हैं, उनको सब पुस्तकें पौन मूल्य पर मिलती रहती हैं। अभी तक निम्नलिखित ग्रन्थ निकल चुके हैं :—

(१) अपना सुधार	॥=)	(६) रोम का इतिहास	१)
(२) फ्रांस की राज्यक्रांति	१=)	(७) इटली की स्वाधीनता	॥)
(३) एब्राहम लिंकन	॥=)	(८) दिल्ली अथवा इन्द्रप्रस्थ	॥)
(४) महादेवगोविन्दरानाडे	॥।)	(९) सदाचार और नीति	१)
(५) ग्रीस का इतिहास	१=)	(१०) मराठों का उत्कर्ष	१॥)

व्यवस्थापक

तरुण-भारत-ग्रन्थावली,

दारागञ्ज, प्रयाग ।